॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला ८६

संस्कृत साहित्य का इतिहास

(वैदिक साहित्य की रूपरेखा सहित)

संशोधित एवं परिवर्धित चतुर्थ संस्करण

लेखकः

प्रो० हंसराज अग्रवाल

एम० ए०, पी० ई० एस० (i)

[R. D. E. (Retd); फुल्लर ऐग्ज़िबिशिनर ऐंड गोल्ड मैडलिस्ट; पंजाब विश्वविद्यालय के हिन्दी संस्कृत बोर्डों एवं ओरियंटल फ़ैकल्टी के भूत-पूर्व सदस्य, तथा गवर्नमेंट कालेज लुध्याना के भूत-पूर्व संस्कृत अध्यक्ष]

पूर्व शब्द लेखक :

स्व० डा० लक्ष्मण स्वरूप

एम० ए०, डी० फिल० (ऑक्सफोर्ड)

(आफिसर डी एकैडेमी (फ्रांस), पंजाब विश्वविद्यालय लाहौर के संस्कृत प्रोफेसर)

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

१९६५

THE
VIDYABHAWAN RASTRABHASHA GRANTHAMALA
86

A SHORT HISTORY OF
SANSKRIT LITERATURE

(in Hindi)

(Incorporating an outline of Vedic Literature)

Fourth Revised and Enlarged Edition

BY

H. R. AGGARWAL, M. A., P. E. S. (i), R. D. E. (Retd),

Fuller Exhibitioner and Gold Medalist, Formerly Member, Board of Studies in Hindi and Sanskrit, and Added Member, Oriental Faculty, Punjab University; Ex-Professor of Sanskrit, Govt. College Ludhiana; Hon. Director Arogya Niketan Chandigarh (Pb.)

With a Foreword By

(The Late) **DR. LAKSHMAN SARUP,** M. A.,
D. Phil. (Oxon),

Officer D' Academic (France), Professor of Sanskrit, University of the Punjab, Lahore.
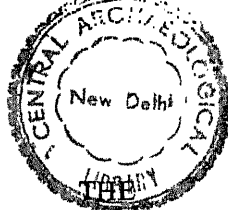
THE
CHOWKHAMBA VIDYA BHAWAN
VARANASI-1
1965

पूर्व-शब्द (प्रथम-संस्करण)

संस्कृत-साहित्य विशाल और अनेकांगी है। जितने काल तक इसके साहित्य का निर्माण होता रहा है उतने काल तक जगत् में किसी अन्य साहित्य का नहीं। मौलिक मूल्य मे यह किसी से दूसरे नम्बर पर नहीं है। इतिहास को लेकर ही संस्कृत-साहित्य त्रुटि-पूर्ण समझा जाता है। राजनीतिक इतिहास के सम्बन्ध से तो यह तथाकथित त्रुटि बिल्कुल भी सिद्ध नहीं होती। राजतरंगिणी के ख्यातनामा लेखक कल्हण ने लिखा है कि मैंने राजाओं का इतिहास लिखने के लिए अपने से पहले के ग्यारह इतिहास-ग्रन्थ देखे हैं और मैंने राजकीय लेख-संग्रहालयों में अनेक ऐसे इतिहास-ग्रन्थ देखे हैं जिन्हें कीड़ों ने खा डाला है, अतः अपाठ्य होने के कारण वे पूर्णतया उपयोग में नहीं लाए जा सके हैं। कल्हण के इस कथन से बिल्कुल स्पष्ट है कि संस्कृत में इतिहास-ग्रन्थ लिखे जाते थे।

परन्तु यदि साहित्य के इतिहास को लेकर देखें तो कहना पड़ेग कि कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिलता है जिससे यह दिखाया जा सके कि कभी किसी भी भारतीय भाषा में संस्कृत का इतिहास लिखा गया था। यह कला आधुनिक उपज है और हमारे देश में इसका प्रचार करनेवाले यूरोप निवासी भारत-भाषा-शास्त्री हैं। संस्कृत-साहित्य के इतिहास अधिकतर यूरोपीय और अमेरिकन विद्वानों ने ही लिखे हैं। परन्तु यह बात तो नितान्त स्पष्ट है कि विदेशी लोग चाहे कितने बहुज्ञ हों, वे सभ्यता, संस्कृति, दर्शन, कला और जीवन-दृष्टि की दृष्टि से अत्यन्त भिन्न जाति के साहित्य की अन्तरात्मा की पूर्ण अभिप्रशंसा करने या गहरी थाह लेने में असमर्थ ही रहेंगे। किसी जाति का साहित्य उसकी रूढ़ि-परम्परा की, परिवेष्टनों की, भौगोलिक स्थितियों की, जलवायु से सम्बद्ध

अवस्थाओं की और राजनैतिक संस्थाओं की संयुक्त प्रसूति होता है। अत: किसी जाति के साहित्य की ठीक-ठीक व्याख्या करना किसी भी विदेशी के लिए दुस्साध्य कार्य है। यह समय है कि स्वयं भारतीय अपने साहित्य के इतिहास-ग्रन्थ लिखते और उसके (अर्थात् साहित्य के) अन्दर छुपी हुई आत्मा के स्वरूप का दर्शन स्वयं कराते। यही एक कारण है कि मैं श्रीयुत हंसराज अग्रवाल एम० ए० द्वारा लिखित संस्कृत साहित्य के इस इतिहास का स्वागत करता हूँ।

श्रीयुत अग्रवाल एक यशस्वी विद्वान् हैं। उसने फुल्लर छात्रवृत्ति प्राप्त की थी और उसे विश्वविद्यालय के स्वर्ण-पदकों से सम्मानित होने का सौभाग्य प्राप्त है। यह आते हुए समय की शुभ सूचना है कि भारतीयों ने अपने साहित्य के इतिहास में अभिरुचि दिखलानी प्रारम्भ कर दी है। मेरा विचार है कि संस्कृत-साहित्य का इतिहास लिखनेवाले बहुत थोड़े भारतीय हैं, और पञ्जाब में तो श्रीयुत अग्रवाल से पहला कोई है ही नहीं। इन दिनों बी० ए० के छात्रों की आवश्यकता पूर्ण करने वाला और संस्कृत-साहित्य के अध्ययन में उनकी सहायता करने वाला कोई ग्रन्थ नहीं है, क्योंकि संस्कृत के उपलभ्यमान इतिहास-ग्रन्थों में से अधिक ग्रन्थ उनकी योग्यता से बाहर के हैं। यह ग्रन्थ बी० ए० श्रेणी के ही छात्रों की आवश्यकता को पूर्ण करने के विशेष प्रयोजन से लिखा गया है। लेखक ने बड़ा परिश्रम करके यह इतिहास लिखा है और मुझे विश्वास है कि यह जिनके लिये लिखा गया है उनकी आवश्यकताओं को बड़ी अच्छी तरह पूर्ण करेगा।

मार्च १९३९

लक्ष्मण स्वरूप

(एम० ए०, डी० फिल०, आफ़िसर डी ऐकेडेमी)

प्रथम संस्करण का आमुख

संस्कृत-साहित्य का महत्त्व बहुत बड़ा है (देखो पृष्ठ १–५)। हिन्दी भाषा का संस्कृत से घनिष्ठ सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध है जो कि एक लड़की का अपनी माता से होता है (देखो पृष्ठ ११–१५)। संस्कृत-साहित्य से सम्बद्ध इतिहास का हिन्दी में अभाव कुछ खलता-सा था, अतः मैं यह प्रयास संस्कृत-साहित्य से अनुराग रखने वाले हिन्दी प्रेमियों की सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूँ।

इस ग्रन्थ को लिखते समय मेरा विशेष लक्ष्य इस विषय को संस्कृत साहित्य के प्रेमियों के लिए अधिक सुगम और अधिक आकर्षक बनाने की ओर रहा है। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए मैंने विशेषतया विश्लेषण शैली का सहरा लिया है। उदाहरणार्थ, मैंने यह अधिक अच्छा समझा है कि कविकुलगुरु कालिदास का वर्णन महाकाव्य प्रणेता के या नाटककार के या संगीत-काव्य कर्ता के रूप में तीन भिन्न-भिन्न स्थानों पर न देकर एक ही स्थान पर दे दिया जाए। जहाँ-जहाँ सम्भव हुआ है आधुनिक से आधुनिक अनुसन्धानों के फलों का समावेश कर दिया है। पाश्चात्य दृष्टि-कोण का अन्धा-धुन्ध अनुकरण न करके मैंने पूर्वीय दृष्टिकोण का भी पूरा-पूरा ध्यान रक्खा है।

मैं उन भिन्न-भिन्न प्रामाणिक लेखकों का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ—जिनमें से कुछ उल्लेखनीय ये हैं—मैक्डॉनल, कीथ, विंटरनिट्ज़, पीटरसन, टामस, हौपकिन्स, रैप्सन, पार्जिटर और ऐजरटन—जिनकी कृतियों को मैंने इस ग्रन्थ के लिखते समय बार-बार देखा है और पाद-टिप्पणियों

में प्रमाणतया जिनका उल्लेख किया है। अपने पूज्य प्राध्यापक डा० लक्ष्मणस्वरूप एम० ए०, डी० फ़िल., आफ़िसर डि एकैडेमि (फ्रांस), संस्कृत प्रोफ़ैसर पञ्जाब यूनिवर्सिटी लाहौर को मैं विशेषतः धन्यवाद देता हूँ, जिनके चरण कमलों में बैठकर मैने वह बहुत कुछ सीखा जो इस ग्रन्थ में भरा हुआ है। इस ग्रन्थ के लिए पूर्व शब्द लिखने में उन्होंने जो कष्ट सहन किया है, मैं उसके लिए भी उनका बड़ा ऋणी हूँ।

इस पुस्तक के लिखने में मुझे अपने परम मित्र श्रीयुत श्रुतिकान्त शर्मा शास्त्री, एम० ए० साहित्याचार्य से विशेष सहायता मिली है। उनके अनथक प्रयत्नों के बिना इस पुस्तक को हिन्दी जगत् के सम्मुख इतनी जल्दी प्रस्तुत करना असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य होता, अतः मैं उनका भी बड़ा आभारी हूँ।

आशा है कि हिन्दी जगत् इस अभाव-पूर्ति का समुचित आदर करेगा।

विद्वानों का सेवक

हंसराज अग्रवाल

तृतीय संस्करण के सम्बन्ध में

जहां मुझे अपने सुविज्ञ तथा कृपालु पाठकों का विशेष रूप से धन्यवाद करना है कि उन्हों ने इस पुस्तक का आशातीत आदर कर के मुझे अत्यन्त अनुगृहीत किया है, वहां मुझे इस बात की भी क्षमा मांगनी है कि प्रेस की अनेक कठिनाइयों तथा मुद्रण की नाना असुविधाओं के कारण प्रकाशक प्रयत्न करने पर भी उनकी प्रेम भरी मांग को पूरा करने में असमर्थ रहे। इस संस्करण को भी छपते-छपते तेरह मास से ऊपर लग गए। तो भी मैं राजहंस प्रेस के संचालकों का धन्यवाद करता हूँ कि वे इस पुस्तक को इस सुन्दर रूप से निकालने में समर्थ हुए। मैं आशा रखता हूँ कि भविष्य में पाठकों की इतनी लम्बी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ेगी।

भास के ग्रन्थों में पृष्ठ ७२ पर उसके १४ वें नाटक 'यज्ञफलम्' का वर्णन किया गया है। विशेष खोज से पता चला है कि वास्तव में यह एक कृत्रिमता (forgery) है और कि यह नाटक महाकवि भास का नहीं है।

कौटल्य के अर्थशास्त्र का संस्कृत साहित्य में विशेष महत्त्व है। पहले संस्करण में उसे परिशिष्ट में रखा गया था। इस संस्करण में उसपर मूल पुस्तक में अलग अध्याय दिया गया है। स्थान-स्थान पर और भी आवश्यक सुधार किए गए हैं। आशा है कि विद्वान् पाठक इसे उपयोगी पायेंगे।

विनीत:

हंसराज अग्रवाल
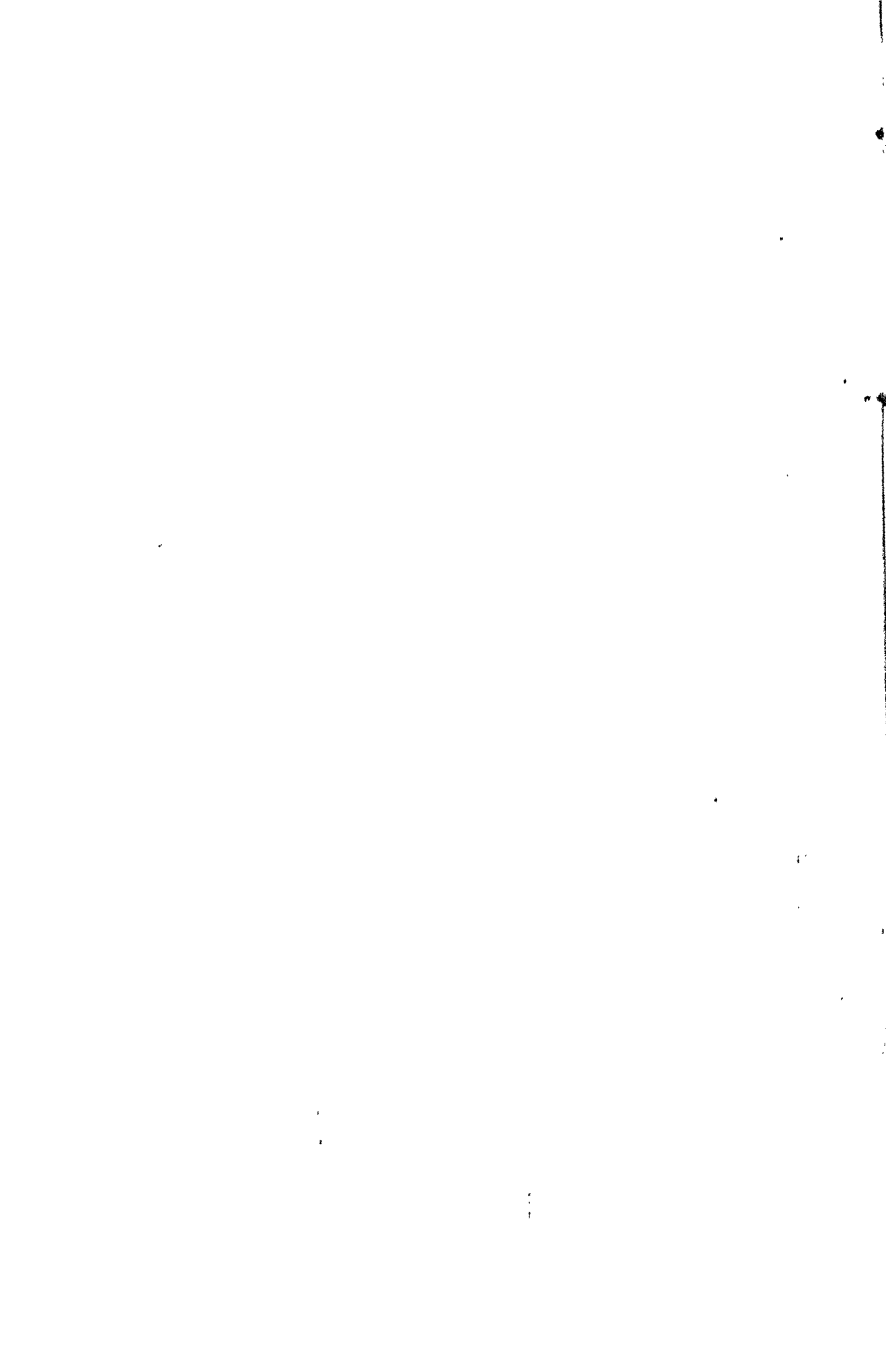
प्रस्तुत चतुर्थ संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक का विषय प्रमुखतया संस्कृत साहित्य के गौरव-पूर्ण इतिहास का संक्षिप्त वर्णन है, परन्तु भारतीय साहित्य के इस महत्त्व-पूर्ण अंग की निहित आत्मा को भली प्रकार से समझने के लिये 'वैदिक साहित्य की रूपरेखा' का ज्ञान भी उसी प्रकार वाञ्छनीय है जिस प्रकार मैदान में बहती हुई गंगा का वृत्त जानने के लिये गंगोत्री और पर्वतों में बहनेवाली गंग-धारा का, क्योंकि नदी की भांति साहित्य का भी निरन्तर प्रवाह होता है। अनेक भारतीय विश्वविद्यालयों ने इसे स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में स्वीकृत किया है; अतः मैंने इस भाग को परिशिष्ट के रूप में दे देना उचित समझा है ताकि संस्कृत साहित्य के वे अध्येता जिन्हें अधिक प्राचीन वैदिक साहित्य की कुछ जिज्ञासा है इससे लाभान्वित हो सकें।

संस्कृत के श्रद्धालु भक्त संस्कृत को 'अमर भाषा' मानने में गर्व अनुभव कहते हैं। संस्कृत का प्रमुख विषय 'आत्मा की अनुभूति' है, अतः आत्मा के नित्य व अमर होने के कारण यह भाषा भी 'अमर' हो गई है। प्रत्येक मानव के हृदय में एक स्वाभाविक जिज्ञासा हुआ करती है, "मैं कौन हूँ ? कहां से आया हूँ ? मेरे जीवन का वास्तविक उद्देश्य क्या है ? सच्चे सुख की प्राप्ति कैसी हो सकती है ? इत्यादि"। मानव-मन की यह जिज्ञासा सनातन है। संस्कृत साहित्य इस जिज्ञासा की पूर्ति उत्तम प्रकार से करता है, अतः इस के परमोच्च आदर्शों की सुरक्षा और व्याप्ति के लिए इसका सजीव शक्ति और प्रभाव-शाली, यान के रूप में बने रहना निश्चित है। 'ज्ञान क्या है ?' इसका उत्तर देते हुए भगवान् कृष्ण ने गीता में बताया—(अध्याय ७, श्लोक ७ से ११ में)

अमानित्वम् अदम्भित्वम्, अहिंसा क्षान्तिर् आर्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं, स्थैर्यम् आत्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्, अनहंकार एव च।
जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥
असक्तिर् अनभिष्वङ्गः, पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वम्, इष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिर् अव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वम्, अरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज् ज्ञानमिति प्रोक्तम्, अज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

अर्थात्—श्रेष्ठता के अभिमान का न होना, दिखावटी आचरण का अभाव, प्राणीमात्र को किसी प्रकार भी न सताना, क्षमा भाव, मन व वाणी की सरलता, श्रद्धा-भक्ति सहित गुरु की सेवा, बाहर-भीतर की शुद्धि,[1] अन्तःकरण की दृढ़ता, मन, बुद्धि और आत्मा का संयम (श्लोक ७), इहलोक और परलोक के सभी भोगों में आसक्ति का न होना, अहंकार (मैं कर्ता हूँ इस भावना) का अभाव; जन्म, मृत्य, वृद्धावस्था एवं रोग आदि में दुःख दोषों का बारम्बार चिन्तन करना (श्लोक ८), पुत्र, स्त्री और घर आदि सम्पत्ति में आसक्ति का अभाव

---

१. द्रव्य, आहार, आचरण और शरीर आदि की शुद्धि बाहर की शुद्धि मानी जाती है; मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार (अर्थात् अन्तःकरण) की निष्कपटता और स्वच्छता भीतर की शुद्धि कहलाती है। सत्यता-पूर्वक शुद्ध व्यवहार से द्रव्य की शुद्धि होती है, शुद्ध कमाई के अन्न से आहार की; यथायोग्य बर्ताव से आचरण की और जल से शरीर की शुद्धि होती है। राग, द्वेष और कपट के परित्याग से तथा सत्य, अहिंसा और तप के सेवन से आन्तरिक शुद्धि होती है। आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए दोनों प्रकार का शौच नितान्त आवश्यक है।

और ममता का त्याग; प्रिय-अप्रिय की प्राप्ति में सदा ही चित्त का एक-रस रहना (श्लोक ९); प्रभु में एकीभाव से स्थिति रूप ध्यान योग के द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति;[1] एकान्त और शुद्ध देश में रहने का स्वभाव; सकाम मनुष्यों के समाज में आसक्ति का अभाव; (श्लोक १०), तथा अध्यात्म-ज्ञान[2] में नित्य स्थिति और तत्त्वज्ञान के अर्थरूप परमात्मा को सर्वत्र देखना, यह सब तो ज्ञान है और जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान है। (श्लोक ११)।

'अध्यात्म-ज्ञान-नित्यत्व' वास्तव में संस्कृत साहित्य के परमोच्च आदर्शों का बीजतत्त्व है। प्रसिद्ध जर्मन तत्त्ववेत्ता शोपनहार ने कहा था, "उपनिषद् मेरे जीवन काल की ढाढ़स हैं। मृत्यु के पश्चात् भी ये मेरे ढाढ़स रहेंगे"। किसी ने यह उचित ही कहा है, "संस्कृत के मर जाने पर कौन जीवित रह सकता है, और संस्कृत के जीवित रहने पर कौन मर सकता है ?"

कुछ विद्वान् जो संस्कृत साहित्य की इस मूलभूत विशेषता से पूर्णतया परिचित नहीं हैं, इसे ग्रीक और लातीनी की भांति 'मृत भाषा' कहने के आदी हैं, क्योंकि यह अब बोलचाल की भाषा नहीं रही। परन्तु भली प्रकार जांच करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत भाषा में सजीव होने के प्रामाणिक लक्षण विद्यमान हैं। भारत में काफी परिवार ऐसे हैं जिनकी मातृभाषा संस्कृत है। समय-समय पर पण्डितों में पारस्परिक शास्त्रार्थ संस्कृत भाषा में होते हैं। वाद-विवाद प्रति-

---

१. केवल एक सर्वशक्तिमान् परमात्मा को ही अपना स्वामी मानते हुए, स्वार्थ और अभिमान का त्याग कर के, श्रद्धा भक्ति के साथ, परम प्रेम के साथ प्रभु का निरन्तर चिन्तन करना 'अव्यभिचारिणी' भक्ति है।

२. जिस विद्या के द्वारा आत्म-वस्तु और अनात्म-वस्तु का विवेक प्राप्त हो उसे अध्यात्म-ज्ञान कहते हैं।

योगिता, संवाद-प्रतियोगिता, भाषण-प्रतियोगिता, अन्त्याक्षरी-प्रतियोगिता तथा संस्कृत कवि-सम्मेलन और साहित्य-गोष्ठी आदि अनेक साहित्यिक प्रवृत्तियां संस्कृत भाषा में समय-समय पर भारत के कोने-कोने में होती रहती हैं। प्राचीन एवं नवीन संस्कृत नाटकों का अभिनय न केवल भारत में, अपितु विदेशों में भी बड़े चाव से देखा जाता है। १२ से अधिक संस्कृत की पत्रिकाएँ[1] भारत के विभिन्न प्रदेशों से प्रकाशित हो रही हैं। जो कोई भी भाषा कोई भारतीय बोलता है वह संस्कृत से उद्भूत अथवा प्रभावित है। एक साधारण भारतीय जो कुछ भी सोचता है उस पर संस्कृत की छाप होती है। 'व्यासोच्छिष्टं जगत् सर्वम्' इस लोकोक्ति के अनुसार 'संसार का कोई ऐसा विषय नहीं जिसे व्यास ने न छुआ हो।'

संस्कृत विशिष्टों और जन-साधारण की केवल सांस्कृतिक भाषा ही नहीं है, इसमें राजनीतिक एकीकरण के अनुपम समन्वयात्मक गुण भी विद्यमान हैं। भारत के उत्तर से लेकर दक्षिण तक और पूर्व से लेकर पश्चिम तक सभी स्थानों पर एक साधारण हिन्दू का दैनिक जीवन जन्म से मरण पर्यन्त समान संस्कारों द्वारा परिष्कृत होता है और सर्वत्र समान मन्त्रों का और समान विधि का प्रयोग होता है। उत्तर भारत का निवासी पौराणिक हिन्दू दक्षिण के तीर्थ स्थान रामेश्वरम् के लिये उतनी ही श्रद्धा रखता है जितनी कि दक्षिण भारत का पौराणिक हिन्दू हिमालय में स्थित उत्तर भारत के तीर्थस्थान अमरनाथ अथवा बदरीनाथ के लिये। इसी प्रकार पूर्व के श्रद्धालु भक्त की

---

१. इन में ये प्रमुख हैं—संस्कृति (दैनिक) पूना; गाण्डीवम् (साप्ताहिक) वाराणसी; संस्कृतम् (साप्ताहिक) अयोध्या; दिव्यज्योति (मासिक) शिमला, भारती (मासिक) जयपुर; संस्कृतरत्नाकर (मासिक) दिल्ली; शारदा (मासिक) पूना; संविद् (त्रैमासिक) बम्बई, विश्वसंस्कृतम् (त्रैमासिक) होश्यारपुर।

पश्चिम के तीर्थस्थान द्वारका के लिए उतनी ही श्रद्धा है जितनी कि पश्चिम के निवासी की पूर्व के तीर्थस्थान जगन्नाथ पुरी के लिये। और किसी भी वस्तु का इतना शक्तिशाली समन्वयात्मक प्रभाव नहीं पड़ सकता। जिस दिन संस्कृत साहित्य के अध्ययन की उपेक्षा होगी, भारत की सांस्कृतिक और राजनीतिक एकता खंड-खंड हो जावेगी।

वास्तव में संस्कृत कामधेनु के समान है जो हमारी सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाली है यदि उसकी निस्स्वार्थ भावना से सेवा की जावे। संस्कृत के बिना हम अनेक प्रादेशिक भाषाओं के विशिष्ट ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकते, और न ही उनके तुलनात्मक अध्ययन में आनन्द अनुभव कर सकते हैं। विज्ञान और साहित्य के भिन्न क्षेत्रों में पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण और विकास के लिए तो संस्कृत का सम्यक् ज्ञान नितान्त आवश्यक है। संस्कृत साहित्य में हमें अपने धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और सामाजिक प्राचीन इतिहास के अनुपम अभिलेख मिलते हैं। यदि हम एक ऐसे दर्पण की खोज में हैं जो हमारे भूत को भली प्रकार प्रतिबिम्बित कर सके, यदि हम अपनी संस्कृति और सभ्यता को अच्छी प्रकार समझना चाहते हैं, यदि हम इहलोक और परलोक में अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहते हैं, यदि हम शरीर, अन्त:करण और आत्मा की पारस्परिक समन्वयात्मक अनुभूति का साक्षात्कार करना चाहते हैं तो संस्कृत का अध्ययन अनिवार्य है।

अप्रकाशित साहित्य के संबंध में—प्रागैतिहासिक काल से विद्या का संक्रमण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक **वंश परम्परा** (पिता से पुत्र को उसी वंश में) अथवा गुरु परम्परा (गुरु से शिष्य को) श्रुति द्वारा अर्थात् मौखिकरूपेण चलता रहा। गुरु का यह धर्म होता था कि, वह किसी योग्य शिष्य को चुनकर अपनी सारी विद्या उस को दे देवे, अन्यथा शास्त्र के अनुसार वह मोक्ष का अधिकारी नहीं बन सकता था और उसे पुनर्जन्म लेना पड़ता था। शनैः शनैः मनुष्य की मेधा शक्ति का ह्रास आरंभ हुआ और पुस्तकों के लिखने की (विद्या को लिपिबद्ध

करने की) आवश्यकता अनुभव हुई । ये पुस्तकें वृक्षों की छाल, भोजपत्र, ताड़पत्र आदि पर लिखी गईं । ताम्र -पट्टिकाओं और मृत्तिका[1]—पट्टिकाओं का भी अभिलेखों के लिए काफी प्रयोग हुआ । अधिकांश पाँडुलिपियां ताड़पत्रों पर हैं । प्रायः १४वीं शताब्दी से पूर्व के हस्त-लिखित ग्रन्थ नहीं मिलते । सहस्रों की संख्या में ये हस्तलिखित ग्रन्थ विदेशी आक्रान्ताओं के द्वारा अग्नि की भेंट कर दिये गए और सदा के लिए नष्ट हो गए । फिर भी यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं होगी कि अब भी उपलभ्यमान हस्तलिखित ग्रन्थों की संख्या संस्कृत के प्रकाशित ग्रन्थों से अधिक होगी । काफ़ी हस्तलिखित ग्रन्थ इकट्ठे कर के समय २ पर चीन, जापान, जर्मनी और इंग्लैंड आदि विदेशों को भेजे गए । अब भी हज़ारों हस्तलिखित ग्रन्थ सारे देश में ही स्थान २ पर पण्डितों के निजी घरों में तथा मन्दिरों और मठों में बिखरे पड़े हैं । भारत सरकार तथा राज्यों का परम कर्तव्य है कि उन हस्तलिखित ग्रन्थों की भली प्रकार खोज करवा के उन्हें सुरक्षित स्थान में संभाल कर रखे और संस्कृत विद्वानों द्वारा उन पर शोध-कार्य का सुचारु प्रबंध करे, अन्यथा प्रमाद अथवा काल की कठोर गति से यदि एक पत्र भी नष्ट हो गया तो वह ज्ञान समूचे मानव-समाज के लिए सदा के लिए नष्ट हो जाएगा ।

पश्चिमीय विद्वानों का हमें धन्यवाद करना चाहिये कि उन्होंने भारत में संस्कृत पाँडुलिपियों की खोज में बड़े उत्साह और धैर्य से काम किया । एशियाटिक सोसाइटी की इसी उद्देश्य से १७८४ ई० में स्थापना हुई और रायल एशियाटिक सोसाइटी की सर विलियम जोन्स और लेडी जोन्स द्वारा निर्मित प्रथम सूची १८०७ में प्रकाशित हो गई ।

हैनरी टॉमस कोलब्रुक (१७६५–१८३७) एशियाटिक सोसाइटी (कलकत्ता) का १८०७ में सभापति नियुक्त हुआ; उसने इस पद पर

---

१. आज तक भी यह प्रथा जारी है—उदाहरणार्थ बिरला मन्दिर नई दिल्ली की दीवारों पर सारी भगवद्गीता खुदी हुई है ।

रहते हुए प्रशंसनीय कार्य किया। हजारों हस्तलिखित ग्रन्थ एकत्रित किये गए। उनका प्रथम सात संग्रह १८१७—१९३४ के मध्य में प्रकाशित हुए। आठवां संग्रह चिन्ताहरण चक्रवर्ती द्वारा १९३९–४० में प्रकाशित हुआ, और दशम चन्द्रसेन गुप्त द्वारा १९४५ में।

मैक्स मूलर (१८२३–१९००) ने पश्चिमीय जगत् का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया कि भारत में हस्तलिखित ग्रन्थों के रूप में विपुल साहित्य विद्यमान है जिसका संग्रह और सम्पादन आवश्यक है।

१८६६ में बंगाल, बम्बई और मद्रास में अनुसन्धान संस्थान स्थापित हुए और बम्बई अनुसन्धान संस्थान का अध्यक्ष डा० बूह्लर (१८३७-९८) को नियुक्त किया गया। उसने प्राय: २३०० हस्तलिखित ग्रन्थों का मूल्यवान् संग्रह किया। उनमें से कुछ ऐलफिस्टन कालेज में हैं, कुछ बर्लिन विश्वविद्यालय (जर्मनी) को भेज दिये गए और शेष इंडिया आफ़िस (लंदन) को।

बर्लिन विश्वविद्यालय में संगृहीत हस्तलिखित ग्रन्थों की बृहत् सूची डा० वेबर (१८२५–१९०१) द्वारा निर्मित की गई। ट्रिनिटी कालेज कैम्ब्रिज में पड़े[1] हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची औफ्रे (Aufrecht) द्वारा १८६९ में प्रकाशित हुई। तदनन्तर जेम्स डी. एलाइस[2] ने भारतीय संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची कोलम्बो (श्रीलंका) से १८७० में प्रकाशित की।

इंडिया आफ़िस (लंदन) में संगृहीत हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रथम सूची ए सी. बर्नेल[3] द्वारा १८७० में प्रकाशित हुई, और दूसरी सूची दो भागों में जूलियस ऐडिलंग[4] द्वारा १८८७–९६ में। बाद की सूचियाँ कीथ और टॉमस द्वारा १९३५ में और ओलडनबर्ग[5] द्वारा १९४२ में क्रमश: प्रकाशित हुईं।

---

१. हस्तलिखित, २. Alice; ३. Burnell,
४. Julius Eggling; ५. Oldenberg;

इसी काल में संस्कृत ह. लि. ग्रन्थों का संग्रह-कार्य भारत में भी सवेग आरंभ हो गया। गुजरात, काठियावाड़ और सिन्ध से ह. लि. ग्रन्थ एकत्रित किये गए और उनकी प्रथम सूची बम्बई से १८७१—३ में प्रकाशित हुई। १८७१-९० में संस्कृत ह. लि. ग्रन्थों की सूचनाएँ[1] के ग्यारह भाग प्रकाशित हुए, प्रथम नौ राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा और शेष दो हरप्रसाद शास्त्री द्वारा। मध्य भारत के संस्कृत ह. लि. ग्रन्थों की सूची कीलहार्न[2] द्वारा १८७४ में नागपुर से प्रकाशित हुई। बम्बई के ह. लि. ग्रन्थों की एक अन्य सूची १८८१ में प्रकाशित हुई। तंजोर महल की संस्कृत ह. लि. ग्रन्थों की अनुक्रमणी ए. सी. बर्नेल द्वारा १८८० में लंदन से प्रकाशित हुई। तदनन्तर तंजोर के रायल सरस्वती महल में पड़े संस्कृत ह. लि. ग्रन्थों की सूची प. प. स. शास्त्री द्वारा १९ भागों में प्रकाशित हुई। केवल इस पुस्तकालय में २५ हज़ार से अधिक संस्कृत ह. लि. ग्रन्थ मौजूद हैं।

१९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में इस क्षेत्र में पर्याप्त कार्य हुआ। दक्षिण के संस्कृत ह. लि. ग्रन्थों की सूची दो भागों में १८८० तथा १८८५ में प्रकाशित हुई। अवध के संस्कृत ह. लि. ग्रन्थों की सूचियां पं० देवी प्रसाद द्वारा कई भागों में १८८१—१८९३ के मध्य प्रकाशित हुईं। ब्रिटिश कौतुकागार[3] लंदन के संस्कृत ह. लि. ग्रन्थों की सूची १८८३ में प्रकाशित हुई। उसी वर्ष कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में पड़े संस्कृत और पाली के ह. लि. ग्रन्थों की सूचियां भी प्रकाशित हुईं।

बम्बई के संस्कृत ह. लि. ग्रन्थों की एक महत्त्वपूर्ण सूची पीटर्सन द्वारा १८८३—८८ के मध्य छः भागों में प्रकाशित हुई। मैसूर और कुर्ग के संस्कृत ह. लि. ग्रन्थों की सूची बंगलौर से १८८४ में प्रकाशित हुई।

---

१. The Notices of Sansrkrit Mss.

२. Kielhorn; ३. British Museum.

इस क्षेत्र में राजकीय प्राच्य ह. लि. ग्रन्थ पुस्तकालय[1] मद्रास ने भी स्तुत्य कार्य किया है। इसकी प्रथम सूची १८९३ में प्रकाशित हुई। तब से लेकर भिन्न-भिन्न सम्पादकों के तत्त्वावधान में २९ सूचियां प्रकाशित हो चुकी हैं। उन सम्पादकों में स. कुप्पूस्वामी का नाम उल्लेखनीय है। बम्बई प्रदेश के संस्कृत ह. लि. ग्रन्थों पर र. ग. भण्डारकर के तत्त्वावधान में भी उपयोगी कार्य हुआ।

रायल एशियाटिक सोसाइटी की सूची विशेषरूपेण उल्लेखनीय है। इसका ग्यारहवां भाग हरप्रसार शास्त्री द्वारा १८९५ में प्रकाशित हुआ।

इन सभी सूचियों के आधार पर डा० औफ्रे ने एक महासूची 'सूचियों की सूची'[2] नाम से लीपज़िग से तीन भागों में १८९१, १८९६ और १९०३ में प्रकाशित करके प्रशंसनीय कार्य किया। इसी का संशोधित और परिवर्धित संस्करण डा० व. राघवन और डा० सी. कुन्हन राज द्वारा 'सूचियों की नई सूची'[3] के नाम से १९४९ में (प्रथम भाग) मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ है।

इस प्रकार संस्कृत ह. लि. ग्रन्थों के संग्रह का काम देश में कई केन्द्रों पर सवेग चल रहा है। वाराणसी के सरस्वती भवन पुस्तकालय में सवा लाख से ऊपर संस्कृत ह. लि. ग्रन्थ हैं। उनमें १६००० की सूची १९५३–५८ में ८ भागों में तय्यार हुई। जैसलमेर के संस्कृत ह. लि. ग्रन्थों की एक उपयोगी सूची गायकवाड़ प्राच्य माला सं० २१ में प्रकाशित हुई है। त्रिवेंड्रम् राजकीय पुस्तकालय के संस्कृत ह. लि. ग्रन्थों की सूची भी ८ भागों में प्रकाशित हो चुकी है। नौ हज़ार से अधिक संस्कृत ह. लि. ग्रन्थ विश्वेश्वरानन्द वैदिक अनुसन्धान संस्थान

---

१. Govt. Oriental Manuscrirt Library.

२. Catalogus Catalogorum.

३. New Catalogus Catalogorum.

होशयारपुर (पंजाब) में है; वहाँ पर डा० आचार्य विश्वबन्धु के तत्त्वावधान और पथ-प्रदर्शन में उन पर प्रशंसार्ह शोध-कार्य हो रहा है।

अभी भी हज़ारों की संख्या में ये हस्तलिखित ग्रन्थ सारे देश में लोगों के घरों में, और मन्दिरों व मठों आदि में अरक्षित और विकीर्ण पडे हैं। यह हमारी मूल्यवान् राष्ट्रीय बपौती है जिसकी जैसे-तैसे सुरक्षा होनी चाहिये। संस्कृत अध्येता के सम्मुख विपुल क्षेत्र है। असूचीकृत ह. लि. ग्रन्थों को सूचीकृत किया जाता है, और सूचीकृत ग्रन्थों का सम्यक् अध्ययन कर के सापेक्षिक महत्त्व स्थिर करना है। तदनन्तर महत्त्वपूर्ण दुर्लभ हस्तलिखित ग्रन्थों के आलोचनात्मक सम्पादन और सटिप्पण भाष्य तैयार होने हैं। यह कार्य महीनों और वर्षों का नहीं, अपितु दशाब्दियों और शताब्दियों का है जो बिना सरकार के संरक्षकत्व के सम्पन्न नहीं हो सकता। विदेशों के पुस्तकालयों में भी अनेक दुर्लभ और अति महत्वपूर्ण ह. लि. ग्रन्थ विद्यमान हैं। उन्हें मूल्य से खरीद कर, अथवा बदले में, अथवा भेंट में प्राप्त करके भारत में लाया जाना चाहिये, अन्यथा भारत सरकार को उनकी फोटोस्टैट अथवा माइक्रोफ़िल्म प्रतियाँ करवा लेनी चाहियें और संस्कृत विद्वानों द्वारा उन का अध्ययन करवाना चाहिये।

संस्कृत आयोग—१९४७ में राजनीतिक स्वाधीनता के प्राप्त हो जाने पर जनता में संस्कृत भाषा और संस्कृत साहित्य के उत्थान के लिए स्वाभाविक जागृति उत्पन्न हुई। संस्कृत साहित्य सम्मेलन, प्राच्य विद्या [1]अन्तारराष्ट्रीय कांग्रेस, अखिल भारतीय प्राच्य[2] सम्मेलन, भारतीय दर्शन [3]सम्मेलन, भारतीय भाषा[4] समिति और भारतीय इतिहास कांग्रेस

---

१. International Congress of Orientalists,

२. All India Oriental Conference,

३. Indian Philosophical Conference,

४. Linguistic Society of India,

आदि सार्वजनिक संस्थाएँ अधिक सक्रिय हो गईं। मई १९५१ में संस्कृत विश्व परिषद् की सोमनाथ के ऐतिहासिक स्थल पर स्थापना हुई जिसके स्वर्गीय डा० राजेन्द्र प्रसाद (तत्कालीन राष्ट्रपति) आजीवन सभापति और श्री क० म० मुंशी (तत्कालीन खाद्यमन्त्री) कार्यवाह प्रधान बने। इन तथा इन सदृश अन्य संस्थाओं द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों के परिणामस्वरूप भारत सरकार ने अक्तूबर १९५६ में डा० सुनीति-कुमार चैटरजी की अध्यक्षता में संस्कृत आयोग की नियुक्ति की। तदनुसार संस्कृत आयोग ने अपना विस्तृत विवरण भारत सरकार को ३०.११ ५७ को प्रस्तुत कर दिया।

केन्द्रीय संस्कृत बोर्ड—संस्कृत आयोग के सुझावों को ध्यान में रखते हुये भारत सरकार ने १९५९ में केन्द्रीय संस्कृत बोर्ड की नियुक्ति की ताकि वह सरकार को संस्कृत के प्रचार-प्रसार संबंधी विषयों पर परामर्श दे सके।

संस्कृत सम्मेलनों, संस्थाओं तथा पाठशालाओं आदि को आर्थिक सहायता देने के लिए योजना बनाई गई है। १२ संस्कृत पत्रिकाओं को स्तर में सुधार करने के लिये अनुदान दिया गया है। शिक्षा मंत्रालय में एक स्पैशल आफिसर[१] (संस्कृत) की नियुक्ति की गई है। पारम्परिक संस्कृत पाठशालाओं के स्नातकों को शोध छात्रवृत्तियां देने की योजना बनाई गई है। शिक्षा मन्त्रालय ने विशिष्ट संस्कृत विद्वानों को सम्बोधित कर के उनसे संस्कृत को सरलीकरण के लिये सुझाव मांगे हैं। वर्तमान युग में इसकी नितान्त आवश्यकता है। लोकप्रिय, दुर्लभ एवं दुष्प्राप्य संस्कृत ग्रन्थों के मुद्रण एवं प्रकाशन की भी योजना बनाई गई है। संस्कृत अध्यापकों के प्रशिक्षण एवं संस्कृत पढ़ाने की शैली में सुधार एवं शोध के लिए तिरुपति (आन्ध्र) में एक केन्द्रीय संस्कृत संस्थान की स्थापना की गई है।

---

१. आजकल उनका शुभनाम श्री र० क० शर्मा है।

संस्कृत प्रचार के विशेष उद्देश्य से जो धन-समर्पण हुए, अथवा जो न्यास (Trust) बने परन्तु अब चालू नहीं हैं, उनका पता लगाया जा रहा है। केन्द्रीय संस्कृत बोर्ड के सुझाव पर शिक्षा मन्त्रालय ने संस्कृत पण्डितों के राष्ट्रीय रजिष्टर को तय्यार करने का भी निश्चय किया है। तृतीय पंचवर्षीय योजना में संस्कृत के उत्थान के लिए ७५ लाख रुपये रखे गए थे, चौथी योजना में यह राशि बढ़ाकर ५ करोड़ कर दिये जाने की संभावना है।

केन्द्रीय संस्कृत बोर्ड के सुझाव पर तथा संस्कृत के सांस्कृतिक तथा समन्वयात्मक गुणों को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने राज्य सरकारों तथा सैकेंड्री शिक्षा बोर्ड को कहा है कि—

(क) वे मातृ-भाषा अथवा प्रादेशिक भाषा के साथ प्राचीन भाषा के जुटे पाठ्य-क्रम को अपनाएँ;

(ख) प्राचीन भाषा वाले भाग में उत्तीर्ण होना आवश्यक बनाएँ;

(ग) प्राचीन भाषा वाले भाग के लिए प्राय: ३० से ४० प्रतिशत अंक नियत करें।

शोध कार्य—अनेक भारतीय विश्वविद्यालयों के संस्कृत विभागों तथा निम्न संस्कृत शोध संस्थानों में शोध-कार्य हो रहा है जो प्रशंसार्ह है।

१. मिथिला संस्थान, दरभंगा।

२. बी. जे. विद्या व शोध संस्थान,[१] अहमदाबाद।

३. दक्कन कालेज, पूना।

४. भंडारकर प्राच्य शोध संस्थान,[२] पूना।

५. इंडो एशिया सांस्कृतिक[३] सोसाइटी, कलकत्ता।

---

१. Institute of Learning and Research.

२. Oriental Research Institute.

३. Cultural Society.

६. विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होश्यारपुर।

७. राजस्थान प्राच्य शोध[१] संस्थान, जोधपुर।

८ सिंदिया प्राच्य संस्थान, उज्जैन।

९. बड़ोदा संस्कृत महाविद्यालय, बड़ोदा।

१०. प्राच्य[२] संस्थान, बड़ोदा।

११. अन्तरराष्ट्रीय भारतीय संस्कृति विद्यास्थान,[3] नई दिल्ली।

१२. एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता।

१३. स्वाध्याय मंडल, पारदी।

१४. कुप्पूस्वामी शास्त्री शोध संस्थान, मद्रास।

१५. अखिल भारतीय काशिराज ट्रस्ट, वाराणसी।

१६. साहित्य एकैडेमी, नई दिल्ली।

१७. इंस्टीट्यूट आफ़ इंडोलोजी, नई दिल्ली।

आधारभूत सुझाव

१. अनेक राज्य सरकारों तथा विश्वविद्यालयों ने अपने विवरण में कहा है, 'यद्यपि संस्कृत के छात्रों को अनेक सुविधाएँ दी जा रही हैं, स्कूलों, कालेजों व संस्कृत पाठशालाओं में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या काफ़ी ह्रास पर है।' यह हम सब के लिए बड़ा शोचनीय विषय होना चाहिये। कम से कम इससे यह तो स्पष्ट है कि देश में संस्कृत-उत्थान की हमारी सभी योजनाएँ उस वृक्ष के पत्रों को सींचने की भाँति हैं जिसकी जड़ को सूखा रखा गया है। निःशुल्क पढ़ाई, मुफ़्त भोजन और मुफ़्त आवास के प्रलोभन छात्रों को संस्कृत पाठशालाओं में आकर्षित नहीं कर सकते जब वे जानते हैं कि इससे उनके भविष्य का निर्माण नहीं होता। जब अंग्रेज़ों ने अंग्रेज़ी का प्रचार चाहा, तो उन्होंने

१. Oriental Reserch Institute.

२. Oriental Institute.

३. International Academy of Indian Culture.

एक टूटे-फूटे मैट्रिक को भी शास्त्री से बढ़कर वेतन दिया, और भविष्य-निर्माण के सभी द्वार अंग्रेज़ी पढ़े-लिखों के लिये खोल दिये। राजनीतिक स्वातन्त्र्य मिल जाने पर भी, अब तक प्रायः वही स्थिति चल रही है। शास्त्री परीक्षा का पाठ्यक्रम प्रायः एम. ए. (संस्कृत) के समान है। यदि सरकार वास्तव में यह चाहती है कि पारम्परिक पाठशाला और गुरुकुल प्रणाली का उद्धार हो तो उसे शास्त्री परीक्षा का स्तर एम. ए. के समान कर देना चाहिये।

२. स्वराज्य प्राप्ति से पूर्व मिडल श्रेणियों में प्रत्येक छात्र को एक प्राचीन भाषा अनिवार्यरूपेण पढ़नी पड़ती थी, संस्कृत, फ़ारसी अथवा अरबी। अतः अधिकांश छात्र संस्कृत को चुन कर इसे ही पढ़ते थे। स्वतन्त्रता के बाद संस्कृत को ड्राइंग, विज्ञान, दरजी का काम (Tailoring) संगीत, सीना-पिरोना, घरेलू विज्ञान आदि अनेक सरल और लोकप्रिय विषयों के साथ जोड़ दिया गया है, जिसका परिणाम यह होता है कि इच्छा होते हुए भी विद्यार्थी संस्कृत के अध्ययन से वञ्चित रह जाता है। जब मिडल श्रेणियों में प्रारम्भिक ज्ञान ही प्राप्त नहीं किया तो आगे चलकर पढ़ने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। हमारे शिक्षा-विशारदों और उच्च अधिकारियों को यह आधारभूत तथ्य नहीं सूझा कि प्राचीन भाषा का विकल्प प्राचीन भाषा के साथ ही होना चाहिये, अन्य लोकप्रिय विषयों से नहीं।

३. अधिकार-सम्पन्न शिक्षा विशारदों के दृष्टिकोण से, हिन्दी अवश्य पढ़ी जानी चाहिये क्योंकि यह हमारी राजभाषा है; प्रादेशिक भाषा अवश्य पढ़ी जानी चाहिये क्योंकि उसका प्रादेशिक महत्त्व है; अंग्रेजी अवश्य पढ़ी जानी चाहिये क्योंकि इसका अन्तरराष्ट्रीय महत्त्व है; यदि चौथी भाषा भी अनिवार्य कर दी जावे तो भाषा पाठ्यक्रम भारी हो जाता है; अतः संस्कृत वैकल्पिक विषय के रूप में ही पढ़ी जा सकती है। दुर्भाग्यवश इस दृष्टिकोण में इस तथ्य को उपेक्षित

कर दिया गया है कि संस्कृत के सम्यक् ज्ञान के बिना राजभाषा और प्रादेशिक भाषाओं का विशिष्ट ज्ञान संभव नहीं। इसके अतिरिक्त संस्कृत में असाधारण समन्वयात्मक और सांस्कृतिक गुण हैं। अंग्रेज़ी का महत्त्व एक भारतीय के लिए अन्य विदेशी भाषाओं की अपेक्षा अधिक हो सकता है; परन्तु वह प्रत्येक भारतीय के लिए प्रादेशिक अथवा सांस्कृतिक भाषा की अपेक्षा अधिक कदापि नहीं हो सकता। जो विद्यार्थी विदेश जाना चाहते हों अथवा उच्च वैज्ञानिक अध्ययन करना चाहते हों वे अंग्रेज़ी भले ही पढ़ें, उन्हें सुविधाएं दी जाएं; परन्तु प्रत्येक भारतीय छात्र के लिए इसे अनिवार्य विषय नहीं बनाना चाहिये। भारत संभवत: समूचे संसार में एकमात्र अभागा स्वतन्त्र देश है जहां कि एक विदेशी भाषा तो पढ़ाई का अनिवार्य विषय हो और उसकी सांस्कृतिक भाषा की इतनी दुर्दशा हो। जैसा कि इस पुस्तक के लेखक ने संस्कृत आयोग के समक्ष अपने साक्ष्य में कहा था, "विद्यार्थी को निम्न चार में से किन्हीं तीन भाषाएं पढ़ने की छूट होनी चाहिये, १ राजभाषा, २ प्रादेशिक भाषा ३ प्राचीन (सांस्कृतिक) भाषा, ४ अन्य प्रादेशिक भाषा अथवा विदेश-भाषा (जिसमें अंग्रेज़ी भी सम्मिलित हो)। वास्तव में देखा जाये, तो चार भाषाओं का पाठ्यक्रम भी भारी नहीं होता क्योंकि पृथक्-पृथक् भाषाओं का अध्ययन क्रमिक स्तरों में आरम्भ होता है।"

४ उच्चतर सैकेंड्री प्रणाली ने तो संस्कृत पर व्रजपात का सा कार्य किया है। प्राय: १ दर्जन वर्गों में, संस्कृत का प्रबन्ध केवल एक वर्ग (Humanities Group) में किया गया है, और वह भी वैकल्पिक। अन्य वर्गों में संस्कृत का नितान्त अभाव है। हमारे सुयोग्य शिक्षा-विशारदों ने ध्यान नहीं रखा कि संस्कृत पारिभाषिक विषय नहीं है और कि संस्कृत भाषा में भौतिकी, रसायन, वास्तुकला, औषध-निर्माण संगीत, ज्योतिष, अस्त्र-शस्त्र निर्माण तथा इतिहास, भूगोल और दर्शन आदि अनेक विषयों से संबंधित विपुल सामग्री (कुछ प्रकाशित और कुछ अप्रकाशित रूप में) विद्यमान है जिसका तुलनात्मक अध्ययन नितान्त

आवश्यक है। यदि हम चाहते हैं कि विज्ञान का विद्यार्थी सर जगदीशचन्द्र वसु और सर सी. वी. रमण की भाँति चमकने में सफल-मनोरथ हो सके तो उसे संस्कृत भाषा का पर्याप्त ज्ञान लेकर आगे बढ़ना होगा ताकि वह संस्कृत भाषा के वैज्ञानिक साहित्य का आधुनिक भाषाओं (जिसमें पश्चिमीय भाषाएं भी सम्मिलित हैं) के वैज्ञानिक साहित्य के साथ उच्चस्तरीय तुलनात्मक अध्ययन करने में समर्थ हो सके।

इन आधारभूत सुझावों को क्रियान्वित रूप देना प्रमुखतया सरकार पर निर्भर है, अतः हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि संस्कृत के भव्य भविष्य और पुनरुत्थान की कुन्जी भारत सरकार के अधिकार में है। यदि इस कुन्जी का सही और शीघ्र प्रयोग हो गया तो हम राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टिकोण से भी दृढ़ हो जाएंगे, अन्यथा 'का वर्षा कृषि सुखाने'।

अन्त में मुझे चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ वालों का विशेषरूप से धन्यवाद करना है जिन्होंने विशेष ध्यान देते हुए इस पुस्तक को शीघ्र प्रकाशित करने में मुझे पूरा सहयोग दिया। प्रेमी एवं सुविज्ञ पाठकों से मेरा निवेदन है कि वे इस पुस्तक की त्रुटियों के सम्बन्ध में अपने सुझाव मुझे भेज देने की कृपा करें ताकि अगले संस्करण में उनका विशेष ध्यान रखा जा सके।

विदुषाम् अनुचरः
हंसराजः अग्रवालः

विषय-सूची

अध्याय १

उपक्रमणिका

अध्याय २

रामायण और महाभारत

अध्याय ३

पुराण

अध्याय ४

भास

अध्याय ५

अर्थ-शास्त्र

अध्याय ६

कालिदास

अध्याय ७

अश्वघोष

अध्याय ८

महाकाव्य

अध्याय ९

काव्य-निर्माता

अध्याय १०

संगीत काव्य और सूक्ति सन्दर्भ

अध्याय ११

ऐतिहासिक काव्य

अध्याय १२

गद्य काव्य (कहानी) और चम्पू

अध्याय १३

लोकप्रिय कथा ग्रन्थ

अध्याय १४

औपदेशिक जन्तु कथा

अध्याय १५

रूपक

परिशिष्ट वर्ग

संस्कृत-साहित्य का इतिहास

अध्याय १

उपक्रमणिका

(१) संस्कृत-साहित्य का महत्त्व

निस्सन्देह संस्कृत-साहित्य का महत्त्व बहुत बड़ा है। इसकी बड़ी उम्र, एक बहुत बड़े भूखण्ड पर इसका फैला हुआ होना, इसका परिमाण, इसकी अर्थसम्पत्ति, इसकी रचना-चारुता, संस्कृति[1] के इतिहास की दृष्टि से इसका मूल्य ऐसी बातें हैं जिनके कारण इस महान्, मौलिक और पुरातन साहित्य के ऊपर हमारा अनुराग बिलकुल उचित सिद्ध होता है। कुछ बातें और भी हैं, जिनके कारण संस्कृत-साहित्य के अध्ययन में हमारी अभिरुचि और भी बढ़ जाती है। उनमें से कुछ विशेष नीचे दी जाती हैं—

---

१. देखिए विंटरनिट्ज़ कृत भारतीय साहित्य का इतिहास (इंगलिश) प्रथम भाग।

(१) संस्कृत-साहित्य का अध्ययन ऐतिहासिकों के बड़े काम का है। यह विस्तृत भारतवर्ष के निवासियों के बुद्धि-जगत् के तीन हजार से भी अधिक वर्षों का इतिहास ही नहीं है। प्रत्युत उत्तर में तिब्बत, चीन, जापान, कोरिया, दक्षिण में लंका, पूर्व में मलाया प्रायद्वीप, सुमात्रा, जावा, बाली, बोर्नियो तथा प्रशान्त महासागर के दूसरे द्वीप; और पश्चिम में अफ़ग़ानिस्तान, तुर्किस्तान इत्यादि देशों के बौद्धिक जगत् पर इसका बहुत बड़ा प्रभाव भी पड़ा है।

(२) आधुनिक शताब्दियों में इसने यूरोप पर युगप्रवर्त्तक प्रभाव डाला है।[1]

(३) संस्कृत भारोपीय शाखा[2] की सबसे पुरानी भाषा है। अतएव इसके साहित्य में इस शाखा के सबसे पुराने साहित्यिक स्मारक उपलब्ध होते हैं। धार्मिक विचारों के क्रमिक विकास का जैसा विस्पष्ट चित्र यह साहित्य उपस्थित करता है, वैसा जगत् का कोई दूसरा साहित्यिक स्मारक नहीं।[3]

(४) 'साहित्य' शब्द के व्यापक से व्यापक अर्थ में—महाकाव्य, काव्य, गीति-काव्य, नाटक, गद्य-आख्यायिका, औपदेशिक कथा, लोक-प्रिय कथा, विज्ञान-ग्रन्थ इत्यादि जो कुछ भी आ सकता है, वह सब कुछ संस्कृत-साहित्य में मौजूद है। हमें भारत में राजनीति, आयुर्वेद, फलित-ज्योतिष, गणित-ज्योतिष, अङ्कगणित और ज्यामिति का ही बहुत-सा और कुछ पुराना साहित्य मिलता हो यह बात नहीं है, बल्कि भारत में संगीत, नृत्य, नाटक, जादू, देव-विद्या, यहाँ तक कि अलंकार-विद्या

---

१. अधिक जानने के लिए आगामी द्वितीय खण्ड देखिये।

२. संस्कृत में मिलती-जुलती भाषाओं का एक वर्ग बनाया गया है, जिसे भारोपीय शाखा का नाम दिया गया है क्योंकि द्राविड़ भाषाओं को छोड़ कर भारतीय—आर्यों की सारी भाषाएँ और यूरोप की सारी भाषाएँ आ गई हैं।

३. मैकडानल कृत संस्कृत-साहित्य का इतिहास (इंग्लिश) पृष्ठ ६।

के भी पृथक्-पृथक् ग्रंथ पाये जाते हैं, जो वैज्ञानिक शैली से लिखे गये हैं।[1]

(५) संस्कृत-साहित्य केवल विषय-व्यापकता के लिए ही नहीं, रचना-सौष्ठव के लिए भी प्रसिद्ध है। सूत्र-रचना में भारतीय लोग जगत् की सब जातियों में प्रसिद्ध हैं। भारतीयों द्वारा किये हुए पशु-कथाओं, पक्षि-कथाओं, अप्सरा-कथाओं तथा गद्यमय आख्यायिकाओं के संग्रहों का भूमण्डल के साहित्य के इतिहास में बड़ा महत्त्व है[1]। प्रभु ईसा के जन्म से कई शताब्दी पूर्व भारत में व्याकरण के अध्ययन का प्रचार था; और व्याकरण वह विद्या है, जिसमें पुरातन काल की कोई जाति भारतीयों की कक्षा में नहीं बैठ सकती। कोश-रचना की विद्या भी भारत में बहुत पुरानी है।[2]

(६) धर्म एवं दर्शन के विकास के परिचय के लिए संस्कृत-साहित्य का अध्ययन प्रायः अनिवार्य है। मैकडानल ने लिखा है—"भारोपीय वंश की केवल भारत-निवासिनी शाखा ही ऐसी है, जिसने वैदिक-धर्म नामक एक बड़े जातीय धर्म और बौद्ध-धर्म नामक एक बड़े सार्वभौम धर्म की रचना की। अन्य शाखाओं ने इस क्षेत्र में मौलिकता न दिखलाकर बहुत पहले से एक विदेशीय धर्म को अपनाया। इसके अतिरिक्त भारतीयों ने स्वतन्त्रता से अनेक दर्शन-सम्प्रदायों को विकसित किया, जिनसे उनकी ऊँची चिन्तन-शक्ति का प्रमाण मिलता है।"

(७) संस्कृत-साहित्य की एक और विशेषता इसकी मौलिकता है। ईसा के पूर्व चतुर्थ शताब्दी में यूनानियों का आक्रमण होने से बहुत पहले आर्य-सभ्यता परिपूर्ण हो चुकी थी और बाद में होने वाली विदेशियों की विजयों का इस पर सर्वथा कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

---

१. विंटरनिट्ज कृत भारतीय साहित्य का इतिहास (इंग्लिश) प्रथम भाग।

२. विंटरनिट्ज कृत भारतीय साहित्य का इतिहास (इंग्लिश) प्रथम भाग।

(८) विद्यमान संस्कृत-साहित्य परिमाण में यूनान और रोम दोनों को मिलाकर एक किये हुए साहित्य के बराबर है। यदि हम इसमें वे ग्रंथ जिनके नाम समसामयिक या उत्तरवर्ती ग्रंथकारों के दिये हुए उद्धरणों से मालूम होते हैं तथा वे ग्रंथ जो सदा के लिए नष्ट हो चुके हैं, इसमें सम्मिलित कर लें, तो संस्कृत-साहित्य का परिमाण बहुत ही अधिक हो जायगा।

(९) "मौलिकता और सौन्दर्य इन दो गुणों की दृष्टि से संस्कृत-साहित्य समस्त प्राचीन साहित्यों में केवल यूनान के साहित्य से दूसरे दरजे पर है। मानवीय प्रकृति के विकास के अध्ययन के स्रोत के रूप में तो यह यूनानी साहित्य से बढ़कर है"। (मैकडालन)

(१०) आर्य-सभ्यता की धारा अविच्छिन्न रूप से बहती रहती है। हिन्दुओं की भक्ति-भरी प्रार्थनाएँ, गायत्री का जप, सोलह संस्कार जो एक हिन्दू के जीवन को माता के गर्भ में आने से लेकर मृत्यु पर्यन्त विशेष रूप देते हैं, अरणियों से यज्ञ की अग्नि निकालना तथा अन्य अनेक सामाजिक और धार्मिक प्रथाएँ आज भी बिलकुल वैसी हैं, जैसी हजारों वर्ष पहले थीं। शास्त्रीय वाद-विवादों में, पत्र-पत्रिकाओं में तथा निजी चिट्ठी-पत्रियों में विद्वान् पंडितों द्वारा संस्कृत का प्रयोग, मुद्रण-यन्त्र का आविष्कार हो चुकने पर भी हस्त-लिखित पुस्तकों की नकल उतारना, वेदों का तथा अन्य धार्मिक ग्रंथों का कण्ठस्थ करना ताकि यदि ग्रंथ नष्ट भी हो जायँ तो फिर अक्षरशः उनका निर्माण किया जा सके—सब ऐसी बातें हैं, जो भारतीय जीवन के असाधारण रूप को स्पष्ट करती हैं। अतः संस्कृत-साहित्य का अध्ययन केवल भारतीयों की भूतकालीन सभ्यता के ज्ञान के लिए ही नहीं, बल्कि हिन्दुओं की आधुनिक सभ्यता को समझने के लिए भी आवश्यक है।

(११) केवल इतना ही नहीं, यूरोपीय संस्कृति और विचारों के क्रमिक विकास को समझने के लिए भी संस्कृत-साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता है। विंटरनिट्ज़ कहता है—'यदि हम अपनी ही

संस्कृति के प्रारम्भिक दिनों की अवस्था को जानने की इच्छा रखते हों, यदि हम सबसे पुरानी भारोपीय संस्कृति को समझना चाहते हैं, तो हमें भारत की शरण लेनी होगी, जहाँ एक भारोपीय जाति का सबसे पुराना साहित्य सुरक्षित है'।

(२) यूरोप पर संस्कृत-साहित्य का प्रभाव

अठारवीं शताब्दी की अन्तिम दशाब्दियों में जब यूरोप-निवासी संस्कृत से परिचित हुए, तब उसने वहाँ एक नये युग का प्रारम्भ कर दिया क्योंकि इसने भारतीय और यूरोपीय दोनों जातियों के इतिहास-पूर्व के सम्बन्धों पर आश्चर्यजनक नया प्रकाश डाला। इसने यूरोप में तुलनात्मक भाषाविज्ञान की नींव डाली, तुलनात्मक पौराणिक कथाविद्या में कई परिवर्तन करा दिए, पश्चिमीय विचारों को प्रभावित किया, और भारतीय पुरातत्त्व के अन्वेषण में स्थिर अभिरुचि उत्पन्न कर दी।

(क) तुलनात्मक भाषाविज्ञान—संस्कृत का पता लगने से पहले हिब्रू, अरबी तथा अन्य भिन्न-भिन्न भाषाओं के भाषी कहा करते थे कि उनकी अपनी भाषा असली भाषा है और शेष सब भाषाएँ उसीसे निकली हैं। यह देखा गया कि यूनानी और लैटिन भाषाएँ अरबी और हिब्रू से सम्बद्ध नहीं कही जा सकतीं और न यूनानी और लैटिन मौलिक भाषाएँ हैं। संस्कृत के इस परिचय ने छुपे हुए सत्य को प्रकाशित कर दिया। कुछ विद्वानों ने यह परिणाम निकालने की शीघ्रता की कि संस्कृत मौलिक भाषा है और इससे सम्बन्ध रखनेवाली अन्य भाषाएँ इससे निकली हैं। किन्तु धीरे-धीरे वे इस परिणाम पर पहुँचे कि संस्कृत इन भाषाओं की माता नहीं प्रत्युत बड़ी बहन है। तब से लेकर तुलनात्मक भाषाविज्ञान ठोस विषय का निरूपण करने वाला विज्ञान बन गया। बाद में रास्क ने और रास्क के पीछे ग्रिम ने मालूम किया कि ट्यूटानिक भाषाएँ भी इसी वर्ग से सम्बन्ध रखती हैं, जिसे आसानी के लिए भारोपीय वर्ग कहते हैं। अम्ब्रियन, ऑस्कन, अल्बानियन, लिथू-

एनियन, आर्मीनियन, फ्राइजियन और टोखारिश इत्यादि नाना भाषाएँ इसी वर्ग से सम्बद्ध बताई गई हैं और हिटाइट तथा सुमेरियन जैसी अन्य अनेक भाषाओं के भी भविष्य में इसी वर्ग से सम्बद्ध सिद्ध की जाने की आशा है।

(ख) तुलनात्मक पौराणिक कथा-विज्ञान—तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की सहायता से तुलनात्मक पौराणिक कथा-विज्ञान में भी काफी आगे बढ़ना सम्भव हो गया है। यह मालूम हुआ है कि संस्कृत के देव, भाग, यज, श्रद्धा तथा अन्य कर्मकाण्डगत शब्दों के लिए भारोपीयवर्ग की भिन्न-भिन्न भाषाओं में इन्हीं से मिलते-जुलते शब्द पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ देवताओं का भी पता लगा है, जो भारोपीय काल से सम्बन्ध रखते हैं। उदाहरणार्थ—

संस्कृत में	पृथिवी मातर्	लैटिन में	टेरा मेटर
,,	अश्विनौ	,,	ड्यौस-क्यूरि
,,	पर्जन्यः	लिथुएनियन में	पर्कुनिजा
,,	वरुणस्	यूनानी में	औरेणास

देखने की विशेष बात यह कि उल्लिखित भारोपीय देवताओं के रूप भिन्न-भिन्न भाषाओं में प्रायः समान ही हैं।

(ग) यूरोपीय विचारों पर प्रभाव—भारतीय लोगों के सबसे गम्भीर और सबसे उत्तम विचार उपनिषदों में देखने को मिलते हैं। दाराशिकोह ने अठारहवीं शताब्दी के मध्य के आस-पास उनका अनुवाद फारसी में करवाया था। बाद (१७७५ ई०) में अंक्वेटिल डुपेरन ने उस फारसी अनुवाद का अनुवाद लैटिन में किया। शापनहार ने इसी फारसी अनुवाद के अनुवाद को पढ़कर उपनिषदों के तत्त्व तक पहुँचकर कहा था—'उपनिषदों ने मुझे जीवन में सान्त्वना दी, यही मुझे मृत्यु में सांत्वना देंगे।' शापनहार के दार्शनिक विचारों पर उपनिषदों का बड़ा प्रभाव पड़ा।

जर्मन और भारतीय विचारों में तो और भी अधिक आश्चर्यजनक

समानता है। लेपोल्ड वान्श्राडर का कथन है कि भारतीय लोग पुराने काल के रमणीयतावाद के विश्वासी (Romanticists) हैं और जर्मन लोग आधुनिक काल के। सूक्ष्म-चिन्तन की ओर झुकाव, प्रकृति-देवी की पूजा की ओर मन की प्रवृत्ति, जगत् को दुःखात्मक समझने का भाव, ऐसी बातें हैं, जो जर्मन और भारतीयों में बहुत ही मिलती-जुलती हैं। इसके अतिरिक्त, जर्मन और संस्कृत दोनों ही काव्यों में रसमयता तथा प्रकृति के प्रति आत्मीयता के भाव पाए जाते हैं, जो हिब्रू और यूनानी काव्यों में भी नहीं पाये जाते।

(घ) शिलालेखसम्बन्धी अन्वेषण—यह कहने में अत्युक्ति नहीं होगी कि संस्कृति-ज्ञान के बिना प्राचीन भारत विषयक हमारा ज्ञान बहुत ही कम होता। शिलालेखों के ज्ञान तथा भारतीय पुरातत्त्व के अनुसन्धान में हम आज जितने बढ़े हुए हैं, उसका मूल प्रायः पश्चिमीय विद्वानों की कृतियाँ हैं, किन्तु उन कृतियों का मूल भी तो संस्कृत का अध्ययन ही है।

(ङ) सामान्य—(१) पाणिनि की अष्टाध्यायी पढ़कर यूरोप के विद्वानों के मन में अपनी भाषाओं के व्याकरण को यथासम्भव पूर्ण करने का विचार पैदा हुआ।

(२) सिद्धहस्त नाटककार कालिदास का 'अभिज्ञानशकुन्तला' नाटक यूरोप में बड़े चाव के साथ पढ़ा गया और गेटे ने 'फास्ट' की भूमिका उसी ढंग से लिखी। संस्कृत ग्रन्थों के जर्मन अनुवाद ने जर्मन साहित्य पर बहुत प्रभाव डाला है। ऐफ० श्लेगल ने संस्कृत कविता का अनुवाद जर्मन कविता में किया है।

(३) महायान सम्प्रदाय के प्रामाणिक ग्रंथ संस्कृत में ही हैं। उनके यूरोपियन भाषाओं के अनुवाद ने यूरोप में बौद्धों को बहुत प्रभावित किया है।

(४) यूरोप के विद्वानों ने वैदिक और लौकिक दोनों प्रकार के सम्पूर्ण संस्कृत-वाङ्मय की छानबीन दो से भी कम शताब्दियों में कर

डाली है। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराण, गीति-काव्य, सर्वसाधारण में प्रचलित कथाएँ एवं औपदेशिक कहानियाँ, इन सबके ग्रन्थों के यहाँ तक कि वैज्ञानिक साहित्य के ग्रंथों के भी, यूरोप की भाषाओं में अनुवाद हो चुके हैं, उन पर टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं और उनकी अनेक हस्तलिखित प्रतियों को मिला कर भिन्न-भिन्न पाठयुक्त (Critical) संस्करण निकल चुके हैं। अतः उन ग्रन्थों का पश्चिम पर कोई कम प्रभाव नहीं हो सकता।

(३) संस्कृत में ऐतिहासिक तत्त्व का अभाव

यद्यपि संस्कृत भाषा के विद्वानों ने इस दिशा में सूक्ष्म अनुसन्धान और महान् परिश्रम किया है, तथापि संस्कृत-साहित्य का इतिहास अभी तक अन्धकार में छुपा हुआ है। भास और कालिदास जैसे सुप्रसिद्ध कवियों के जीवनकाल के निर्धारण में विद्वानों के मतों में शताब्दियों का नहीं बल्कि पाँच-छः शताब्दियों का भेद है। 'भारतीय साहित्य के इतिहास में दी गई सारी-की-सारी तिथियाँ काग़ज़ में लगाई हुई उन पिनों के समान हैं, जो फिर निकाल ली जाती हैं[१]।' जहाँ अन्य शाखाओं में संस्कृत-साहित्य ने कमाल कर दिखाया, वहाँ इतिहास-क्षेत्र में इसमें बहुत कम सामग्री पाई जाती है। इतिहास विषयक साहित्यिक-ग्रन्थ संख्या में कम हों, इतनी ही बात नहीं है, उनमें कभी-कभी कल्पना की भी मिलावट देखी जाती है। संस्कृत का सबसे बड़ा इतिहासकार कल्हण तक यूनानी हीरोडोटस की भी तुलना नहीं कर सकता।

इसके कारण—संस्कृत में इतिहास का यह अभाव क्यों है? इसका पूरा-पूरा सन्तोष करने वाला उत्तर देना तो कठिन है। हाँ, निम्नलिखित कुछ बातें अवश्य ध्यान में रखने योग्य हैं—

---

१. देखो डब्ल्यू० डी० ह्विटने कृत 'संस्कृत-ग्रामर' की भूमिका, लीपजिग, १८७९। उसने पचास साल से भी अधिक पहले जो सम्मति दी थी वह आज भी वैसी की वैसी ठीक उतरती है।

(१) पश्चिम में इतिहास का जो अर्थ लिया जाता है, भारतीय लोग इतिहास का यह अर्थ नहीं लेते थे। आर्य लोगों का ध्यान भारतीय संस्कृति और सभ्यता की रक्षा की ओर लगा हुआ था। संस्कृति और सभ्यता की उन्नति में सहायता करने वाले को छोड़कर किसी अन्य राजा का, महापुरुष का या अपना इतिहास लिखने में आर्य लोगों की अभिरुचि नहीं थी। भारतीयों के बौद्धिक और आध्यात्मिक जीवन के विकास की एक-एक मञ्जिल का जैसा सावधानतापूर्ण उल्लेख संस्कृत-साहित्य में मिलता है, वैसा जगत् के किसी अन्य साहित्य में नहीं।[१]

(२) भारतीय मनोविज्ञान की और परिस्थितियों की विशेषताएँ—कर्म का और भाग्य का सिद्धान्त, दैनिक हस्तक्षेपों में मन्त्र-यन्त्र में तथा जादू में विश्वास, वैज्ञानिक मनोवृत्ति का अभाव—ऐसी बातें हैं, जो एक बड़ी सीमा तक इतिहास के अभाव का कारण हैं। यहाँ तक कि जैन और बौद्ध भी ऐसे ही विश्वास रखते थे।

(३) १२०० ई० तक भारत में राजनीतिक घटनाओं की गति से भी शायद कोई सर्वप्रिय बननेवाली बात पैदा नहीं हुई।

(४) भारतीयों में राष्ट्रीयता (Nationality) के भावों का न होना भी इसका एक बड़ा कारण है। सिकन्दर की विजयों का प्रभाव चिरस्थायी नहीं हुआ और विदेशी आक्रमणों ने भी भारतीयों में राष्ट्रीयता के भावों को जन्म नहीं दिया। मुसलमानों को अपने आक्रमणों में कदाचित् इसीलिए सफलता मिली कि भारतीय राजा-महाराजा विदेशी आक्रमणकारियों को उतनी घृणा की दृष्टि से नहीं देखते थे, जितनी घृणा की दृष्टि से वे एक दूसरे को देखते थे।

(५) भारत के साधारण लोग समय की या देश की दृष्टि से दूर हुए राजाओं के इतिहास और प्रशस्ति-काव्यों में अभिरुचि नहीं रखते थे। यही कारण है कि अक्षय यश की कामना रखने वाले कवियों ने

---

१. इस युक्ति के आधार पर हम कह सकते हैं कि भारतीयों में ऐतिहासिक बुद्धि का अभाव नहीं था प्रत्युत वे इतिहास का अर्थ ही और लेते थे।

अपनी कृतियों के विषय समकालीन वीरों के जीवनों में से कम और रामायण तथा महाभारत में से अधिक चुने[1]।

(६) एक और कारण यह है कि भारतीय लोग विशेष की अपेक्षा साधारण को अधिक पसन्द करते हैं। यहाँ तक कि जब दो विरोधी पक्षों पर ऊहापोह किया जाता है, तब भी व्याख्याकारों के जीवन के सम्बन्ध में कोई बात न कहकर केवल विवादसम्बन्धिनी युक्तियाँ ही प्रस्तुत की जाती हैं। जब दर्शनों के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की व्याख्या की जाती है, तब भी ऐतिहासिक काल को गौण रक्खा जाता है।

(७) पुराने साहित्य के अधिक ग्रन्थ हमें कुटुम्ब-ग्रन्थों के या सम्प्रदाय-ग्रन्थों के या मठ-गुरु ग्रन्थों के रूप में मिले हैं, जिनके रचयिताओं तक के नामों का भी उल्लेख नहीं मिलता।

(८) बाद के साहित्य में जब रचयिताओं के नाम मिलते हैं, तब वे नाम भी कुटुम्ब (या गोत्र) के रूप में मिलते हैं[2]। फिर, यह पता कि कोई कवि विक्रमादित्य के या भोज के राज्य-काल में हुआ, ऐतिहासिक दृष्टि से हमारे लिए केवल इतना ही सहायक हो सकता है, जितना यह पता कि यह घटना एक जॉर्ज के या एक एडवर्ड के राज्य-काल में हुई।

(९) यदि किसी रचयिता का नाम दिया भी गया है तो उसके माता-पिता का नाम नहीं दिया गया। एक ही नाम के अनेक रचयिता हो सकते हैं।

(१०) कभी-कभी एक ही नाम भिन्न-भिन्न रूपों में पाया जाता

---

१. यह तुलना करके देखिए कि 'नैषध' पर तो अनेक टीकाएँ हैं, परन्तु 'नवसाहसांकचरित' जो ऐतिहासिक रचना है, विस्मृति के गर्भ में जा पड़ा है।

२. यह मनोवृत्ति भारत में अब तक पाई जाती है। किसी ग्रन्थ का लेखक गुप्त प्रसिद्ध है तो किसी का शर्मा, किसी का राय तो किसी का चक्रवर्ती। नाम के प्रारम्भिक भाग में इतना महत्त्व नहीं समझा जाता, जितना इन सरनामों में।

है। भारतीयों में नामों के पर्याय तथा संक्षित रूप व्यवहार में लाने की बड़ी प्रवृत्ति पाई जाती है[1]।

किन्तु यह परिणाम नहीं निकालना चाहिए कि भारतीयों में ऐतिहासिक बुद्धि का अभाव था। इतिहास के क्षेत्र में पुराणों और अनेक ग्रन्थों के अतिरिक्त निश्चित तिथियों से युक्त अनेक शिलालेख विद्यमान हैं। ज्योतिष के ग्रन्थकारों ने ग्रन्थ-समाप्ति तक की निश्चित तिथियाँ दी हैं।[2]

(४) संस्कृत और आधुनिक भाषाएँ

संस्कृत शब्द सब से पहले पाणिनि की अष्टाध्यायी में देखने को मिलता है। यह सब से पहले ऐतिहासिक महाकाव्य रामायण में भी आया है। इसका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है—'एकत्र रक्खा हुआ या चिकना-चुपड़ा किया हुआ या परिमार्जित'। इसके मुकाबिले पर प्राकृत का अर्थ है—'स्वाभाविक, अकृत्रिम'। यही कारण है कि प्राकृत शब्द से भारत की बोलचाल की भाषा समझी जाती है, जो भाषा के मुख्य साहित्यिक रूप से पृथक् है।

वैदिक काल में आर्य-भाषा का नाम वैदिक भाषा था। आजकल की भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन सिद्ध करता है कि ये सब किसी एक ही स्रोत से निकली हुई भिन्न-भिन्न धाराएँ हैं। अतः अपनी भाषा के इतिहास के लिए हमें विद्यमान सबसे पुराने नमूने तक पहुँच कर, जो ऋग्वेद में मिलता है, नीचे की ओर इसके इतिहास-चिह्नों का पता लगाना होगा। और क्योंकि सम्पूर्ण ऋग्वेद पद्य-बद्ध है, अतः यह

---

१. मेरे एक शास्त्री मित्र ने मुझे अमृतसर से पत्र लिखा, जिसके किनारे पर लिखा 'सुधासरसः'। दूसरी बार लिखा 'पीयूषतडागात्'। दोनों ही नाम अमृतसर के पर्याय हैं।

२. इस प्रकरण में अधिक जानने के लिए ७० से ७४ तक के खण्ड देखने चाहिएँ।

मानना होगा कि इसमें उस काल की बोलचाल की भाषा का सच्चा रूप नहीं मिल सकता। हाँ, इसमें भी कोई सन्देह नहीं हो सकता कि ऋग्वेद की भाषा उस समय की बोलचाल की भाषा से अधिक भिन्न भाषा नहीं है। आगे दी हुई सारिणी भारतीय भाषाओं के विकास को सूचित करती है, जो उन्हें नाना अवस्थाओं में से निकल कर प्राप्त हुआ।

आर्य-भाषाओं के विकास को सूचित करने वाली सारिणी
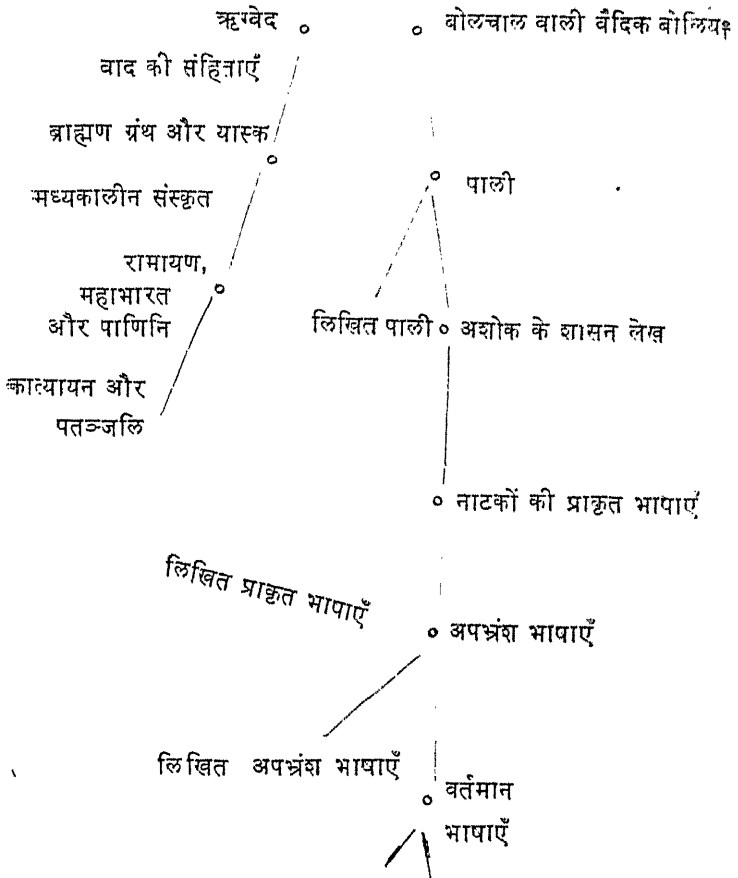
ऊपर की सारिणी से यह बात विस्पष्ट दिखाई देगी कि ज्यों-ज्यों भाषा विकसित होती जाती है, त्यों-त्यों साहित्य की और बोलचाल की भाषा में भेद बढ़ता जाता है।

डा० भण्डारकर ने वैदिक काल के उत्तरकालीन साहित्यिक काल को मध्य (Middle) संस्कृत और श्रेण्य[1] (Classical) संस्कृत इन दो भागों में बाँटा है। मध्य संस्कृत से उनका अभिप्राय ब्राह्मणों और रामायण-महाभारत के मध्य का काल है। उसमें मुख्य वैयाकरण पाणिनि हैं। श्रेण्य संस्कृत काल पाणिनि से बाद का काल है। इसके मुख्य वैयाकरण कात्यायन और पतञ्जलि हैं। सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा की भिन्न-भिन्न अवस्था को पाली (जो अशोक के शासन-लेखों की भाषा है) नाटकों की प्राकृत भाषाएँ, अपभ्रंश भाषाएँ और वर्तमान भाषाएँ प्रकट करती हैं। नाटकों की प्राकृत भाषाएँ भी तत्कालीन बोलचाल की भाषाओं को सही रूप में प्रकट नहीं करती हैं। प्रारम्भिक अवस्था में तो प्राकृत भाषाएँ बोलचाल की भाषाओं को ही प्रकट करती थीं, इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु धीरे-धीरे साहित्यिक वैदिक और साहित्यिक संस्कृत के समान वे व्याकरण के दृढ़ नियमों में बँध गईं और केवल साहित्यिक उपभाषाएँ (Dialects) बनकर रह गईं। उस समय की बोलचाल की भाषाओं को प्रकट करने वाली अपभ्रंश भाषाएँ हैं, जो अपने नम्बर पर, साहित्यिक उपभाषाएँ (Dialects) बन गईं, और उसके बाद बोलचाल की भाषाओं को प्रकट करने वाली वर्तमान भारत की आर्य-भाषाएँ हुईं। एक काल से दूसरे काल में सरकना धीरे-धीरे हुआ। उदाहरणार्थ, चन्दबरदाई कृत 'पृथिवीराज रासो' की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश से बहुत मिलती-जुलती है, किन्तु आजकल की हिन्दी से बहुत भिन्न है।

नीचे एक तालिका दी जाती है, जो आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के विकास को विस्पष्ट करती है।

---

१. किसी एक श्रेणी से सम्बन्ध रखनेवाली।
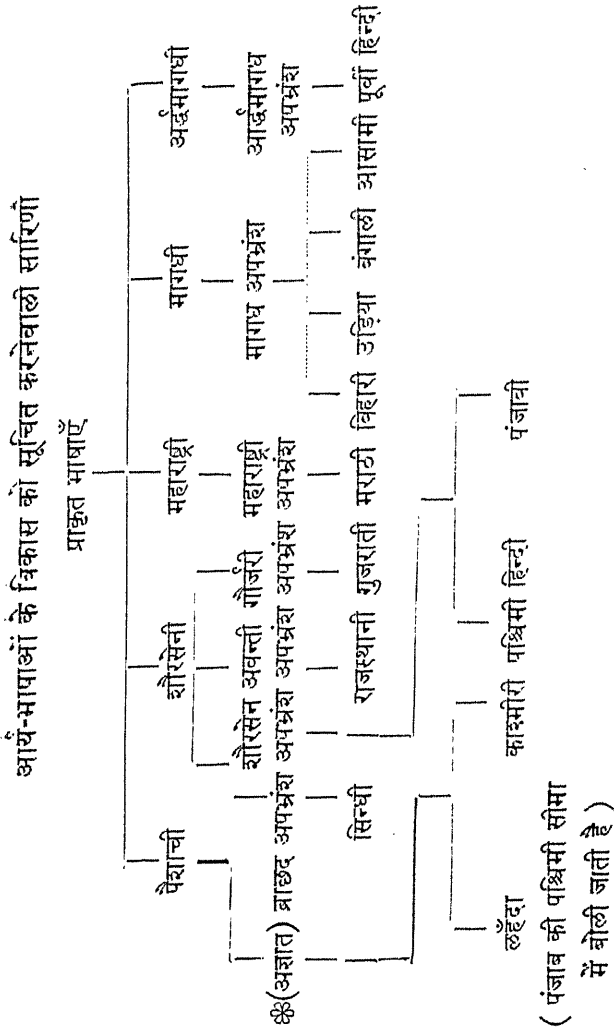
ॐ यह 'शिन' से मिलती-जुलती किसी पिशाच भाषा को प्रकट करती है ।

पिछली तालिका में दी हुई भाषाएँ, जिन्होंने १००० ई० के आस-पास से विकसित होना शुरू किया, अब वैभक्तिक अर्थात् विभक्तियों के आधार पर पृथक्-पृथक् अर्थ प्रकट करने वाली (Inflexional) भाषाएँ नहीं रहीं। ये अब अंग्रेजी के समान वैश्लेषणिक अर्थात् विभक्तियों के स्थान पर शब्द का प्रयोग करके पृथक्-पृथक् अर्थ को प्रकट करने वाली भाषाएँ बन गई हैं। महाशय बीम्ज का कथन है—'संश्लेषण का कुसुम कुड्मल रूप से प्रकट हुआ है और फिर प्रस्फुटित हो गया और जब पूरा स्फुटित हो चुका, तब अन्य कुसुमों के समान मुरझाने लगा। इसकी पँखुड़ियाँ अर्थात् प्रत्यय या विभक्तियाँ एक-एक करके झड़ गईं और यथासमय इसके नीचे से वैश्लेषणिक रचना का फल ऊपर आकर बढ़ा और पक गया।'

आर्य भाषाओं की श्रेष्ठता का प्रमाण इस बात से मिलता है कि जब कोई आर्य-भाषा और कोई भारत की अनार्य-भाषा आपस में मिलती हैं, तब अनार्य भाषा अभिभूत हो जाती है। आज-कल हम देख सकते हैं कि उन प्रांतों में, जहाँ दो जातियों के देशों की सीमाएँ मिलती हैं, भाषा के स्वरूप का यह परिवर्तन जारी है, जिसकी उन्नति की सब मंजिलें हम साफ़-साफ़ देख सकते हैं।

द्राविड़ शाखा की अनार्य भाषा—तैलगु, कनारी, मलयालम और तामिल ये दक्षिणी भारत में ही प्रचलित हैं। भारतीय भाषाओं के समग्र इतिहास में एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलता, जिससे किसी अनार्य भाषा द्वारा आर्य भाषा का स्थान छीन लेने की बात पाई जाये।

(५) क्या संस्कृत बोलचाल की भाषा थी ?

'संस्कृत कहाँ तक बोलचाल की भाषा थी?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रोफेसर ई० जे० राप्सन कहते हैं—"संस्कृत भी वैसी ही बोलचाल की भाषा थी, जैसी साहित्यिक अंग्रेजी है, जिसे कि हम बोलते हैं। संस्कृत उत्तर-पश्चिमी भारत की बोलचाल की भाषा थी,

जिसके विकास का पता सम्पूर्ण साहित्य दे रहा है और जिसकी ध्वन्यात्मक विशेषताएँ उत्तर-पश्चिमी भारत के शिलालेखों में बहुत सीमा तक सुरक्षित हैं। मूलरूप में यह ब्राह्मण-धर्म की भाषा थी, जो उसी उत्तर-पश्चिमी भाग से प्रचलित हुआ था। ब्राह्मण-धर्म के प्रसार के साथ इसका भी प्रसार हुआ और जब भारत के अन्य दो बड़े धर्म—जैन और बौद्ध धर्म—फैलने लगे, तब कुछ समय के लिए इसका प्रसार रुक गया। जब भारत में उक्त दोनों धर्मों का ह्रास हुआ, तब इसने निर्विघ्न उन्नति करना प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे यह सारे भारतवर्ष में फैल गई। प्रारम्भ में एक जिले की, फिर एक वर्ण तथा धर्म की, अन्त में यह सारे भारतवर्ष में एक धर्म, राजनीति और संस्कृत की भाषा बन गई। समय पाकर तो वह एक विशाल राष्ट्रीय भाषा बन गई और केवल तभी यह पदच्युत हुई, जब मुसलमानों ने हिन्दू-राष्ट्रीयता को तबाह किया।'[1]

निम्नलिखित बातों से यह सिद्ध होगा कि संस्कृत कभी भारत की बोलचाल की भाषा थी :—

(१) बहुत काल तक मध्य संस्कृत तथा श्रेण्य संस्कृत, जो वैदिक भाषा की ही कुलजा हैं, शिक्षित श्रेणी की बोलचाल की भाषा बनी रहीं और इन्होंने सर्वसाधारण की बोलियों अर्थात् पाली एवं नाटकों की प्राकृतों पर भी प्रभाव डाला।[1]

---

१. यह बात अधोलिखित उदाहरण से विस्पष्ट हो जायगी। नाटकीय प्राकृत में हमें 'ऋद्धि' और 'सुदरिसन' शब्द मिलते हैं। पाली में उन्हीं से मिलते-जुलते 'इद्धि' (सं० ऋद्धि) और 'सुदस्सन' (सं० सुदर्शन) शब्द मिलते हैं। यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि 'ऋद्धि' और 'सुदरिसन' शब्द पाली के 'इद्धि' और 'सुदस्सन' से विकसित हुए हैं, प्रत्युत यही मानना होगा कि पूर्वोक्त दोनों शब्द संस्कृत भाषा से ही निकलते हैं।

(२) यास्क से प्रारम्भ करके सभी पुराने व्याकरण श्रेण्य संस्कृत को 'भाषा'[1] नाम से पुकारते हैं।

(३) पाणिनि के ऐसे अनेक नियम हैं, जो केवल जीवित-भाषा के सम्बन्ध में ही सार्थक हो सकते हैं।

(४) पतञ्जलि (ई० पूर्व द्वितीय शताब्दी) संस्कृत को लोक में व्यवहृत कहता है और अपने शब्दों को कहता है कि ये लोक में प्रचलित हैं।

(५) इस बात के प्रमाण विद्यमान हैं कि संस्कृत में बोलचाल की भाषा में पाई जाने वाली देशमूलक विभिन्नताएँ थीं। यास्क और पाणिनि 'प्राच्यों' और 'उदीच्यों' की विभिन्नता का उल्लेख[2] करते हैं। कात्यायन स्थानिक भेदों की ओर संकेत करता है और पतञ्जलि ऐसे विशेष-विशेष शब्द चुनकर दिखलाता है, जो केवल एक-एक जिले में ही बोले जाते हैं।

(६) कहानियों में सुना जाता है कि भिक्षुओं ने बुद्ध के सामने विचार रक्खा था कि आप अपनी बोलचाल की भाषा संस्कृत को बना लें। इससे भी यही परिणाम निकलता है कि संस्कृत बुद्ध के समय में बोलचाल की भाषा थी।

(७) प्रसिद्ध बौद्धकवि अश्वघोष (ई. द्वितीय शताब्दी) ने अपने सिद्धांतों का प्रचार करने के लिए अपने ग्रंथ संस्कृत में लिखे। इससे यह अनुमान करना सुगम है कि संस्कृत प्राकृत की अपेक्षा साधारण जनता को अपनी ओर अधिक खींचती थी तथा संस्कृत ने कुछ समय के लिए खोये हुए अपने पद को पुनः प्राप्त कर लिया था।

(८) ई० दूसरी शताब्दी के बाद में मिलने वाले शिलालेख क्रमशः संस्कृत में अधिक मिल रहे हैं और ई० छठी शताब्दी से लेकर

१. भाषा'शब्द'भाष्' से, जिसका अर्थ बोलना चालना है, निकला है।

२, उदाहरणार्थ, 'दूर से सम्बोधन करने में वाक्य का अंतिम स्वर लुप्त हो जाता है'।

केवल जैन शिलालेखों को छोड़कर, सारे के सारे शिलालेख संस्कृत में ही मिलते हैं। यह बात तो सभी मानेंगे कि शिलालेख प्रायः उसी भाषा में लिखे जाते हैं, जिसे सर्वसाधारण पढ़ और समझ सकते हैं।

(९) उत्तरभारत के बौद्धों के ग्रंथ प्रायः संस्कृत में ही चले आ रहे हैं। इससे सूचित होता है कि बौद्ध लोग तक जीवित भाषा संस्कृत की उन्नति के विरोध में सफल नहीं हो सके।

(१०) ह्यूनसांग विस्पष्ट शब्दों में कहता है कि ई० सातवीं शताब्दी में बौद्ध लोग धर्मशास्त्रीय मौखिक वाद-विवाद में संस्कृत का ही व्यवहार करते थे। जैनों ने प्राकृत को बिलकुल छोड़ तो नहीं दिया था; पर वे भी संस्कृत का व्यवहार करने लगे थे।

(११) संस्कृत नाटकों में पात्रों की बोलचाल के योग्य नाना प्राकृतों का भी प्रयोग रहता है। नायक एवं उच्चपद के अधिकारी पात्र, जिनमें तपस्विनियाँ भी सम्मिलित हैं सस्कृत बोलती हैं, किन्तु स्त्रियाँ और निम्नस्थिति के पात्र प्राकृत ही बोलते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जो संस्कृत नहीं बोलते थे, वे भी संस्कृत समझते अवश्य थे। इसके अतिरिक्त पर्याप्त प्रमाणों से यह संकेत मिलता है कि संस्कृत नाटक खेले भी जाते थे और इसका यही अर्थ है कि नाटक-दर्शक संस्कृत के वार्तालाप को समझते और उसके सौंदर्य का रसानुभव भी करते थे।

(१२) साहित्य में ऐसे भी उल्लेख पाये जाते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि रामायण और महाभारत जनता के सामने मूलमात्र पढ़कर सुनाये जाते थे। तब तो जनता वस्तुतः संस्कृत के श्लोकों का अर्थ समझ लेती होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिमालय और विन्ध्य के बीच फैले हुए सम्पूर्ण आर्यावर्त में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी। इसका व्यवहार ब्राह्मण[1] ही नहीं, अन्य लोग भी करते थे। पतञ्जलि ने एक कथा लिखी

१. पतञ्जलि के 'शिष्ट' शब्द पर ध्यान दीजिए।

है, सिसमें कोई सारथि किसी वैयाकरण से 'सूत' शब्द की व्युत्पत्ति पर विवाद करता है। लोकवार्ता है कि राजा भोज ने एक लकड़हारे के सिर पर बोझ देखकर पर-दुःख-कातर हो उससे संस्कृत में पूछा कि तुम्हें यह बोझ कष्ट तो नहीं पहुँचा रहा और 'बाधति' क्रिया-पद का प्रयोग किया। इस पर लकड़हारे ने उत्तर दिया—महाराज ! मुझे इस बोझ से उतना कष्ट नहीं हो रहा, जितना 'बाधते' के स्थान पर, आपके बोले हुए 'बाधति' पद से हो रहा है। सातवीं शताब्दी में, तो जैसा ऊपर कहा जा चुका है, बौद्ध और जैन भी संस्कृत बोलने लगे थे। आज-कल भी बड़े-बड़े पण्डित आपस में तथा विशेष करके शास्त्र-चर्चा में, संस्कृत ही बोलते हैं। संक्षेप यह कि संस्कृत की प्रारम्भ से लेकर अबतक प्रायः वही अवस्था रही है और अब भी है, जो यहूदियों में हिब्रू की या मध्य काल में लैटिन की थी।

(६) श्रेण्य संस्कृत की विशेषताएँ

भारतीय साहित्य का इतिहास दो प्रधान कालों में विभक्त हो सकता है—(१) पाणिनि से पहला अर्थात् वैदिक काल जिसमें वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और सूत्रग्रन्थ सम्मिलित हैं, तथा (२) पाणिनि से पिछला अर्थात् श्रेण्य संस्कृतकाल जिसमें रामायण, महाभारत, पुराण, महाकाव्य, नाटक, गीतिकाव्य, गद्याख्यायिका, लोकप्रिय कहानियां, औपदेशिक कथाएँ, नीति-सूक्तियाँ तथा शिक्षा, व्याकरण, आयुर्वेद, राजनीति, ज्योतिष और गणित इत्यादि के ऊपर वैज्ञानिक साहित्य सम्मिलित है। दूसरे काल का साहित्य पहले काल के साहित्य से बाह्याकृत, अन्तरात्मा, प्रतिपाद्य अर्थ एवं शैली इन सभी दृष्टियों से भिन्न है। इनमें कुछ का दिग्दर्शन नीचे कराया जाता है :—

(क) बाह्याकृति—सम्पूर्ण ऋग्वेद की रचना पद्य में हुई है। धीरे-धीरे गद्य की शैली का विकास हुआ। यजुर्वेद और ब्राह्मणों में गद्य का अच्छा विकास देखने को मिलता है। उपनिषत् तक पहुँचते-पहुँचते गद्य का प्रभाव बहुत मन्द पड़ गया, क्योंकि उपनिषदों में गद्य का प्रयोग

अपेक्षाकृत कम देखा जाता है, श्रेण्य संस्कृत में तो गद्य प्रायः लुप्त-सा ही दिखाई देता है। राजनियम और आयुर्वेद जैसे विषयों का प्रतिपादन भी पद्य में ही मिलता है। गद्य का प्रयोग केवल व्याकरण और दर्शनों में ही किया गया है; पर वह भी दुर्बोध और चक्करदार शैली के साथ। साहित्यिक गद्य कल्पनाढ्य आख्यायिकाओं, सर्वप्रिय कहानियों, औपदेशिक कथाओं तथा नाटकों में अवश्य पाया जाता है, किन्तु यह गद्य लम्बे-लम्बे समासों से भरा हुआ है और ब्राह्मणों के गद्य से मेल नहीं खाता।

पद्य में भी श्रेण्य संस्कृत के छन्द, जिनका आधार यद्यपि वैदिक छन्द ही हैं तथापि, वैदिक छन्दों से भिन्न हैं। मुख्य छन्द श्लोक (अनुष्टुप) है। श्रेण्य संस्कृत के छन्द जितने भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं, उतने वैदिक नहीं। इसके अतिरिक्त, श्रेण्य संस्कृत के छन्द वैदिक छन्दों की अपेक्षा अधिक श्रम से रचे गये हैं क्योंकि इन छन्दों में प्रत्येक चरण के वर्णों या मात्राओं की संख्या दृढ़ता के साथ अटल रहती है।

(ख) अन्तरात्मा—वेदों में क्षीण रूप में पाया जानेवाला पुनर्जन्म का सिद्धान्त उपनिषदों में प्रबल रूप धारण कर लेता है। श्रेण्य संस्कृत में इस सिद्धान्त[1] का पोषण बहुत ही श्रमपूर्वक किया गया है। उदाहरणार्थ, धर्म की स्थापना और अधर्म के उच्छेद के लिए विष्णु भगवान् को कभी किसी पशु के और कभी किसी असाधारण गुणशाली पुरुष के रूप में अनेक बार पृथिवी पर जन्म धारण करवाया गया है।

एक और विशेषता यह है कि मानव-जगत् की साधारण घटनाओं के वर्णन में भी अपार्थिव अंश को सम्मिलित करने की और अधिक

---

१. इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि आत्मा अमर है। जैसे मनुष्य पुराने कपड़े उतार कर नये धारण कर लेता है, वैसे ही आत्मा एक जरा-जीर्ण शरीर को छोड़कर दूसरा नया धारण कर लेता है। (देखो गीता २।२२)। यह सिद्धान्त हिन्दू-सभ्यता का हृदय है।

अभिरुचि देखी जाती है। यही कारण है कि स्वर्ग और पृथिवी के निवासियों के परस्पर मिलने जुलने की कथाओं की कमी नहीं है।

सीमा से बढ़ जाने वाली अतिशयोक्ति का उल्लेख भी यहाँ आवश्यक है। इसके इतने उदाहरण हैं कि पूर्वीय अतिशयोक्ति जगत्प्रसिद्ध हो चुकी है। बाण की कादम्बरी में उज्जयिनी के बारे में कहा गया है कि वह त्रिभुवनललामभूता, मानो दूसरी पृथिवी, निरन्तर होते रहने वाले अध्ययन की ध्वनि के कारण धुले हुए पापों वाली[1] है। (वैदिक काल के) बाद की शैली में विरक्त या साधु बन जाने का सीमा से अधिक वर्णन, पौराणिक कथाओं का रङ्ग बिरङ्गा कलापूर्ण उल्लेख, घटाटोप वर्णनों के दल के दल, महाकाव्यों का भारी भरकम डीलडौल, एक प्रकार का अनुपम संक्षिप्त शैली वाला गद्य, अभ्यास-वश प्रयुक्त किये गये लम्बे-लम्बे समास[2] ऐसी बातें हैं, जो श्रेण्य संस्कृत में पाई जाने वाली इस विशेषता को प्रकट करती हैं।

(ग) प्रतिपाद्य विषय—यदि वैदिक साहित्य वास्तव में धर्मपरक है, तो लगभग सारे का सारा श्रेण्य संस्कृत साहित्य लौकिकविषय-परक है। श्रेण्य संस्कृत काल में वैदिक समय के अग्नि, वायु, वरुण इत्यादि पुराने देवता गौण बन गये हैं और उनके मुकाबिले पर ब्रह्मा, विष्णु और शिव मुख्य उपास्य हो गये हैं। इसके अतिरिक्त गणेश, कुबेर, सरस्वती और लक्ष्मी इत्यादि अनेक नये देवताओं की कल्पना कर ली गई है।

(घ) श्रेण्य संस्कृत-काल की भाषा पाणिनि के कठोर नियमों से बँधी हुई है। इसके अतिरिक्त, कविता को नियन्त्रित करने वाले अलंकार

---

१. उज्जयिनी का वर्णन एक शैली में लगभग ४१–४१ वर्ण वाली ४१ पंक्तियों में किया गया है। दण्डीके दशकुमारचरित्र में भी पुष्पापुरी का वर्णन प्रायः ऐसा ही है।

२. देखिए मैकडालन कृत संस्कृत-साहित्य का इतिहास (इंग्लिश)

शास्त्र के नियमों का श्रमपूर्ण निर्माण किया गया है तथा लम्बे-लम्बे समासों का प्रयोग बहुत हो गया है। इस प्रकार के काल में संस्कृत-कविता क्रमशः अधिकाधिक कृत्रिम होती चली गई है। इतना होने पर भी संस्कृत-कविता गुणों से खाली नहीं है। 'इस प्रकार एक प्रसिद्ध विद्वान्, जिससे मेरा परिचय है, कविता की अन्तरात्मा में इतना घुल गया है कि उसे किसी और वस्तु से आनन्द मिलता ही नहीं' (मैंकडानल)। संस्कृत कविता के वास्तविक लावण्य का अनुभव संस्कृत के ही ग्रन्थों के पढ़ने से हो सकता है, अनुवाद-ग्रन्थों से नहीं। संस्कृत छन्दों का चमत्कार किसी अन्य भाषा में अनुवाद करने से नहीं आ सकता। सच तो यह है कि केवल मूल संस्कृत ग्रन्थों का पढ़ना ही पर्याप्त नहीं है (अनुवाद की तो बात ही क्या) बल्कि संस्कृत के विद्यार्थी को भारत के प्राकृतिक दृश्यों का, भारतीयों की प्रकृतियों, प्रथाओं और विचार-धाराओं का भी गहरा ज्ञान होना आवश्यक है।

इस पुस्तक में श्रेण्य संस्कृत-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास दिया जायगा।

अध्याय ?

रामायण और महाभारत

(७) ऐतिहासिक महाकाव्यों की उत्पत्ति

आर्नाल्ड कहता है "ऐतिहासिक महाकाव्य का विषय कोई गुम्फित बड़ी घटना होनी चाहिए। मुख्य मुख्य पात्र उच्चकुलोत्पन्न तथा उच्च-विचारशाली होने चाहिएँ। विषय के सदृश उसके वर्णन का प्रमाण (Standard) भी उच्च हो। ऐतिहासिक महाकाव्य का विकास संवाद, स्वगत (भाषण) और कथालाप से हुआ है।" यह बात हमारे ऐतिहासिक महाकाव्य रामायाण और महाभारत, पर भी पूर्णतया लागू होती है। रामायण में रावण के ऊपर प्राप्त हुई राम की विजय का वर्णन है और महाभारत में कौरवों और पाण्डवों के परस्पर के युद्ध का। दोनों ही काव्यों के पात्र राजवंशज हैं और उनका चरित्र बड़े कौशल से चित्रित किया गया है। स्त्री-पात्रों में एक असाधारण व्यक्तित्व पाया जाता है[१]।

उक्त दोनों महाकाव्य सहसा उत्पन्न नहीं हो गये। भारत में ऐतिहासिक कविता का मूल ऋग्वेद के संवाद वाले सूक्तों में मिलता है।

---

१. उदाहरणार्थ, महाभारत में द्रौपदी एक कुलीन देवी है,—जिसे सदा अपने गौरव का ध्यान है, जो भारी से भारी विपत्ति के काल में भी अधीर नहीं होती, जिसके सतीत्व में सन्देह का लेश भी नहीं हो सकता, फिर भी मानवीय प्रकृति की सब दुर्बलताएं उसमें हैं।

बाद के वैदिक साहित्य में अर्थात् ब्राह्मणों में इतिहास, आख्यान और पुराणों का उल्लेख मिलता है। इस बात के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं कि यज्ञों, संस्कारों तथा उत्सवों के अवसर पर इनकी कथा आवश्यक थी। यद्यपि इसका तो प्रमाण नहीं मिलता कि तब इतिहास-पुराण-काव्य-ग्रन्थ-रूप में विद्यमान थे, तो भी इससे इनकार नहीं हो सकता कि ऐतिहासिक एवं पौराणिक नाम से प्रसिद्ध कथावाचक लोग बहुत पुराने समय में भी विद्यमान थे। ऐतिहासिक काव्य-रचयिताओं ने, जिनमें बौद्ध और जैन भी सम्मिलित हैं, बौद्धकाल से बहुत पहले ही संचित हो चुकने वाली कथा-कहानियाँ अर्थात् इतिहास, आख्यान, पुराण और गाथाओं के आढ्य कोश से पर्याप्त सामग्री प्राप्त की। महाभारत में 'बृहद् इतिहासों' का उल्लेख पाया जाता है, जो शायद ऐतिहासिक काव्य के ढंग की किन्हीं प्राचीन कविताओं की ओर संकेत करता है। अनुमान किया जाता है कि ऐतिहासिक काव्य के ढंग की सैकड़ों पुरानी कहानियों ने अनेक ऐतिहासिक काव्यों की रचना के लिए पर्याप्त सामग्री दी होगी। इन्हीं काव्यों के आधार पर और इन्हीं की काट-छांट करके हमारे रामायण, और महाभारत नामक महाकाव्यों की रचना हुई होगी। यह अनुमान इस बात से और भी पुष्ट होता है कि रामायण और महाभारत में जैसे श्लोक हैं, ऐसे ही अनेक श्लोक अन्य ग्रन्थों में भी पाये जाते हैं। और यह बात तो महाकाव्य में उसके कवि ने स्वयं स्वीकार की है कि वर्तमान ग्रन्थ मौलिक ग्रन्थ नहीं है। देखिए—

आचख्युः कवयः केचित् सम्प्रत्याचक्षतेऽपरे।
आख्यास्यन्ति तथैवान्ये इतिहासमिमं भुवि॥

अर्थात् इस इतिहास को कुछ कवि इस जगत् में बहुत पहले कह चुके हैं, कुछ अब कहते हैं तथा कुछ आगे भी कहेंगे।

---

१. बाद के वैदिक ग्रन्थों में पुराण और इतिहास के अध्ययन से देवता प्रसन्न होते हैं, ऐसा वर्णन मिलता है। वस्तुतः इतिहास पुराण 'पाँचवाँ वेद' कहा गया है।

इस श्लोक का लिट् लकार का प्रयोग 'आचख्युः' ध्यान देने के योग्य है। इस प्रयोग से 'बहुत प्राचीन समय में' सूचित होता है।

(८) रामायण

(क) भारतीय ग्रन्थकार रामायण को आदि काव्य और रामायण-रचयिता वाल्मीकी को आदि कवि कहते हैं। रामायण में केवल युद्धों और विजयों का ही वर्णन नहीं है, इसमें आलङ्कारिक भाषा में प्रकृति का भी बड़ा रमणीय चित्र अङ्कित किया गया है। इस प्रकार रामायण में सर्व-प्रिय ऐतिहासिक काव्य और अलंकृत काव्य दोनों के गुण पाये जाते हैं। कदाचित जगत् में कोई अन्य पुस्तक इतनी सर्वप्रिय नहीं है, जितनी रामायण। अपनी रचना के दिन से लेकर ही यह भारतीय कवियों और नाटककारों के प्राणों में नवीन स्फूर्ति भरती चली आई है। महाभारत के तीसरे पर्व में राम की कथा आती। ब्रह्माण्ड, विष्णु, गरुड़, भागवत, अग्नि इत्यादि पुराणों में भी रामायण के आधार पर रची हुई राम के पराक्रम की कथाएँ पाई जाती हैं। भास,[१] कालिदास तथा संस्कृत के अन्य अनेक कवियों और नाटककारों की रचना इसी रामायण से उच्छ्वसित हुई है। यहाँ तक कि बौद्ध कवि अश्वघोष ने भी निस्सङ्कोच इसी से बहुत सा मसाला लिया है। जैन साधु[२] विमलसूरि (ई० की पहली शताब्दी) का ग्रन्थ भी इसी के आधार पर लिखा गया है। बौद्ध ग्रन्थों के तिब्बती तथा चीनी अनुवादों में (ई० की तीसरी शताब्दी) राम के वीर्यों की कथाएँ, या उनकी ओर संकेत प्रायः हैं। अब से शताब्दियों पहले रामायण भारत में ही नहीं भारत से बाहर भी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थी। जावा में लरजङ्गरङ्ग, प्रमबनम और पनातरन में शिवमन्दिरों में तथा देवगढ़ में विष्णुमन्दिर में पत्थर के ऊपर

---

१. देखिए अभिषेक, प्रतिमा तथा यज्ञफलम्, देखिए रघुवंश।

२. देखिए उसका प्राकृत काव्य पउमचरिय (पद्मचरित)।

रामायण की कथा के दो सौ से भी अधिक दृश्य खुदे हुए हैं। जावा और मलाया के अनेक ग्रन्थों में राम के अनेक वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन मिलता है। सियाम, बाली तथा इनके समीप के अन्य द्वीपों में रामायण के मुख्य-मुख्य पात्रों की बड़ी ही सुन्दर कलापूर्ण मूर्तियाँ पाई जाती हैं।

जब हम भारत की वर्तमान भाषाओं की ओर आते हैं, तब देखते हैं कि ग्यारहवीं शताब्दी में रामायण का अनुवाद तामिल भाषा में हो गया था। प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि तुलसी रामायण (रामचरित मानस) उत्तर भारत में कितनी सर्वप्रिय है और भारत के करोड़ों निवासियों की संस्कृति और विचारधारा पर इसका कितना प्रभाव है। तामिल और हिन्दी को छोड़कर भारतीय अन्य भाषाओं में भी रामायण के अनुवाद या काँट-छाँटकर तैयार किये हुए रूपान्तर विद्यमान हैं। रामनवमी, विजयादशमी (दशहरा) और दिवाली त्यौहार भी राम के जीवन से सम्बद्ध हैं, जिन्हें करोड़ों भारतनिवासी बड़े उत्साह से मनाते हैं।

रामायण के प्रथम काण्ड में कहा गया है कि ब्रह्मा ने वाल्मीकि मुनि को बुलाकर राम के वीर्यों की प्रशस्ति तैयार करने को कहा और उसे आशा दिलाई कि जब तक इस दृढ़-स्थित पृथिवी पर नदियाँ बहती रहेंगी और पर्वत खड़े रहेंगे, तब तक सारे जगत् में रामायण विद्यमान रहेगी।

(ख) महत्त्व—ऐतिहासिक एवं अलंकृत काव्य की दृष्टि से ही रामायण महत्त्वास्पद नहीं है, अपितु यह हिन्दुओं का आचार-शास्त्र भी है। रामायण की शिक्षाएँ व्यावहारिक हैं। अतः उनका समझना भी सुगम है। रामायण में हमें जीवन की सूक्ष्म और गम्भीर समस्याएँ साफ-साफ सुलझे हुए रूप में मिल जाती हैं। पाठक स्वयं जान लेता है कि जीवन में आदर्श भाई, आदर्श पति, आदर्श पत्नी, आदर्श सेवक, आदर्श पुत्र और आदर्श राजा (राम) को कैसा व्यवहार करना चाहिये।

दशरथ का प्रतिज्ञापालन एवं पुत्रस्नेह अनुपम है। कौसल्या की कर्तव्य-निष्ठा और सुमित्रा की त्याग-वृत्ति अद्वितीय है। बड़े भाई की पत्नी के प्रति लक्ष्मण की श्रद्धा देख कर हम आश्चर्य में डूब जाते हैं। राम को मर्यादापुरुषोत्तम कहना उचित ही है। तात्पर्य यह है कि रामायण में हमें उच्चतम आचार के जीते जागते दृष्टान्त मिलते हैं। यही कारण है कि न केवल भारत में बल्कि बाहर भी रामायण से भूतकाल में लोगों को जीवन मिला, अब मिल रहा है और आगे मिलता रहेगा।

रामायण से प्राचीन कालीन आर्य-सभ्यता के विषय में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसका अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। इससे हम प्राचीन कालीन भारत की सामाजिक और राजनीतिक अवस्था को अच्छी तरह जान सकते हैं। इसके अतिरिक्त इससे हमें तत्कालीन भौगोलिक परिस्थिति का भी पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है।

(ग) **संस्करण**—हम रामायण को भिन्न-भिन्न संस्करणों में पाते हैं—

(१) बम्बई संस्करण (बम्बई में प्रकाशित)। इस संस्करण में सब से अधिक महत्त्वपूर्ण टीका 'राम, टीकाकार की 'तिलक' है। संस्कृत में पाई जानेवाली अन्य टीकाएँ 'शिरोमणि' और 'भूषण' हैं। बंगाली संस्करण (कलकत्ते में प्रकाशित) अत्यन्त उपयोगी टिप्पणियों के साथ इसका अनुवाद जी० गौरेशियो ने किया था। यह बड़ी-बड़ी पाँच जिल्दों में मिलता है। संस्कृत टीकाकार का नाम 'लोकनाथ' है। (३) उत्तर पश्चिमीय संस्करण (या काश्मीरिक संस्करण) यह लाहौर में प्रकाशित हो रहा है। इसके टीकाकार का नाम है 'कटक'। (४) दक्षिण भारत संस्करण (मद्रास में प्रकाशित)। इसमें और बम्बई संस्करण में अधिक भेद नहीं है। ऊपर के तीन संस्करणों में परस्पर पर्याप्त भेद है।

यह कहना कठिन है कि कौन-सा-संस्करण वाल्मीकि के असली ग्रंथ

से अधिक मिलता जुलता है। श्लेगल[1] ने बंगाली संस्करण को अधिक पसन्द किया था। बोटलिंग इस परिणाम पर पहुँचा था कि पुराने शब्द बम्बई संस्करण में अधिक मिलते हैं। ऐतिहासिक प्रमाण द्वारा हम कुछ अधिक सिद्ध नहीं कर सकते। हरिवंशपुराण के सर्ग २३७ में रामायण विषयक उल्लेख बंगाली संस्करण से अधिक मिलते जुलते हैं। आठवीं और नौवीं शताब्दी के साहित्य में आए रामायण-विषयक वर्णन बम्बई-संस्करण से अधिक सम्बन्ध रखते हैं। ग्यारहवीं शताब्दी के क्षेमेन्द्र की रामायणमंजरी से सिद्ध होता है कि उस समय काश्मीरिक संस्करण विद्यमान था। ग्यारहवीं शताब्दी के भोज के रामायण चम्पू का आधार बम्बई-संस्करण है। सच तो यह है कि इन संस्करणों ने विभिन्न रूप अब से बहुत काल पहले धारण कर लिए थे। तब से लेकर वे उसी रूप में चले आ रहे हैं। केवल एक के आधार पर दूसरे में वहीं परिवर्तन हुआ है, जहाँ ऐसा होना कुछ असम्भव था।

(घ) **वर्णनीय विषय**—रामायण में लगभग चौबीस हजार श्लोक हैं। सारा ग्रंथ सात कांडों में विभक्त है।

कांड १—(**बाल-कांड**) इसमें राम के नवयौवन, विश्वामित्र के साथ जाने, उनके यज्ञ की रक्षा करने, राक्षसों के मारने और सीता के साथ विवाह हो जाने का वर्णन है।

काण्ड २—(**अयोध्या कांड**)। इसमें राम के राजतिलक की तैयारी,

---

१. 'वाल्मीकि-रामायण—टिप्पणियों और अनुवाद के साथ मूल ग्रंथ (३ जिल्दें) सन् १८२९ से १८३८ तक।

२. बंगाली संस्करण का प्रादुर्भाव बंगाल में हुआ, जो गौडी रीति से पूर्ण श्रेण्य संस्कृत साहित्य का केन्द्र था और जहाँ ऐतिहासिक महाकाव्य की भावना की स्वतन्त्रता का लोप हो चुका था। यही बात काश्मीरिक संस्करण के बारे में भी जाननी चाहिए। अन्तर इतना ही है कि बंगाल में गौडी रीति अधिक प्रचलित थी तो इस ओर पाञ्चाली।

कैकेयी द्वारा किए जाने वाले विरोध, राम के वन जाने, राम के वियोग में दशरथ के मरने और राम को लौटाने के लिए भरत के चित्रकूट जाने का वर्णन है।

काण्ड ३—(अरण्यकाण्ड)। इसमें राम के दण्डक वन में रहने, विराध इत्यादि राक्षसों के मारने, फिर पञ्चवटी में रहने, राम के पास शूर्पणखा के आने, चौदह हजार निशाचरों के साथ खर को मारने, रावण द्वारा सीता के चुराये जाने और सीता के वियोग में राम के रोते फिरने का वर्णन है।

काण्ड ४—(किष्किन्धाकाण्ड)। इसमें राम का सुग्रीव को अपने साथ मिलाने, बाली को मारने, और बन्दरों को साथ लेकर हनुमान् का सीता की खोज में जाने का वर्णन है।

काण्ड ५—(सुन्दरकाण्ड)। इसमें लंका के सुन्दर द्वीप, रावण के विशाल महल, हनुमान् का सीता को धीरज बंधाने और सीता का पता लेकर हनुमान् के वापस लौटने का वर्णन है।

काण्ड ६—(युद्धकाण्ड)। यह सबसे बड़ा काण्ड है। इसमें रावण पर राम की विजय का वर्णन है।

काण्ड ७—(उत्तरकाण्ड)। इसमें अयोध्या में बीतने वाले राम के अन्तिम जीवन, सीता के बारे में लोकापवाद, सीता-निर्वासन, सीता-शोक, वाल्मीकि के आश्रम में कुश-लव के जन्म और अन्त तक की सारी कथा का वर्णन है।

(ङ) उपाख्यान—रामायण में कई सुन्दर उपाख्यान भी हैं। वे विशेष करके पहले और सातवें काण्ड में पाये जाते हैं। प्रसिद्ध-प्रसिद्ध उपाख्यान ये हैं—

वामन-अवतार (१; २९), कार्त्तिकेय-जन्म (२, ३५-३७), गङ्गा-वतरण (२, ३८-४४), समुद्रमंथन (१, ४५), श्लोक-प्रादुर्भाव[1] (१, २),

---

१. इस उपाख्यान का संक्षेप यह है—एक दिन जंगल में भ्रमण करते

ययाति-नहुष (७,५८), वृत्र-वध (७, ८४-८७), उर्वशी-पुरूरवा (७, ८९-९०), शूद्रतापस शम्बूक (७)।

(च) विशुद्धता—कई लक्षण ऐसे हैं, जिनसे यह प्रतीत होता है कि रामायण की यथार्थ कथा छठे काण्ड में ही समाप्त हो जाती है। सातवाँ काण्ड उन उपाख्यानों से भरा पड़ा है, जिनका मूल कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। उदाहरणार्थ सातवें काण्ड के प्रारम्भिक भाग में राक्षसों की उत्पत्ति, रावण के साथ इन्द्र के युद्ध, हनुमान् के यौवन-काल का वर्णन है तथा कुछ एक अन्य कहानियाँ हैं, जिनसे मूल कथा की गति में पर्याप्त बाधा पड़ती है। इसी प्रकार पहले काण्ड में भी ऐसा पर्याप्त अंश है, जो वस्तुतः मौलिक रामायण में सम्मिलित नहीं रहा होगा। इस बारे में निम्नलिखित बातें याद रखने योग्य हैं—

(१) पहले और सातवें काण्ड की भाषा तथा शैली शेष काण्डों से निकृष्ट है।

(२) पहले और सातवें काण्ड में परस्पर-विरोधी अनेक बातें हैं। पहले काण्ड के अनेक कथा-विवरण अन्य काण्डों के कथा-विवरणों के विरुद्ध हैं। उदाहरणार्थ देखिए लक्ष्मण का विवाह।

(३) दूसरे से लेकर छठे काण्ड तक प्रक्षिप्त अंशों को छोड़कर, राम को

हुए वाल्मीकि ने एक क्रौञ्च-मिथुन को स्वैर विहार करते हुए देखा। उसी समय एक व्याध ने नरक्रौञ्च को तीर से मार डाला। यह देखकर वाल्मीकि से न रहा गया। उनका हृदय करुणा से द्रवित हो गया। उन्होंने तत्काल उस व्याध को शाप दे दिया, जो उनके मुख से अनजाने श्लोक के रूप में निकल पड़ा। तब ब्रह्मा ने उसी 'श्लोक' छन्द में उनसे राम का यशोगान करने के लिए कहा। ऐच० जैकोबी का विचार है कि इस उपाख्यान का आधार शायद यह बात है कि हम परिपक्वावस्था को प्राप्त हुए श्लोक का मूल वाल्मीकि रामायण में ही देख सकते हैं, इससे पहले के किसी ग्रन्थ में नहीं।

एक आदर्श वीर मनुष्य माना गया है; परन्तु पहले और सातवें काण्ड में उन्हें निस्सन्देह विष्णु का अवतार दिखलाया गया है।

(४) पहले काण्ड में सारी रामायण-कथा की दो अनुक्रमणिकाएँ दी गई हैं—एक पहले सर्ग में और दूसरी तीसरे में। उनमें से एक अनुक्रमणिका में पहले और सातवें काण्ड का उल्लेख नहीं है।

इन आधारों पर प्रोफेसर जैकोबी[1] ने निश्चय किया है कि दूसरे से लेकर छठे काण्ड तक का भाग रामायण का असली भाग है, जिसके आगे पीछे पहले और सातवें काण्ड बाद में जोड़ दिए गए हैं। और असली भाग में भी कहीं-कहीं मिलावट कर दी गई है। दूसरे काण्ड के कई प्रारम्भिक सर्ग पहले काण्ड में मिला दिये गये हैं। असली रामायण आज कल के प्रथम काण्ड के पाँचवें सर्ग से प्रारम्भ होती थी।

(छ) काल (१) **महाभारत के सम्बन्ध से**—रामायण का असली भाग महाभारत के असली भाग से पुराना है। रामायण में महाभारत के किसी वीर का उल्लेख नहीं है। हाँ, महाभारत में राम की कहानी का जिक्र आया है। इसके अतिरिक्त महाभारत के सातवें पर्व में रामायण के छठे काण्ड से दो श्लोक उद्धृत किए गए हैं और महाभारत के तीसरे पर्व के २७७ से २९१ तक के अध्यायों में रामोपाख्यान है, जो रामायण पर आश्रित प्रतीत होता है। सच तो यह है कि रामोपाख्यान का रचयिता इस बात का विश्वासी प्रतीत होता है कि महाभारत के श्रोताओं को राम की कहानी याद है।

---

१. 'रामायण' में जैकोबी कहते हैं—'जैसे हमारे अनेक पुराने, पूजनीय गिरजाघरों में हर एक नई पीढ़ी ने कुछ न कुछ नया भाग बढ़ा दिया है और कुछ पुराने भाग की मरम्मत करवा दी है और फिर भी असली गिरजाघर की रचना को नष्ट नहीं होने दिया है। इसी प्रकार भाटों की अनेक पीढ़ियों ने असली भाग को नष्ट न करते हुए रामायण में बहुत कुछ बढ़ा दिया है, जिसका एक-एक अवयव तक अन्वेषक की आँख से छिपा हुआ नहीं है।'

(२) बौद्ध-साहित्य के सम्बन्ध से—इस बारे में अधोलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं :—

अ—पाली जातकों[1] में दशरथ जातक (रामोपाख्यान) कुछ अदल बदलकर कहा गया है। इस जातक में पाली के रूप में रामायण (६, १२८) का एक श्लोक भी पाया जाता है।

आ—रामायण के दूसरे काण्ड के त्रिसठवें सर्ग में दशरथ ने शिकार के समय में मारे जानेवाले जिस तापस-कुमार की कथा सुनाई है, साम जातक[2] में वह कथा शायद अधिक पुराने रूप में पाई जाती है।

इ—कुछ और भी जातक[3] हैं, जिनमें ऐसे प्रकरण आते हैं, जो रामायण की याद दिलाते हैं। हाँ, उन प्रकरणों और रामायण के प्रकरणों में समानता केवल कहीं-कहीं पाई जाती है।

ई—प्रोफेसर सिलवेन लेवी ने इस विषय का गहरा अध्ययन किया है। उनका कहना है कि बौद्ध ग्रन्थ सद्धर्मस्मृत्युस्थान[4] निस्सन्देह वाल्मीकि का ऋणी है। उक्त ग्रन्थ का जम्बूद्वीप-वर्णन रामायण के दिग्वर्णन से बिलकुल मिलता है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में नदियों समुद्रों, देशों और द्वीपों का उल्लेख बिलकुल उसी शैली से किया गया है, जिस शैली से यह रामायण में है।[5]

---

१. साहित्य में ये जातक अपने प्रकार के आप ही हैं। इनमें पूर्ण बुद्ध बनने से पहले के बुद्ध के जन्म-जन्मान्तरों की कथाएँ कही गई हैं।

२ त्रिपिटक में आया हुआ एक पाली जातक।

३. विंटरनिट्ज़ कृत भारतीय साहित्य का इतिहास (इङ्गलिश) भाग १, पृष्ठ ५०९।

४. मूल ग्रन्थ अप्राप्य है। किन्तु इसका एक बड़ा टुकड़ा शांतिदेव के शिक्षा-समुच्चय में सुरक्षित है।

५. यदि कहा जाय कि शायद वाल्मीकि ने ही बौद्ध-स्मृतियों से कुछ लिया हो, तो ठीक नहीं, कारण कि ब्राह्मण धर्म

उ—भाषा के आधार पर भी ऐच० जैकोबी इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि रामायण बौद्ध काल से पहले की है[1]।

ऊ—क्या बौद्धधर्म की बातें रामायण में सिद्ध की जा सकती हैं? इस प्रश्न को लेकर प्रो० विंटरनिट्ज़ कहते हैं—"शायद इस प्रश्न का उत्तर 'नहीं' में है। क्योंकि रामायण में जिस एक स्थल पर बुद्ध का नाम आया है, वह अवश्य बाद की मिलावट है"

(३) यूनानियों के सम्बन्ध से—सारी रामायण में केवल दो पद्यों में यवनों (यूनानियों) का नाम पाया जाता है। इन्हीं के आधार पर प्रो० वेबर ने यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि रामायण की कथा पर यूनानियों का प्रभाव पड़ा है। किन्तु प्रो० जैकोबी ने इस निश्चय में सन्देह की कोई गुंजायश नहीं छोड़ी कि ये दोनों पद्य ३०० ई० के बाद कभी मिलाए गए हैं।

(४) आभ्यन्तरिक साक्ष्य—अ—असली रामायण में कोसल की राजधानी अयोध्या कही गई है। बाद में बौद्धों ने, जैनों ने, यूनानियों ने, यहाँ तक कि पतंजलि ने भी अयोध्या नगरी को साकेत[2]

के बारे में इतने कृपण थे कि उनके द्वारा बौद्ध ग्रन्थों से कुछ लेने की सम्भावना नहीं है। इसके अतिरिक्त, रामायण में उच्चतम सदाचार की शिक्षा है, जिसे वाल्मीकि ने किसी अप्रसिद्ध बौद्धग्रन्थ से नहीं लिया होगा। हाँ, इसके विपरीत बौद्धों द्वारा ब्राह्मणों के ग्रन्थों से बहुत कुछ लेने के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

१ यदि वाल्मीकि बुद्ध के बाद हुआ होता तो वह इस प्रकार के सर्वप्रिय ऐतिहासिक महाकाव्य को प्राकृत में लिखता।

२. इस नगर की नींव डालने वाला नृप कालाशोक था जिसकी अध्यक्षता में लगभग ३०० ई० पू० वैशाली में बौद्धों की दूसरी सभा हुई थी। मेगस्थनीज़ (३०० ई० पू०) से पहले ही यह भारत की राजधानी बन चुका था।

के नाम से दिया है। लव की राजधानी, जैसा कि सप्तम काण्ड में दी गई है, श्रावस्ती के उस स्थान पर स्थापित की गई थी जहाँ बुद्ध के समय में कोसलराज प्रसेनजित् राज्य करता था। असली रामायण (काण्ड २—६) में श्रावस्ती का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। इससे ज्ञात होता है कि असली रामायण उस समय रची गई जिस समय अयोध्या नगरी विद्यमान थी, इसका नाम साकेत नहीं पड़ा था और श्रावस्ती नगरी प्रसिद्ध नहीं हो पाई थी।

आ—प्रथम काण्ड (श्लोक ३५) में कहा गया है कि राम उस स्थान से होकर गये, जहाँ पाटलिपुत्र (आजकल का पटना) स्थित है। जहाँ रामायण की प्रसिद्धि पहुँच चुकी थी, उसमें पूर्वी भारत के कौशाम्बी, कान्यकुब्ज और काम्पिल्य जैसे कुछ महत्वशाली नगरों के नाम भी पाये जाते हैं। सारी रामायण में पाटलिपुत्र का नाम कहीं भी नहीं आता, यदि रामायण काल में यह नगर विद्यमान होता तो इसका उल्लेख अवश्य होता।

इ—बालकाण्ड में मिथिला और विशाला को दो भिन्न राजाओं के आधीन जोड़िया नगरियाँ बताया गया है। हम जानते हैं कि बुद्ध के समय से पूर्व ही ये दोनों नगरियाँ वैशाली के एक प्रसिद्ध नगर के रूप में परिवर्तित हो चुकी थीं।

ई—इसके अतिरिक्त, हमें पता लगता है कि रामायण के काल में भारतवर्ष छोटे-छोटे भागों में बँटा हुआ था, जिसमें छोटे-छोटे राजा राज करते थे[1]। भारत की यह राजनीतिक दशा केवल बुद्ध के पूर्व तक ही रही।

अन्त में हम कह सकते हैं कि असली रामायण ५०० ई० पूर्व से पहले बन चुकी होगी।

[यह युक्ति दी जाती है कि रामायण की भाषा, विशेष करके

---

१. इसके विरुद्ध, महाभारत में हमें जरासन्ध जैसे शक्तिशाली राजाओं का वर्णन मिलता है, जिनका शासन है, अधिक देश तक विस्तृत था।

बम्बई वाले संस्करण की भाषा, ऐतिहासिक महाकाव्यों की ओर ध्यान न देने वाले वैयाकरण पाणिनि की भाषा से बाद की भाषा के रूप की अवस्था को प्रकट करती है। किन्तु इससे रामायण का कोई पाणिनि के बाद का समय सिद्ध नहीं होता है। पाणिनि ने केवल शिष्टों की परिष्कृत भाषा को ही अपने विचार का क्षेत्र रक्खा था और सर्वप्रिय भाषा की ओर ध्यान नहीं दिया था। दूसरी ओर, यदि रामायण पाणिनि के बाद बनी होती तो यह पाणिनि के व्याकरण के प्रबल प्रभाव से नहीं बच सकती थी।]

(च) शैली—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, संस्कृत के सभी लेखकों ने रामायण को आदिकाव्य और इसके रचयिता को आदि कवि कहा है। ऐसा होने से यह विस्पष्ट है कि रामायण संस्कृत काव्य की प्रारम्भिक अवस्था को हमारे सामने रखती है। श्लोक छन्द की उत्पत्ति की कथा, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, सूचित करती है कि इस छन्द का प्रादुर्भाव वाल्मीकि से हुआ। रामायण की भाषा आदि से अन्त तक प्राञ्जल और परिष्कृत है। अलङ्कारों की छटा बार-बार देखने को मिलती है। उपमा और रूपक के प्रयोग में वाल्मीकि अत्यन्त निपुण हैं। भाषा की सरलता और भाव की विशदता उनकी कविता शैली की विशेषता है।

(९) महाभारत

(क) वर्तमान महाभारत असल महाभारत का समुपबृंहित रूप है। असल महाभारत वस्तुतः एक ऐतिहासिक ग्रन्थ था, न कि औपदेशिक। सम्भवतः व्यास ने इसे 'जय[1]' का नाम दिया। जैसा कि वर्णित घटनाओं

---

१. मिलाकर देखिए, १८ वें पर्व का वाक्य 'जयो नामेतिहासोऽयम्'। इसके अतिरिक्त महाभारत का प्रत्येक पर्व वक्ष्यमाण आशीर्वाद से प्रारम्भ होता है—

नारायणं नमस्कृत्य नरञ्चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीञ्चैव ततो जयमुदीरयेत्॥

के समारोह से प्रतीत होता है। असली ग्रन्थ में भी लम्बे-लम्बे वर्णन थे। जैसा कि मैकडानल ने कहा है कि असल महाभारत कदाचित् ८,८००[1] श्लोकों तक ही परिमित नहीं था।

महाभारत के विकास में तीन विशिष्ट काल देखे जाते हैं। आदिपर्व में एक श्लोक है—

मन्वादि भारतं केचिदस्तिकादि तथापरे।
तथा परिचराद्यन्ये विप्राः सम्यगधीयते ॥

(कुछ विद्वान् भारत का प्रारम्भ मनु-उपाख्यान से, कुछ अस्तिक-उपाख्यान से और कुछ परिचर-उपाख्यान से मानते हैं।)

उक्त तीनों कालों में से प्रथमकाल में व्यास ने अपने पाँच प्रधान शिष्यों में से एक शिष्य वैशम्पायन को महाभारत पढ़ाया। यह असली ग्रन्थ कदाचित् परिचर-उपाख्यान से प्रारम्भ होने वाला ग्रन्थ है।

दूसरे काल में यह ग्रन्थ वैशम्पायन ने सर्प-सत्र में जन्मेजय को सुनाया। इस काल के ग्रन्थ में कदाचित् २४००० श्लोक थे। यह ग्रन्थ अस्तिक-उपाख्यान से प्रारम्भ होता है।

तीसरे काल में द्वितीयकालीन विस्तृत ग्रन्थ सौति ने शौनक को सुनाया, जब शौनक द्वादशवर्षीय यज्ञ कर रहे थे, जब कि शौनक ने कुछ प्रश्न किये, और सौति ने उनका उत्तर दिया। आजकल के एक लाख श्लोकों की संख्या इस तीसरे काल में ही प्रायः पूर्ण हुई होगी। मिलाइए—

अस्मिंस्तु मानुषे लोके वैशम्पायन उक्तवान्।
एवं शतसहस्रं तु मयोक्तं वै निबोधत ॥

---

१ कदाचित् यह संख्या श्लोकों की नहीं, कुछ श्लोकों की है, जो महाभारत में आये हैं।

यह ग्रन्थ मनु-उपाख्यान से प्रारम्भ होता है। कदाचित् सौति ने इस ग्रन्थ का नाम महाभारत रक्खा था[1]।

मूलावस्था में महाभारत को 'इतिहास, पुराण या आख्यान' की श्रेणी में सम्मिलित किया जाता था[2]। आजकल यह आचारविषयक उपदेशों का विश्वकोष है। यह मनुष्य को 'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष' इन चारों पदार्थों की प्राप्ति कराता है। इसे पंचम वेद भी कहा जाता है[3]। इसे कृष्ण-वेद (कृष्ण का वेद) भी कहते हैं[4]। ग्रन्थ भर में वैष्णव सिद्धान्तों की सबसे अधिक प्रधानता होने के कारण इसे 'वैष्णवों की स्मृति' भी कहते हैं। सच तो यह है कि वर्तमान महाभारत में औपदेशिक अंश ऐतिहासिक अंश की अपेक्षा कम से कम चारगुना है।

(ख) **महत्त्व**—यद्यपि महाभारत रामायण के समान सर्वप्रिय नहीं है तथापि इसका महत्त्व रामायण से किसी प्रकार कम नहीं है। इसका ऐतिहासिक अंश महायुद्ध तथा कौरवों और पाण्डवों के विस्तृत इतिवृत्त का वर्णन करता है। इसके द्वारा हमें तत्कालीन सामाजिक एवं राज-नीतिक विचारों का भी पता लगता है। इससे आर्यों की तत्कालीन सभ्यता पर भी प्रकाश पड़ता है। इसका महत्त्व इस कारण से भी है कि यह हमें केवल शान्ति-विद्या की ही नहीं, रण-विद्या की भी बहुत सी बातें

---

१. मिलाइए,

महत्वाद् भारतत्वाच्च महाभारतमुच्यते।

पाणिनि को युधिष्ठिर जैसे वीरों का तो पता है किन्तु महाभारत नामक किसी ग्रन्थ का नहीं। इससे भी अनुमान होता है कि महाभारत नाम की उत्पत्ति बाद में हुई।

२. इन शब्दों को भारतीय प्रायः पर्याय-वाची के तौर पर प्रयुक्त करते हैं।

३. वेदों के समान प्रामाण्य-पूर्ण यह क्षत्रियों को उनके सांग्रामिक जीवन के विषय में शिक्षायें देता है।

४. यह क्षत्रियों को कृष्णोपासना का उपदेश करता है, जिससे उन्हें अवश्य सफलता और कल्याण मिलेगा। (सिलवेन लेवी।)

बताता है, इसके औपदेशिक अंश ने, अपने प्रचलित उच्च प्रामाण्यगुण द्वारा, इस ग्रन्थ का पंचमवेद नाम सार्थक कर दिया है[1], जिससे इसका महत्त्व पूर्णतया सिद्ध होता है।

(ग) साधारण संस्करण—महाभारत के हमें दो साधारण संस्करण प्राप्त होते हैं—(१) देव नागरी (या उत्तर-भारत) संस्करण (२) दक्षिण भारत-संस्करण।

इन दोनों संस्करणों में परस्पर प्रायः इतना ही भेद है, जितना रामायण के संस्करणों में। आकार में वे प्रायः बराबर हैं। जो बातें एक में छोड़ दी गई हैं, वे दूसरे में मिल जाती हैं। इसकी पूर्ण हस्तलिखित प्रतियाँ भारत के अनेक स्थानों के अतिरिक्त यूरोप, लन्दन, पेरिस और बर्लिन में भी पाई जाती हैं। अपूर्ण हस्तलिखित प्रतियों की संख्या तो बहुत है। किन्तु कोई भी हस्तलिखित प्रति चार पाँच सौ वर्ष से अधिक पुरानी नहीं है। अतः हमारे लिए यह संभव नहीं कि हम असली महाभारत का ठीक-ठीक पुनर्निर्माण कर लें या किसी एक हस्तलिखित प्रति को दूसरी से यथार्थ में उत्कृष्ट सिद्ध कर सकें।

(घ) आलोचनापूर्ण संस्करण १—एक संस्करण, जिसमें हरि-वंश भी सम्मिलित है, कलकत्ते में[2] (१८३४-३९) चार भागों में छपा था। इसमें कोई टीका नहीं है। २—एक और संस्करण बम्बई में १८६३ में प्रकाशित हुआ था। इसमें हरिवंश सम्मिलित नहीं, किन्तु इसमें नीलकंठ की टीका मुद्रित है। इसके पाठ उपर्युक्त कलकत्ता-संस्करण के पाठों से अच्छे हैं और यह तब से कई बार छप चुका है।

सूचना—ये दोनों संस्करण उत्तरभारत-संस्करण हैं। अतः इन दोनों में परस्पर अधिक भेद नहीं है।

---

१. यह मानना होगा कि ब्राह्मण-धर्म (वैदिक धर्म) में वेदों के बराबर किसी का प्रामाण्य नहीं है।

२. कलकत्ते में एक और संस्करण १८७५ में प्रकाशित हुआ था। इसमें नीलकण्ठ की टीका के साथ साथ अर्जुनमिश्र की टीका भी छपी है।

एक और संस्करण मदरास में (१८५५–६०) चार भागों में छपा था। इसका मुद्रण दक्षिण भारत-संस्करण के आधार पर तैलगु लिपि में हुआ है। इसमें नीलकण्ठी टीका के अंश और हरिवंश भी सम्मिलित हैं।

महाभारत का सचित्र और आलोचना-चर्चित (Critical) संस्करण पूना से भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट द्वारा प्रकाशित हो रहा है। इसका आधार मुख्यतया उत्तर भारत-संस्करण है।

अब तक महाभारत का कोई संस्करण भारत से बाहर प्रकाशित नहीं हुआ है।

(ङ) टीकाएँ—सबसे पुरानी टीका जो आजकल मिलती है, सर्वज्ञ-नारायण की है। यह यदि बहुत ही नयी हो तो भी १४ वीं शताब्दी के बाद की नहीं हो सकती। दूसरी टीका अर्जुन मिश्र की है, जिसके उद्धरण नीलकण्ठ ने अपनी टीका में दिये हैं। यह कलकत्ता के (१८७५) संस्करण में प्रकाशित हुई है। सबसे अधिक प्रसिद्ध टीका नीलकण्ठ की है। बर्नेल के मत से नीलकण्ठ १६ वीं शताब्दी में हुए हैं। वे महाराष्ट्र में कूरपुरा के रहनेवाले थे।

(च) वर्णनीय विषय—अनुमान यह है कि व्यास का असली ग्रन्थ पर्वों और अध्यायों में विभक्त था। वैशम्पायन ने भी उसी क्रम को स्थिर रक्खा। उसके ग्रन्थ में प्रायः सौ पर्व थे। सौति ने उनको १८ पर्वों में निबद्ध कर दिया[1]। बहुत बार मुख्य पर्व और

---

१. उन अठारह पर्वों के नाम ये हैं—(१) आदि, (२) सभा, (३) वन, (४) विराट्, (५) उद्योग, (६) भीष्म, (७) द्रोण, (८) कर्ण, (९) शल्य, (१०) सौप्तिक, (११) स्त्री, (१२) शान्ति, (१३) अनुशासन, (१४) अश्वमेध, (१५) आश्रमवासी, (१६) मौसल, (१७) महाप्रस्थानिक, (१८) स्वर्गारोहण।

इसके भाग का नाम एक ही पाया जाता है; उदाहरणार्थ, मुख्य सभा पर्व में एक छोटा सभापर्व है[१]।

इसके अतिरिक्त कुछ परिशिष्ट भाग भी है, जिसे खिलपर्व या हरिवंश कहते हैं। महाभारत में इसकी यही स्थिति है, जो रामायण में उत्तर-काण्ड की। महाभारत में दिये हुए समग्र श्लोकों की संख्या ९५,८२६ अर्थात् मोटे रूप में एक लाख है।

(छ) प्रतिपादित वस्तु—आदिपर्व में कौरव-पाण्डवों के शैशव, द्रौपदी के विवाह और पाण्डवों का यदुनाथ कृष्ण के साथ परिचय वर्णित है। दूसरे पर्व में इन्द्रप्रस्थ में रहते हुए पाण्डवों की समृद्धि का तथा युधिष्ठिर द्वारा दुर्योधन के साथ जुए में द्रौपदी तक को मिलाकर सब कुछ हार जाने का वर्णन है। अन्त में पाण्डवों ने बारह साल का साधारण और एक साल का अज्ञात वनवास स्वीकार कर लिया। वनपर्व में पाण्डवों के बारह वर्ष तक काम्यक वन में रहने का तथा विराट पर्व में उनके मत्स्यराज विराट् के घर अज्ञातवास के तेरहवें साल का वर्णन है।

क्योंकि कौरवों ने पाण्डवों की न्यायपूर्ण माँगों का सहानुभूति-भरा कोई उत्तर नहीं दिया अतः उद्योगपर्व में पाण्डवों की युद्ध की तैयारी का वर्णन है। अगले पांच पर्वों में उस भारी संग्राम का विस्तार से वर्णन है, जिसमें पाण्डवों और कृष्ण को छोड़कर सब मारे गये। ग्यारहवें पर्व में मरे हुए के अग्नि-संस्कार का वर्णन है। अगले दो पर्वों में राजधर्म पर युधिष्ठिर को दिया गया भीष्म का लम्बा उपदेश है। चौदहवें पर्व में युधिष्ठिर के राजतिलक और अश्वमेध यज्ञ का वर्णन है। पन्द्रहवें में धृतराष्ट्र तथा गान्धारी का वन गमन वर्णन, सोलहवें में यादवों का परस्पर—कलह और व्याध के तीर से श्रीकृष्ण की अचानक मृत्यु वर्णित है। सत्रहवें में दिखाया गया है कि किस प्रकार

१. इससे प्रतीत होता है कि क्रम-प्रबन्ध के कर्ता कम-से-कम दो आदमी अवश्य हैं।

पाण्डव लोग जीवन से उकताकर मेरु पर्वत पर चले गये और अपने पीछे अर्जुन के पोते परीक्षित पर प्रजा-पालन का भार रख गये। अन्तिम पर्व में पाण्डवों के स्वर्गारोहण की कथा है।

हरिवंश में १६ हजार श्लोक हैं और सारा ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में श्रीकृष्ण के पूर्वजों का, दूसरे में श्रीकृष्ण के पराक्रमों का, और तीसरे में कलियुग की आगामी बुराइयों का वर्णन है।

(ज) उपाख्यान—रामायण की अपेक्षा महाभारत में उपाख्यानों की संख्या बहुत अधिक है। कुछ उपाख्यान ऐसे भी हैं, जो दोनों महाकाव्यों में पाये जाते हैं। वनवास की दशा में पाण्डवों को धैर्य बँधाने के लिए वनपर्व में बहुत-सी कथाएँ कही गयी हैं। मुख्य-मुख्य उपाख्यान ये हैं—(१) रामोपाख्यान अर्थात् राम की कहानी (२) नलोपाख्यान अर्थात् नल और दमयन्ती की कथा, जो भारत में बहुत ही सर्वप्रिय हो चुकी है। (३) सावित्री सत्यवान—वह उपाख्यान जिसमें भारतीय आदर्श-पत्नी का चित्र अङ्कित किया गया है, यह कहानी भी भारत में बहुत प्रेम से सुनी जाती है। (४) शकुन्तलोपाख्यान। यही उपाख्यान कालिदास के प्रसिद्ध शकुन्तला नाटक का आधार है। (५) गंगावतरण। यह ठीक वैसा ही है जैसा रामायण में है। (६) मत्स्योपाख्यान। इसमें एक प्राचीन जलाप्लाव कथा है। (७) उशीनर[1] की कथा, शिवि की कथा, वृषदर्भ की कथा, इत्यादि।

(झ) महाभारत ने वर्तमान रूप कैसे प्राप्त किया ?—अब अगला प्रश्न यह है कि महाभारत ने वर्तमान विशाल आकार कैसे धारण किया ? ऊपर कहा जा चुका है कि असली कथांश सारे ग्रन्थ का पांचवां भाग है। शेष चार भाग औपदेशिक सामग्री रखते हैं। यह

---

१. इन राजाओं ने बाज से कबूतर की जान बचाने के लिए अपनी जान दी थी।

औपदेशिक सामग्री कई प्रकार से बढ़ाई गई है, जिनमें से मुख्य-मुख्य ये हैं :—

कहानियों और वर्णनों की पुनरुक्ति,[१] उपाख्यानों और दृश्यवर्णनों की नकल,[२] आगामी घटनाओं की भविष्यवाणियां-[३] कुछ परिस्थितियों की व्याख्या,[४] और काव्य-अलंकारों का उपयोग[५]। किंतु सबसे मुख्य कारण सौति की यह इच्छा है कि महाभारत को एक विस्तृत धर्मशास्त्र, ज्ञान का विशाल भण्डार[६] और और औपाख्यानिक विद्या की गहरी खान बनाया जाय। विशेष उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि समग्र शान्तिपर्व बाद की मिलावट प्रतीत होता है। यह सारा पर्व भीष्म के मुख से कहलाया गया है, जिसकी मृत्यु छः महीने के लिए रुक गई थी। सातवें पर्व में 'हतो भीष्मः' (भीष्म मारा गया), 'त्याजितः समरे प्राणान्' (युद्ध में उससे प्राण छोड़े गए) इत्यादि ऐसे वाक्य हैं, जिनसे जाना जाता है कि वस्तुतः भीष्म शान्तिपर्व की कथा तक जीवित ही नहीं थे।

(ञ) काल—सम्पूर्ण महाभारत को एक साथ लेकर उसके लिए किसी काल का निश्चित करना असम्भव है। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, महाभारत के विकास के तीन मुख्य काल हैं। अतः असली-

---

१. जैसे; वनपर्व में यात्राओं का पुनः पुनः वर्णन ।

२. जैसे; वनपर्व में यक्ष-प्रश्नोपाख्यान नहुप-उपाख्यान की नकल है।

३. कभी-कभी इसकी अति देखी जाती है। जैसे; युधिष्ठिर ने भीष्म से प्रश्न किया है कि आपकी मृत्यु किस प्रकार हो सकती है।

४. जैसे; भीम का दुःशासन के रुधिर का पीना। कई बातों की व्याख्या करने के लिए स्वयं व्यास का कई अवसरों पर प्रकट होना।

५. जैसे; युद्ध के, शोक के एवं प्राकृतिक दृश्यों के लम्बे-लम्बे वर्णन।

६. जैसे; देखिए भूगोल सम्बन्धी जम्बूखण्ड और भूखण्ड का विस्तृत वर्णन।

महाभारत के काल और आजकल के महाभारत के काल में कई शताब्दियों का अन्तर।

अ—वह काल जिसमें महाभारत ने वर्तमान रूप धारण किया। इस प्रकरण में निम्नखित बातें ध्यान में रखने योग्य हैं :—

(१) ईसा की ११वीं शताब्दी में क्षेमेन्द्र ने भारतमंजरी लिखी। इसमें महाभारत का संक्षेप है। आजकल महाभारत के जितने संक्षेप मिलते हैं, उनमें सबसे पुराना यही है। प्रो० बुहलर ने इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रतियों की महाभारत के साथ विस्तृत तुलना करके दिखाया है कि क्षेमेन्द्र का असली ग्रन्थ आजकल के महाभारत से बहुत भिन्न नहीं है।

(२) शंकराचार्य (८ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध) ने कहा है कि उन (स्त्रियों और शूद्रों) के लिए जो वेदाध्ययन के अधिकारी नहीं हैं, महाभारत धर्मशिक्षा के लिए स्मृति के स्थान पर है।

(३) वेदों के महान् विद्वान् कुमारिल ने (८ वीं शताब्दी का प्रारम्भ) अपने तन्त्रवार्त्तिक में महाभारत के १८ पर्वों में से कम से कम दस पर्वों में से उद्धरण दिये हैं या उनकी ओर संकेत किया है। (उन दस पर्वों में १२ वाँ, १३वाँ और १८वाँ सम्मिलित है, जो तीनों के तीनों निस्सन्देह बाद की मिलावट हैं।)

(४) ७वीं शताब्दी के बाण, सुबन्धु इत्यादि कवियों ने महाभारत के १८ वें पर्व में से ही कथाएँ नहीं लीं, वे हरिवंश से भी परिचित थे।

(५) भारत के दूरदेशीय कम्बोज नामक उपनिवेश के लगभग छठी शताब्दी के एक शिलालेख में उत्कीर्ण है कि वहाँ के एक मन्दिर को रामायण और महाभारत की प्रतियाँ भेंट चढ़ाई गई थीं। इतना ही नहीं, दाता ने उनके निरन्तर पाठ होते रहने का भी प्रबन्ध कर दिया था।

(६) महाभारत जावा और बाली द्वीपों में छठी शताब्दी में मौजूद था। तिब्बत की भाषा में इसका अनुवाद छठी शताब्दी से भी पहले हो चुका था।

(७) चौथी और पाँचवीं शताब्दी के भू-दान के लेख-पत्रों में महाभारत को स्मृति (धर्मशास्त्र) के नाम से उद्धृत किया गया है।

(८) सन् ४६२ ई० का एक शिलालेख महाभारत में निश्चित रूप से एक लाख श्लोक बतलाता है और कहता है कि इसके रचयिता पराशर के पुत्र वेदव्यास महामुनि व्यास हैं[1]।

(९) शान्तिपर्व के तीन अध्यायों का अनुवाद सीरियन भाषा में मिलता है। उनके आधार पर प्रो० हर्टल ने जो लिखा है उससे, विश्वास हो जाता है कि श्लोकबद्ध महाभारत, जिस रूप में आजकल उपलब्ध होता है, सन् ५०० ई० में भी प्रायः ऐसा ही था। चीनी तुर्किस्तान और चीनी साहित्य की जो छानबीन हाल में हुई है, उससे तो यह भी जाना जा सकता है कि सन् ५०० ई० में ही नहीं, उससे भी कई शताब्दी पहले महाभारत का यही रूप था। आशा की जाती है कि महायान बौद्ध ग्रन्थों के अधिकाधिक अनुसन्धान से इस विषय पर और भी अधिक रोशनी पड़ेगी।

(१०) डायन क्राइसस्टन का एक साक्ष्य मिलता है कि एक लाख श्लोकों वाला महाभारत सन् ५० ई० में दक्षिण भारत में सुप्रसिद्ध था[2]।

(११) वज्रसूची के रचयिता अश्वघोष (ईसा की प्रथम शताब्दी) ने हरिवंश में से एक श्लोक उद्धृत किया है।

(१२) भास के कुछ नाटक महाभारतगत उपाख्यानों पर अवलम्बित हैं।

इस प्रकार मैकडानल के शब्दों में हम इस प्रकरण को यों समाप्त

---

१. इस बात से प्रो० हौल्ट्जमैन के इस वाद का पूर्णतया खंडन हो जाता है कि महाभारत को धर्मशास्त्र का रूप ९०० ई० के बाद ब्राह्मणों ने दिया था।

२. देखिए, चिन्तामणि विनायक वैद्य की 'महाभारतमीमांसा'।

कर सकते हैं कि "हमारा यह मानना ठीक है कि यह महान् ऐतिहासिक महाकाव्य (महाभारत) हमारे संवत्सर (सन् ईसवी) के प्रारम्भ से पहले ही एक औपदेशिक संग्रह-ग्रन्थ बन चुका था"[1]।

[हाँ, कुछ भाग ईसा की दूसरी शताब्दी के प्रक्षिप्त भी हो सकते हैं। क्योंकि (क) हरिवंश में रोमन शब्द 'दीनार' आता है और महाभारत के आदिपर्व के प्रथम भाग में तथा अन्तिम पर्व में हरिवंश का पता मिलता है। अतः ऐसे भाग, जिनमें हरिवंश का पता मिलता है, दीनार सिक्के के प्रचार के बाद की मिलावट होने चाहिएँ। (ख) राशियों का वर्णन भी यही सूचित करता है। (ग) यूनानियों, सिथियनों और बैक्ट्रीरियनों के बारे में भविष्यद् वाणियाँ की गई हैं।]

आ—असली महाभारत के रचना-काल के विषय में निम्नलिखित बातें ध्यान देने के योग्य हैं :—

(१) दह्लमन का एक साक्ष्य मिलता है कि पाणिनि को असली महाभारत का पता था।

(२) आश्वलायन गृह्यसूत्र (ई० पू० ५ वीं शताब्दी) में एक 'भारत' और 'महाभारत' का नाम आता है।

---

१. चि० वि० वैद्य के मत से महाभारत ने वर्तमान रूप ईसा से पूर्व ३०० और १०० के बीच प्राप्त किया। ३०० ई० पूर्व को परली सीमा मानने के हेतु ये हैं:—(क) यवनों का उल्लेख बार बार आता है। (ख) आदिपर्व में नग्न क्षपणक का उल्लेख होना। (ग) महाभारतोक्त समाज की, धर्म की और विद्या की अवस्थाएँ मेगस्थनीज् की वर्णित अवस्थाओं से मेल खाती हैं। उदाहरणार्थ, मांस-भक्षण की प्रवृत्ति घट रही थी, शिव और विष्णु की उपासना प्रारम्भ हो चुकी थी, व्याकरण, न्याय और वेदान्त बन चुके थे और उनका अध्ययन होने लगा था।

(३) बौधायन धर्मसूत्र (लगभग ४०० ई० पू०) में महाभारत का उल्लेख पाया जाता है।

(४) बौधायन गृह्यसूत्र में महाभारत में से 'विष्णुसहस्रनाम' का उद्धरण पाया जाता है।

(५) मेगस्थनीज़ ने अपने ग्रन्थ इंडीका (भारत) में लिखा है कि कुछ कहानियाँ हैं, जो केवल महाभारत में पाई जाती हैं[1]।

असली महाभारत में ब्रह्मा को सब से बड़ा देव कहा गया है। पाली-साहित्य के आधार पर यह बात पाँचवीं शताब्दी से पूर्व की अवस्थाओं का परामर्श करती है।

(६) ज्योतिष के आधार पर भी कुछ विद्वानों ने परिणाम निकाला है कि असली महाभारत ५०० ई० पू० से पहले का है।

इ—ऐतिहासिक काव्य के आविर्भाव के सम्बन्ध में यह बात बहुत कुछ निश्चय के साथ कही जा सकती है कि यह काव्य वैदिक काल से सम्बन्ध रखता है। यजुर्वेद में इतिहासप्रसिद्ध कुरुओं और पञ्चालों का वर्णन मिलता है और काठक संहिता में धृतराष्ट्र विचित्रवीर्य का नाम आया है।

(ट) **शैली**—यदि रामायण आदिकाव्य है तो महाभारत आदि 'इतिहास, पुराण या आख्यान' है। यह मोटा पोथा श्लोक छन्द में लिखा गया है। इसमें पुराने ढंग के कुछ उपजाति और वंशस्थ छन्द भी हैं जो अधिक पुराने रूप के भग्नावशेष हैं। पुराने गद्य में कुछ कहानियाँ भी हैं। इसके अतिरिक्त प्रवेशक वाक्य भी हैं, जैसे, कृष्ण उवाच, भीष्म उवाच जो श्लोकों के भाग नहीं हैं। सारे ग्रन्थ में धर्म का जो स्थूल रूप अंकित है, उसका सार इस पद्य में आ गया मालूम होता है :—

---

१. कुत्ते के बराबर बड़ी बड़ी दीमकें या चींटियाँ (ants) ज़मीन खोदती हैं और सुनहरी रेत निकल आती है, इत्यादि।

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिन् तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
मायाचारो मायया बाधितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥

(असली धर्म यही है कि जैसे के साथ तैसा बना जाय। कपटी को कपट से खत्म करो और सीधे के साथ सिधाई से बरतो।)

सारे श्लोक को देखा जाय तो कहा जायगा कि इसकी भाषा बाद के काव्यों से कहीं अधिक प्राञ्जल है।

(१०) दोनों ऐतिहासिक महाकाव्यों का अन्योन्य सम्बन्ध

(क) **परिमाण**—वर्तमान महाभारत का परिमाण इलियड और ओडिसी के संयुक्त परिमाण का सात गुना है। रामायण का परिमाण महाभारत के परिमाण का चौथाई है, जैसा ऊपर कहा जा चुका है। आजकल महाभारत पुराने महाभारत का समुपबृंहित रूप है। मैकडानल के मत से असली महाभारत में ८८०० श्लोक थे। चिन्तामणि विनायक वैद्य के मत से ८८०० कूट श्लोक थे और साधारण श्लोक इनसे अलग थे। इसे व्यास ने अपने शिष्य वैशम्पायन को पढ़ाया और उसने समुपबृंहित करके (२४००० श्लोक तक पहुँचाकर) सर्पसत्र के अवसर पर जन्मेजय को सुनाया। वैशम्पायन से प्राप्त ग्रन्थ को पुष्ट करके (१ लाख श्लोकों तक पहुँचाकर) सौति ने द्वादशवर्ष सत्र के अवसर पर शौनक को सुनाया। महाभारत के इन तीनों समुपबृंहणों का पता महाभारत के पद्य से ही लगता है, जिसमें कहा गया है कि महाभारत के तीन प्रारम्भ हैं। (देखिये पूर्वोक्त प्रघट्टक ९ का 'क' भाग।) परन्तु रामायण को अपने ऐसे समुपबृंहण का पता नहीं है।

(ख) **रचयितृत्व**—रामायण एक ही कवि—वाल्मीकि—की रचना है, जो ऐतिहासिक-काव्य की पुरानी शैली को जानता था और जो कविता नाम के अधिकारी, आख्यान काव्य से भिन्न, अलंकृत काव्य का आदिम रचयिता था। परन्तु वर्तमान महाभारत कई रचयिताओं के श्रम का फल है। महाभारत के रचयिता व्यास कहे जाते हैं। व्यास चारों वेदों को क्रमबद्ध करनेवाले थे। ये हौपकिन के अनुसार रचयिता

की अपेक्षा सम्पादक अधिक थे। रामायण महाभारत से कहीं अधिक समरूप, कहीं अधिक समानावयवी और परिमार्जित, और छन्दों की तथा सामाजिक वातावरण की दृष्टि से कहीं अधिक परिष्कृत है।

(ग) **मुख्य ग्रन्थभाग**—दोनों ग्रन्थों में से किसी में भी अविसन्दिग्ध भाग नहीं मिलता। दोनों ग्रन्थों के नाना संस्करण मिलते हैं, जो एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। उनके तुलनात्मक अध्ययन से हम किसी एक अविसन्दिग्ध ग्रन्थभाग को नहीं ढूँढ़ निकाल सकते। महाभारत का दक्षिण भारत संस्करण उत्तर भारत संकरण से किसी प्रकार बढ़ कर नहीं, प्रत्युत घट कर ही है। अतः यह ग्रन्थ की असलियत का पता लगाने में बहुत कम उपयोग का है। सच तो यह है कि इन काव्यों का कोई भी अविसन्दिग्ध असली ग्रन्थभाग नहीं है क्योंकि हिन्दुओं के ऐतिहासिक महाकाव्य का कोई निश्चित रूप था ही नहीं। सभी ऐतिहासिक कविताएँ प्रथम मौखिक रूप में एक से दूसरे को प्राप्त होती थीं और भिन्न-भिन्न पुनर्लेखक इच्छानुसार उनमें परिवर्तन और परिवर्धन कर देते थे। अतः असली ग्रन्थ के पुनर्निर्माण की आशा दुराशा है। हम अधिक से अधिक यही कर सकते हैं कि प्रत्येक सम्प्रदाय प्राप्त ग्रन्थों में मोटे-मोटे प्रक्षेपों को ढूँढ़ सकें।

(घ) **उक्त महाकाव्यों का विकास**—प्रत्येक के विकास के बारे में यह बात एकदम कही जा सकती है कि दोनों में से किसी का भी विकास दूसरे के बिना स्वतन्त्र रूप से नहीं हुआ। बाद वाली रामायण का तात्पर्य वही है, जो महाभारत का है और बाद वाला महाभारत वाल्मीकि की रामायण को स्वीकार करता है।

(ङ) **पारस्परिक सम्बन्ध**—गृह्यसूत्रों के अन्तिम काल से पूर्व किसी भी एक महाकाव्य का स्वीकार किया जाना नहीं मिलता। गृह्यसूत्रों और दूसरे सूत्रग्रन्थों में जो ऐतिहासिक महाकाव्य सबसे पहले ीकार किया गया है, वह भारत है। दोनों महाकव्यों का तुलनात्मक अध्ययन प्रकट करता है कि महाभारत में रामायण के कई उद्धरण

आये हैं। हरिवंश में रामोपाख्यान तथा अन्य आकस्मिक उल्लेखों के अतिरिक्त वाल्मीकि रामायण को पूर्वतनी (अर्थात् पहले की) सिद्ध करने वाले विस्पष्ट उल्लेख पाये जाते हैं। यथा—

अपि चायं पुरा गीतः श्लोको वाल्मीकिना भुवि।

हौपकिन्स के मत से इन उल्लेखों से इस बारे में यह सिद्ध नहीं होता कि वाल्मीकि, आदिकवि के रूप में, महाभारत से पहले हुए। इनसे केवल इतना ही सिद्ध हो सकता है कि वाल्मीकि ने तब रामायण लिखी, जब महाभारत अभी सम्पूर्ण नहीं हुआ था। महाभारत में वायुपुराण का भी उल्लेख पाया जाता है। उससे भी यही सिद्ध होता है कि महाभारत के प्रारम्भ से पूर्व नहीं; प्रत्युत समाप्त होने से पूर्व उक्त नाम का कोई पुराण विद्यमान था। इस प्रकरण में यह बात स्मरणीय है कि पीछे की रामायण महाभारत से परिचय सूचित करती है। अतः विस्पष्ट है कि आज कल की सारी रामायण महाभारत के प्रारम्भ ने पहले सम्पूर्ण नहीं हुई थी। रामायण में जन्मेजय को एक प्राचीन वीर स्वीकार किया गया है और कुरुओं तथा पञ्चालों का एवं हस्तिनापुर का भी उल्लेख पाया जाता है। इन सब बातों से यह परिणाम निकलता है :—(१) राम की कथा पाण्डवों की कथा से पुरानी है। (२) पाण्डवों की कथा वाल्मीकि रामायण से पुरानी है। और, (३) सारी मिलाकर देखी जाय तो रामायण, सारा मिलाकर देखे हुए महाभारत से पुरानी है।

(च) रचना-स्थान—तुल्य प्रकरणों और आभाणकों के आलोचनात्मक अध्ययन से पता लगता है कि उत्तरकाण्ड में गङ्गा के मैदान की अनेक कहानियाँ हैं, और प्राचीनतम महाभारत में पंजाब के रीति-रिवाज वर्णित हैं तथा महाभारत ऊर्ध्वकालीन औपदेशिक भागों का सम्बन्ध कोसल और विदेह से है। दूसरे शब्दों में, उर्ध्वकालीन विकास की दृष्टि से दोनों महाकाव्यों में प्रायः समान देशों की बातें हैं।

(छ) पारस्परिक साम्य—(१) शैली–जैसा पहले कहा जा चुका है

समग्र ग्रन्थ को देखते हुए परिष्कृत छन्दों की तथा सामाजिक वातावरण की दृष्टि से रामायण कहीं अधिक परिमार्जित, कहीं अधिक समरूप एवं कहीं अधिक समानावयवी है। इतना होने पर भी दोनों महाकाव्यों की शैली में एक घनिष्ठ समानता है। हौपकिन्स ने लगभग तीन सौ स्थल ढूँढ़े हैं, जो प्रायः एक जैसे हैं—जिनमें एक-से वाक्य और एक-से वाक्य-खण्ड हैं। उदाहरणार्थ, शान्तिपूर्ण दृश्यों के वर्णनों में 'नोत्कण्ठं कर्तुमर्हसि' दोनों महाकाव्यों में प्रायः पाया जाता है।

(२) दोनों में ही एक जैसी उपमाएं[1] और युद्ध के एक जैसे वर्णन पाये जाते हैं।

(३) कथा की समानता और भी अधिक देखने के योग्य है। सीता और द्रौपदी दोनों नायिकाएँ, यदि उन्हें नायिका कहना उचित हो, आश्चर्य-जनक रीति से पैदा हुई हैं। दोनों का विवाह स्वयंवर की रीति से तो हुआ था, किन्तु वर का चुनाव दोनों में से किसी की भी इच्छा से नहीं हुआ था। दोनों के स्वयंवरों में शारीरिक शक्ति ही सर्वोच्च मानी गई थी। दोनों काव्यों में नायक को वनवास होता है और दोनों काव्यों में नायिकाओं का (सीता और द्रौपदी का) अपहरण (क्रमशः रावण और जयद्रथ द्वारा) होता है। इस प्रकार हमें दोनों काव्यों में एक कथा का प्रभाव दूसरे पर पड़ता दिखाई देता है।

(४) पौराणिक कथाएँ—दोनों महाकाव्यों की पौराणिक कथाओं में (और हम कहेंगे कि दर्शन-सिद्धान्तों में भी) बहुत समानता है। दोनों में ऋग्वेदकालीन प्रकृति-पूजा लुप्त सी दिखाई देती है। वरुण, अश्विन और आदित्य जैसे देवताओं का पता नहीं मिलता। उषा जैसी

---

१. मिलाकर देखिए

सेना भिन्ना नौरिव सागरे,
सेना भिन्ना नौरिवागाधे।

देवियों का वर्णन नहीं पाया जाता। उन सब का स्थान देवत्रयी—ब्रह्मा, विष्णु और महेश—गणेश, कुबेर और दुर्गा ने ले लिया है। अवतारवाद प्रधान हो गया है। इन्द्र जैसे देवता स्त्री-पुत्र वाले कुटुम्बी जन बन जाते हैं। वे स्वर्ग में रहते हैं, सुन्दर महलों के स्वामी हैं और मनुष्यों के समान व्यवहार कहते हैं। देवताओं के मन्दिर बनवाये जाते हैं। धातु, मिट्टी और नमक की मूर्तियों की पूजा की जाती है। यह पौराणिकता दोनों महाकाव्यों में एक जैसी पाई जाती है।

तीसरा अध्याय

पुराण

(११) (क) पुराणों की उत्पत्ति—पुराण शब्द अथर्ववेद और ब्राह्मणों में सृष्टि-मीमांसा के अर्थ में आता है। महाभारत में इसका प्रयोग प्राचीन उपाख्यानों के ज्ञान के अर्थ में हुआ है।

असली पुराण की उत्पत्ति का पता वायु, ब्रह्माण्ड और विष्णु पुराण से लगता है। (भागवत भी कुछ पता देता है। किन्तु वह कुछ भिन्न है और अवरकालीन होने के कारण विश्वसनीय नहीं है। अतः ध्यान देने के योग्य भी नहीं है।) कहा जाता है कि व्यास ने—जिनका यह नाम इसलिए पड़ा कि उन्होंने वेद का विभाग करके उसे चार भागों में क्रमबद्ध किया था—वेद अपने चार शिष्यों के सुपुर्द किये थे। बाद में उन्होंने आख्यायिकाओं, कहानियों, गीतों और परम्पराप्राप्त जनश्रुतियों को लेकर एक पुराण की रचना की और इतिहास के साथ इसे अपने पाँचवें शिष्य रोमहर्षण (या लोमहर्षण) को पढ़ा दिया। उसके बाद उन्होंने महाभारत की रचना की[1]। यहाँ हमारा इससे कोई प्रयोजन नहीं कि व्यास असली पुराण के रचयिता थे या नहीं। मुख्य बात तो यह है कि पुराने समय से विभिन्न प्रकृति की पर्याप्त परम्परा प्राप्त कथाएँ चलती आरही होंगी, जो स्वभावतः पुराण की रचना में काम में लाई गई। यह बात बिलकुल स्वाभाविक प्रतीत

---

१. स्वयं महाभारत, पुराण को अपने से पूर्वतन अंगीकार करता है।

होती है कि जब धार्मिक मन्त्रों का संग्रह वेद के रूप में हो चुका था, तब पुरानी लोकाचार सम्बन्धी कथाएँ पुराण के रूप में संगृहीत की जातीं।

(ख) **पुराण का उपचय**—रोमहर्षण ने उस पुराणसंहिता को छः शाखाओं में विभक्त करके उन्हें अपने छः शिष्यों को पढ़ाया। उनमें से तीन ने तीन पृथक् पृथक् संहिताएँ बनाईं, जो रचयिताओं के नाम से प्रसिद्ध हुईं, और रोमहर्षण की संहिता के साथ ये तीन संहिताएँ मूलसंहिता कहलाईं। उनमें से प्रत्येक के चार-चार पाद थे और वे विषय एक होने पर भी शब्दों में भिन्न थीं।

वे शाखाएँ आजकल उपलभ्य नहीं हैं। हाँ रोमहर्षण के सिवा, उन रचयिताओं में से कुछ के नाम पुराणों में और महाभारत में प्रश्न-कर्ताओं के अथवा वक्ताओं के रूप में अवश्य आते हैं। वे प्रकरण जिन में ऐसे नाम आते हैं, संभव है उन पुराने पुराणों के ध्वंसावशेष हों जो वायु और ब्रह्माण्ड पुराण में सम्मिलित हो चुके हैं। एक बात और है। केवल ये ही दो पुराण ऐसे हैं, जिन में उक्त चार-चार पाद पाये जाते हैं। उन चारों पादों के नाम क्रमशः प्रक्रिया, अनुषङ्ग, उपोद्घात और उपसंहार हैं।

उक्त छः शिष्यों में से पाँच ब्राह्मण थे। अतः पुराण ब्राह्मणों के हाथ आ गया। परिणाम यह हुआ कि साम्प्रदायिक नये पुराणों की रचना होने लगी। यह भी स्मरण रखने की बात है कि पुराणों की उत्तरोत्तर वृद्धि नाना स्थानों में हुई। पुराण की इस उत्पत्ति और उत्तरोत्तर वृद्धि की साक्षी स्वयं पुराण से मिलती।

(ग) **पुराण का विषय**—आख्यानों, गाथाओं और कल्पवाक्यों को लेकर पुराण की सृष्टि हुई थी—इस बात को मन में रखते हुए हम आदिम पुराणों के विषय को सरलता से जान सकते हैं।

सर्गश्च[१] प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

यह श्लोक वस्तुतः आदिम पुराण का विषय बताता है जब कि धार्मिक सिद्धान्त, तीर्थमाहात्म्य, अनेक-शाखा-पत्र-युक्त धर्म जैसे अन्य अनेक विषय, पुराणों में सम्मिलित नहीं हो पाये थे।

आजकल पुराणों[२] का स्वरूप ऐतिहासिक कम और औपदेशिक अधिक है। उनमें उपाख्यान हैं, विष्णु के दश अवतारों के वर्णन हैं, तथा देवताओं की पूजा के और पर्वों के मनाने एवं व्रतों के रखने के विषय में नियम हैं। उनका प्रामाण्य वेदों के प्रामाण्य की स्पर्धा करता है।

---

१. अनुलोमसृष्टि, प्रतिलोमसृष्टि, ऋषिवंशों, मन्वन्तरों और राजवंशों का वर्णन करना, यही पाँच बातें पुराणों का लक्षण कही जाती हैं।

सूचना—यह बात ध्यान में रक्खी जा सकती है कि सर्ग, प्रति-सर्ग और मन्वन्तर प्रायः कल्पना के आश्रित हैं। हाँ, अन्य दो बातें—वंश और वंशानुचरित ऐतिहासिकता का वेप रखने के कारण कुछ महत्त्वपूर्ण हैं।

२. बाह्यरूप, भाषा और प्रतिपाद्य अर्थ की दृष्टि से पुराण, ऐतिहासिक महाकाव्य और कानून की पुस्तकें परस्पर घनिष्ठ सम्बध रखती हैं। केवल इक्के दुक्के श्लोक ही नहीं, प्रकरण शब्दशः ज्यों-के-त्यों उनमें एक-से पाए जाते हैं। प्रतिपाद्य अर्थ की दृष्टि से उनके बीच कोई दृढ़ विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। भिन्न-भिन्न दृष्टियों से महाभारत को हम ऐतिहासिक महाकाव्य, कानून की पुस्तक या पुराण भी कह सकते हैं।

पुराण भागशः औपाख्यानिक और भागशः ऐतिहासिक हैं। इस बारे में उनकी तुलना ईसाइयों के पुराण 'पैराडाइस लॉस्ट' से की जा सकती है।

पुराणों के श्लोकों और प्रकरणों के लिए 'श्रुति' 'ऋक्' 'सूक्त' जैसे शब्दों का व्यवहार होता है और वेद के समान वे भी ईश्वरीय ज्ञान होने का दावा करते हैं। उनमें से कई अपने आपको 'वेद सम्मित' (वेद तुल्य) भी कहते हैं। यह भी कहा गया है कि उनके अध्ययन से वेदाध्ययन के तुल्य, या उससे भी अधिक पुण्य की प्राप्ति होती है।

(घ) पुराणों में इतिहास—निम्नलिखित पुराणों में उन राजवंशों का वर्णन है जिन्होंने कलियुग में भारत में राज्य किया है—

(१) मत्स्य, वायु और ब्रह्माण्ड—इन तीनों पुराणों के वर्णनों में अद्भुत समानता है। अन्त के दो तो आपस में इतने मिलते हैं कि वे एक ही ग्रन्थ के दो संस्करण प्रतीत होते हैं। मत्स्यपुराण में भी, उतनी नहीं तो बहुत कुछ इन दोनों से मिलती-जुलती ही बातें हैं। ऐसा मालूम होता है कि इन संस्करणों का आधार कोई एक पुराना ग्रन्थ था। पद्य प्रायः ऐतिहासिक महाकाव्य की शैली के हैं, एक पंक्ति में प्रायः एक राजा का वर्णन है।

(२) विष्णु और भागवत—उक्त तीनों की अपेक्षा ये दोनों अधिक संक्षिप्त हैं। विष्णु प्रायः गद्य में है। ऐसा मालूम होता है कि ये दोनों संक्षिप्त संस्करण हैं।

(३) गरुड़—यह बाद का ग्रन्थ है और भागवत की अपेक्षा संक्षिप्त है। इसमें पुरु, इक्ष्वाकु और बृहद्रथ राजवंशों का वर्णन है। क्षत्रियों के विचारानुसार प्राचीन भारत की राजनैतिक अवस्था का पता लग जाता है।

(४) भविष्य—इसमें प्रायः वंशों का विकृत वर्णन है। यथा इसमें कहा गया है कि प्रत्येक पौरव नृप ने कम से कम एक सहस्र वर्ष तक राज्य किया। इसमें ईसा की १९ वीं शताब्दी तक की भविष्यवाणियाँ हैं।

इन पुराणों के वर्णन मुख्य करके भविष्य पुराण के असली रचयिता के वर्णनों पर आश्रित हैं। ये वर्णन वे हैं जो नैमिषारण्य में

सूत रोमहर्षण ने अपने पुत्र (सौति) को या ऋषियों को सुनाए हैं और जिनमें महाभारत के युद्ध से लेकर तत्कालीन राजाओं तक का हाल देने के बाद भविष्यत् के बारे में प्रश्न किया गया है।

इस प्रकार अठारह पुराणों में से केवल सात में वंश और वंशानुचरित पाए जाते हैं। अतः शेष[1] पुराण भारत के राजनैतिक इतिहास की दृष्टि से किसी उपयोग के नहीं हैं।

पुराण अति प्रशंसित और अत्युपेक्षित दोनों हो रहे। अब तक यह समझा जाता था कि पुराणों की बातें विश्वसनीय नहीं हैं। किन्तु अब यह विश्वास बढ़ रहा है कि पुराणों में जितनी ऐतिहासिक बातें पाई जाती हैं, वे सबकी सब ही अविश्वसनीय नहीं हैं। डा० विन्सेन्ट स्मिथ ने सन् १९०२ ई० में यह सिद्ध किया था कि मत्स्य पुराण में आन्ध्र राजाओं का जितना-जितना शासन-काल और उनके नामों का जो क्रम दिया है वह बिल्कुल ठीक है। पुराणों में जिन परम्परानुगत बातों का उल्लेख है, चाहे वह कितने ही विकृत रूप में क्यों न हो, वे ब्राह्मणों के प्राचीन काल तक की पुरानी हैं। उनका बड़ा महत्त्व इसी बात में है कि उनसे वेद-ब्राह्मण-सम्बन्धी ब्राह्मणों की रूढ़ि के मुकाबिले पर क्षत्रियों की परम्परानुगत रूढ़ियों (Tradition) का पता लगता है[2]। क्षत्रिय-रूढ़ि इस लिए महत्त्वपूर्ण है कि उससे हम क्षत्रिय-दृष्टिकोण से प्राचीन

१. वे ये हैं—अग्नि, कूर्म, पद्म, मार्कण्डेय, ब्रह्मवैवर्त, ब्रह्म, वामन, वराह, स्कन्द, शिव और लिङ्ग। १८ पुराणों में सब मिलाकर चार लाख से अधिक श्लोक हैं, उनमें से किसी एक में सात सहस्र हैं तो दूसरे में इक्यासी सहस्र श्लोक हैं। विष्णुपुराण में, जिसे सबसे अधिक सुरक्षित समझा जाता है, सात सहस्र से भी कम श्लोक हैं।

२. ब्राह्मणों की उक्त रूढ़ि के पक्ष की त्रुटियाँ ये हैं—

(क) इसमें केवल धार्मिक बातों का समावेश है, ऐतिहासिक प्रयोजन इससे सिद्ध नहीं हो सकता।

महत्त्वपूर्ण है कि उससे हम क्षत्रिय-दृष्टि-कोण से, प्राचीन भारत के तथा उनकी प्राचीन राजनीतिक दशा की झलक के दर्शन प्राप्त कर सकते हैं[१]।

प्राचीन राजवंश वर्णन—पुराणों में दिए राजवंश वर्णन में प्रत्येक राजा का वर्णन देने का प्रयत्न नहीं किया गया, उनमें केवल यशस्वी राजाओं का वर्णन है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये वर्णन ब्राह्मणों की (जिन्हें सांसारिक विषयों में कोई रुचि नहीं थी) मौखिक रूढ़ि के द्वारा सुरक्षित नहीं रहे, किन्तु ये सुरक्षित रहे हैं राजाओं के भाट कवियों के द्वारा। यदि ब्राह्मण लोग अपने ग्रन्थों को अक्षर प्रत्यक्षर ठीक-ठीक याद रख सकते थे; तो हमें यह विश्वास करने में कोई कठिनता न होनी चाहिए कि पुराण-रक्षक भाटों ने भी पुराणों के राजवंश वर्णनों को ठीक-ठीक याद रक्खा। प्राचीन वंशावली का याद रखना भारत में गौरव की वस्तु खयाल की जाती रही है; अतः बहुत

(ख) इस रूढ़ि के जन्मदाता ब्राह्मणों में ऐतिहासिक बुद्धि का अभाव था; और

(ग) वे एकान्त कुटियों में रहने के कारण सांसारिक ज्ञान को ताला लगाए हुए थे।

उदाहरणार्थ, ब्राह्मण-रूढ़ि के अनुसार शुनःशेप की जो कथा है। उसमें अयोध्या नगर को गाँव बताया गया है।

१. भारत पर आर्यों की विजय में क्षत्रियों का बहुत बड़ा हाथ है यदि हम जानना चाहें कि उनका स्थान क्या था, और उन्होंने कौन कौन से बड़े काम किये, तो हमें उनकी रूढ़ियों का अध्ययन करना चाहिये। केवल पुराणों में दिए हुए वर्णन से ही हम यह जान सकते हैं कि किस प्रकार ऐल वंश का उन सारे देशों पर प्रभुत्व था जिन्हें हम आर्यों के अधिकार में आए हुए कहते हैं। ब्राह्मण-साहित्य से हमें इस महान् रूप-परिवर्तन का कुछ पता नहीं लगता।

अधिक लोक-प्रिय होने के कारण इन वंशावलियों में अधिक गलती की सम्भावना नहीं है[१]।

भारत के प्राचीन राजवंशों का सम्बन्ध दो मूलस्रोतों से बताया जाता है—सूर्य और चन्द्र। आशा है कि जब पुराणों को ऐतिहासिक ग्रन्थ मानकर उनका अधिक विवेचनात्मक पाठ किया जायगा तब हमें प्राचीन भारत के सम्बन्ध में अनेक उपयोगी बातें मालूम होंगी। पुराणों में केवल पुरुओं, कोशल और मगध के राजाओं का ही विस्तृत वर्णन नहीं है प्रत्युत उनमें अवरकालीन शिशुनागों, नन्दों, शुंगों, कण्वों और आन्ध्रों का भी वर्णन है। इस प्रकार पुराणों का भारी उपयोग है।

[पुराणों के आधार पर पार्जिटर ने सिद्ध किया है कि आर्य लोग पश्चिम की ओर बढ़कर देशान्तरवासी हुए। इस प्रसङ्ग में यह सिद्धान्त बड़ा ही रोचक प्रतीत होता है। पौराणिक रूढ़ि इलावर्त को, जो ऐलों (आर्यों) का मूल निवास-स्थान है, नाभि (भारत) के उत्तर में बतलाती है। यही दिशा है, उत्तर पश्चिम नहीं,जिसे आर्य लोग आज तक पवित्र मानते हैं। यह विश्वास किया जाता है कि आर्य लोग सन् २७५० ई० पू० से पहले ही कभी हिमालय के बीच के प्रदेश से भारत में आए तथा द्रुह्यु १६०० ई० पू० के आस-पास भारत से उत्तर पश्चिम में गए। १४०० ई० पू० के बोगज़-कोई के शिला-लेखों में भारतीय देवताओं के नाम आते हैं। ऋग्वेद् भारत में आए हुए आर्यों का प्राचीनतम लिखित ग्रन्थ माना जाता है और उस ऋग्वेद् का ठीक-ठीक सा काल विद्वानों ने लगभग २००० ई० पू० माना है। आजकल के प्रचलित आर्यों के पूर्व-गमन के बाद से इन बातों का ठीक-ठीक

---

१. समय पाकर भूल चूक, परिवर्तन अवश्य हो गए होंगे परन्तु इसी आधार पर हम सारी रूढ़ि को अविश्वास की दृष्टि से नहीं देख सकते। क्षत्रिय-रूढ़ियों को हमें उनके अपने आधार पर जाँचना और परखना चाहिए।

उत्तर नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि द्रुह्यु लोग १६०० ई० पू० के आस-पास भारत से जाते हुए भारतीय देवताओं को भी अपने साथ लेते गए। ऋग्वेद के एक मन्त्र (१०, ७५) में[1] भारतीय नदियों के नाम मिलते हैं। उन नामों का क्रम इस पश्चिम-गमन के सिद्धान्तानुसार ठीक बैठता है। पूर्व-गमन का वाद अपेक्षाकृत पुराना है, इसके सिवा इस वाद का पोषक और कोई प्रबल तर्क नहीं है। जब तक विरोध में पर्याप्त युक्तियाँ न हों तब तक भारतीय रूढ़ि को मिथ्या नहीं ठहराया जा सकता। भारतीय रूढ़ि को मिथ्या ठहराने के लिए यह बताना होगा कि क्यों, कैसे और किस उद्देश्य की सिद्धि के लिए यह गढ़ी गई थी।]

(ङ) काल—विद्वान् पुराणों का समय उनमें उपलब्ध होने वाली नई से नई सूचनाओं के अनुसार निश्चित करते हैं। लेकिन वे इस बात की प्रायः उपेक्षा कर जाते हैं कि किसी मकान या साहित्यिक रचना का काल उसमें होने वाली नवीनतम वृद्धि के अनुसार निश्चित नहीं हो सकता।[2] विल्सन ने नवीनतम वृद्धियों के ही आधार पर ब्रह्मपुराण को, जिसे आदि पुराण भी कहते हैं, जिसमें पुरानी सामग्री प्रचुरता से पाई जाती है, १३ वीं या १४ वीं शताब्दी का बतलाया है। १८ पुराणों ने अपने पृथक्-पृथक् नाम कब प्राप्त किए, यह निश्चय नहीं है। यह सब कुछ होने पर भी उन्हें ब्राह्मण ग्रन्थों के प्राचीन काल तक अच्छी तरह पहुँचाया जा सकता है। यह विश्वास नहीं हो सकता कि पुराणों का पुनर्निर्माण वेदों और ब्राह्मणों से थोड़ी-थोड़ी बातें लेकर उस समय हुआ होगा जिस समय किसी ने वेदों और ब्राह्मणों को ऐतिहासिक ग्रन्थ मानने का स्वप्न भी नहीं देखा होगा।

---

१ इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्यासुषोमया ॥

२. 'कैम्ब्रिज हिस्टरी ऑव इण्डिया' के अन्तर्गत ई० जे० राप्सन लिखित पुराणों पर निबन्ध देखिए।

सब से प्राचीन (असली) पुराण की रचना के समय के विषय में अधोलिखित बातें ध्यान में रखने योग्य हैं :—

(१) बाण (६२० ई०) अपने हर्षचरित में वायु पुराण का उल्लेख करता है।

(२) ४७५ ई० तथा इसके आसपास के भूदान-पत्रों में महाभारत के बताए जाते हुए व्यास के कुछ श्लोक उद्धृत हैं, किन्तु वस्तुतः वे श्लोक पद्म और भविष्यत् पुराण में पाये जाते हैं।

(३) मत्स्य, वायु, और ब्रह्माण्ड कहते हैं कि उन्होंने अपने वर्णन भविष्यत् से लिए हैं; और उनके आभ्यन्तरिक साक्ष्य से सिद्ध होता है कि भविष्यत् पुराण ईसा की तृतीय शताब्दी के मध्य में विद्यमान था। मत्स्य ने भविष्यत् से जो कुछ भी लिया वह उक्त शताब्दी के अन्त से पहले ही लिया और वायु तथा ब्रह्माण्ड ने चतुर्थ शताब्दी में लिया।

(४) आपस्तम्ब सूत्र (ई० पू० ३ य शताब्दी से अर्वाचीन नहीं, किन्तु सम्भवतया दो शताब्दी और पुराना) 'भविष्यत् पुराण' को प्रमाण रूप से उद्धृत करता है। 'भविष्यत् पुराण' में भविष्यत् (आगामी) और पुराण (गत) दोनों शब्द परस्पर विरोधी हैं, इससे प्रकट होता है कि नाम 'पुराण' केवल जातिवाचक के रूप में ही प्रयोग में आने लगा था। ऐसा प्रयोग प्रचलित होने में कम से कम दो सौ वर्ष अवश्य लगे होंगे, अतः पुराण कम से कम ५ वीं शताब्दी ई० पू० के प्रारम्भिक-काल में या शायद और भी दो शताब्दी पूर्व, अवश्य विद्यमान रहे होंगे।

[(आपस्तम्ब में उल्लिखित) भविष्यत् नाम और ई० ३य शताब्दी के भविष्य नाम का अन्तर स्मरण रखने योग्य है। हमें आजकल विकृत रूप में भविष्य पुराण ही प्राप्त है।]

(५) कौटिल्य ने अनेक स्थानों पर अपने अर्थ शास्त्र में पुराणों को उत्कृष्ट प्रमाण रूप से उद्धृत किया है।

(६) शाङ्खायन श्रौत सूत्र और आश्वलायन सूत्र पुराणों का उल्लेख करते हैं।

(७) शतपथ ब्राह्मण में प्रतिदिन इतिहास पुराण पढ़ने का विधान है।

(३) भिन्न-भिन्न पुराण परीक्षित से पहले की सब घटनाओं को 'भूत' तथा महाभारत के युद्ध (पार्जिटर के अनुसार ९५० ई० पू०) के १०० वर्ष की सब घटनाओं को 'भविष्यत्' कहने में एकमत हैं यह १०० वर्ष का काल सन्धि-काल है। इस काल के आस-पास सारी की सारी प्रचलित ऐतिहासिक जनश्रुतियाँ एक पुराण के रूप में संगृहीत हुई होंगी।

(९) ऐतिहासिक महाकाव्यों के समान पुराण भी भाटों ने प्राचीन परम्पराप्राप्त लोकवादों के आधार पर बनाए थे। उन लोकवादों को अथर्ववेद में वाङ्मय का एक अङ्ग स्वीकार करके इतिहास-पुराण का साधारण (General) नाम दिया गया है। क्या छान्दोग्य उपनिषद् और क्या प्रारम्भिक बौद्ध-ग्रन्थ (सुत्त निपात) दोनों में ही वाङ्मय के इस अङ्ग को पंचम वेद कहा गया है; और आज तक यह पंचम वेद के ही रूप में स्वीकृत किया जाता है।

पुराणों के काल की अवर सीमा।

सच तो यह है कि भिन्न-भिन्न पुराण, जिस रूप में वे आज हमें प्राप्त हैं उस रूप में, भिन्न-भिन्न काल में उत्पन्न हुए हैं।

हमारे प्रयोजन की वस्तुतः सिद्धि करने वाले महत्त्वपूर्ण पुराणों के काल की अवर सीमा के विषय में निम्नलिखित बातें मनन करने योग्य हैं—

(१) मत्स्य पुराण में आन्ध्रों के पतन (२३६ ई०) तक का और इसके बाद होने वाले किलकिल राजाओं का वर्णन मिलता है। इस प्रकार ऐतिहासिक आख्यान ईसा की तृतीय शताब्दी के लगभग मध्य तक पहुँच जाता है, इससे आगे नहीं बढ़ता।

(२) विष्णु, वायु, ब्रह्माण्ड और भागवत पुराण इस आख्यान को और आगे बढ़ाकर गुप्तों के अभ्युदय तक ले आते हैं। समुद्रगुप्त की

विजयों का तनिक भी उल्लेख नहीं मिलता। अतः यह ऐतिहासिक आख्यान अधिक से अधिक ३३० ई० तक बढ़ आता है। क्योंकि वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य-पुराण भविष्य पुराण की असली सामग्री पर अवलम्बित हैं अतः यह परिणाम निकलता है कि भविष्य पुराण किसी न किसी रूप में ईसा की तृतीय शताब्दी के अन्त से पहले-पहले अवश्य बन चुका होगा। मत्स्य ने इससे तृतीय शताब्दी के चतुर्थ पाद में सामग्री प्राप्त की तथा वायु और ब्रह्माण्ड ने चतुर्थ शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में, जबकि ये वर्णन प्रारम्भिक गुप्त राजाओं के वर्णनों को अपने में मिलाकर पर्याप्त बढ़ चुके थे।

(३) कलियुग[1] की बुराइयों के वर्णनों तथा ऐतिहासिक-ज्यौतिषिक विशेष-विशेष वर्णनों से भी ऊपर दिये हुए परिणाम की पुष्टि होती है।

(४) मूलग्रन्थीय विशेषताएँ भी उक्त परिणाम का समर्थन करती हैं।

(५) चिन्तामणि विनायक वैद्य ने वायुपुराण गत वक्ष्यमाण श्लोक की ओर ध्यान खींचा है—

अनुगंगं प्रयागं च साकेतं मगधांस्तथा।
एताञ्जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः॥

यह श्लोक उस अवस्था का परामर्श करता है, जब ५०० ई० के बाद गुप्त शक्ति का अन्त हुआ।

(६) विष्णु पुराण निश्चय ही वायु के बाद का है क्योंकि इसमें वर्णन और भी आगे बढ़ गया है। यह किलकिल के यवन राजाओं का वर्णन करता है जो आन्ध्र देश में ८ वीं और ९ वीं शताब्दी में राज्य करते थे। इससे प्रकट होता है कि कम से कम इस शताब्दी तक पुराणों में प्रक्षेप होते रहे।

---

१. विस्तृत युक्तियों के लिए पार्जिटर की 'कलियुग के राजवंश' पुस्तक देखिये।

(७) चिन्तामणि विनायक वैद्य ने भागवत पुराण का काल निश्चय करते हुए विस्तार से विचार किया है और वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि यह शंकर[1] (९ वीं शताब्दी) के पश्चात् का और गीत गोविन्द के रचयिता जयदेव[2] (११६४ ई०) से पूर्व का है और इस प्रकार बहुत करके १० वीं शताब्दी में बना है। यह पुराण सब पुराणों से अधिक सर्वप्रिय है। इसका अनुवाद भारत की प्रायः सभी आधुनिक भाषाओं में हो चुका है।

---

१. भागवत में बुद्ध को विष्णु का एक अवतार कहा गया है और शंकर बुद्ध का विरोधी था।

२. भागवत में राधा का नाम बिल्कुल नहीं आता, और गीत गोविन्द तो आश्रित ही राधा के कृष्ण विषयक प्रेम पर है। यदि भागवत जयदेव के पश्चात् का होता तो इसमें राधा का नाम अवश्य आता।

चौथा अध्याय

भास

(१२) संस्कृत-साहित्य में भास का स्थान

थोड़े समय पूर्व तक संस्कृतानुरागियों को भास के नाम के सिवा उसके विषय में और कुछ भी मालूम नहीं था। कालिदास ने अपने नाटक मालविकाग्निमित्र में उसका नाम आदर के साथ लिया है। कुछ अन्य संस्कृत-कृतिकारों ने भी उसका नाम लेकर उसे प्रतिष्ठित पद पर आरूढ़ किया है। राजशेखर कहता है :—

भासो रामिलसोमिलौ वररुचिः श्रीसाहसाङ्कःकविर्-
मेण्ठो भारविकालिदासतरलाः स्कन्धः सुबन्धुश्च यः,
दण्डी बाणदिवाकरौ गणपतिः कान्तश्च रत्नाकरः,
सिद्धा यस्य सरस्वती भगवती के तस्य सर्वेऽपि ते ॥

प्रसन्नराघव की प्रस्तावना में कहा गया है :—

यस्याश्चकोरश्चिकुरनिकरः कर्णपूरो मयूरः,
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः।
हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः,
केषां नैषा कथय कविता कामिनी कौतुकाय ॥

सुभाषित-कोषों में वस्तुतः कुछ बहुत ही ललित पद्य भास के नाम से दिए हुए मिलते हैं। सुभाषितावली में से दो नीचे दिए जाते हैं :—

बाला च साऽविदितपञ्चशरप्रपञ्चा
तन्वी च सा स्तनभरोपचिताङ्गयष्टिः।
लज्जां समुद्वहति सा सुरतावसाने
हा काऽपि सा, किमिव किं कथयामि तस्याः ?
दुःखार्ते मयि दुःखिता भवति या हृष्टे प्रहृष्टा तथा
दीने दैन्यमुपैति रोषपरुषे पथ्यं वचो भाषते।
कालं वेत्ति, कथाः करोति निपुणा, मत्संस्तवे रज्यति
भार्या मन्त्रिवरः सखा परिजनः सैका बहुत्वं गता[1] ॥

कोई दस श्लोक और हैं जो भास के कहे जाते हैं और जो शार्ङ्गधर-पद्धति, सदुक्तिकर्णामृत और सूक्तिमुक्तावली में आए हैं।

इन इधर-उधर के उद्धरणों के सिवा भास के बारे में और कुछ मालूम नहीं था। जब पं० गणपति शास्त्री ने १९१२ ई० में तेरह नाटकों का पता लगाया तब भास के बारे में बहुत कुछ मालूम हुआ। ये तेरह नाटक त्रिवेन्द्रम् पुस्तकमाला के अन्तर्गत प्रकाशित हो चुके हैं। प्रो० कीथ, जैकोबी, स्टेनकोनो, लैकाटे, विंटरनिट्ज़ आदि जैसे विद्वानों ने इन तेरह के तेरह नाटकों को भास की रचना बताया है।[2] वस्तुतः

---

१. मिलाइये Wordsworth :
A perfect woman nobly planned.
'To warm. to comfort and command.'
फिर मिलाइये Pope :
Thou wert my guide, philosopher and friend.

२. इन तेरह नाटकों को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है :—
(क) उदयन की कथा वाले—प्रतिज्ञायौगन्धरायण, स्वप्नवासवदत्तम्।
(ख) महाभारत पर आश्रित—ऊरुभंग (संस्कृत में अकेला दुःखान्त नाटक), बालचरित, दूतघटोत्कच, दूतवाक्य, कर्णभार, मध्यमव्यायोग, पञ्चरात्र।
(ग) रामायण पर अवलम्बित—अभिषेक नाटक, प्रतिमा नाटक।
(घ) कल्पनामूलक—अविमारक और चारुदत्त।

इस विचार के जन्मदाता स्वयं पं० गणपति शास्त्री ही थे। नाटक अपने गुणों के कारण वस्तुतः इस सम्मान के अधिकारी हैं जो उन्हें दिया जा रहा है। बार्नेट और सिलवन लेवी जैसे अन्वेषक उक्त विचार से सहमत नहीं हैं, अतः हम इस बात को ज़रा विस्तारपूर्वक कहेंगे। प्रश्न यह है—"ये तेरह के तेरह नाटक किसी एक ही के बनाए हुए हैं या इनके रचयिता अनेक व्यक्ति हैं? और यदि उनका रचयिता एक ही व्यक्ति है, तो वह कौन है"?

(१३) क्या इन नाटकों का रचयिता एक ही व्यक्ति है?

विद्वान् इस बात में प्रायः सहमत हैं कि इन सब नाटकों का कर्ता एक ही व्यक्ति है। इस तर्क की पुष्टि के लिए निम्नलिखित हेतु दिए जाते हैं:—

(१) एक आश्चर्यजनक विशेषता रंगमंच सम्बन्धी संकेत-वाक्य 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' है। संस्कृत के दूसरे नाटकों में यह संकेत-वाक्य आशीर्वादात्मक पद्य या पद्यों के बाद आता है।

(२) इन नाटकों में हम प्रसिद्ध पारिभाषिक शब्द के लिए अप्रसिद्ध पारिभाषिक शब्द का प्रयोग पाते हैं। यथा, प्रस्तावना के लिये स्थापना शब्द आया है। यद्यपि कुछ एक दूसरे नाटककारों के नाटकों में भी इस प्रकार के पारिभाषिक शब्द[1] देखे जाते हैं, तथापि ये तेरह नाटक अन्य नाटकों की कक्षा में नहीं रक्खे जा सकते। इनकी अपनी एक पृथक् ही श्रेणी है, क्योंकि इनमें 'प्ररोचना' का अभाव है अर्थात् उनमें न ग्रन्थ का नाम दिया गया है और न ग्रन्थकार का।

(३) कम से कम चार नाटकों की नान्दी में मुद्रा अलङ्कार है अर्थात् नान्दी में नाटक के मुख्य-मुख्य पात्रों के नाम आ गए हैं।

---

१. यह विशेषता इन नाटकों में भी देखी जाती है—शक्तिभद्र का आश्चर्य-चूड़ामणि, नृप महेन्द्रविक्रमवर्मा का मत्तविलास (ई० की ७ वीं शताब्दी), चार भाण, और दो नाटक।

(४) ये नाटक अनेक प्रकार से अन्योन्य सम्बन्ध रखते हैं :—

(क) स्वप्नवासवदत्त, प्रतिज्ञा यौगन्धरायण का ऐसा ही उत्तरखण्ड है जैसा कि भवभूति का उत्तररामचरित उसके महावीरचरित का है। दोनों में पात्र भी वही हैं। दोनों की शैली, (वचन-विन्यास, और चरित्र-चित्रण) भी बहुत करके एक जैसी है। इतना ही नहीं, स्वप्नवासवदत्त में प्रतिज्ञा यौगन्धरायण के कुछ उद्देश भी हैं।

(ख) अविमारक (१ म अंक) में राजा अपनी कन्या के लिए योग्य वर चुनने की चिन्ता में ग्रस्त है, प्रतिज्ञायौगन्धरायण में भी महासेन अपनी पुत्री वासवदत्ता के लिए योग्य—कुलीन एवं वीर— वर के चुनने की चिन्ता कर रहा है। इन दोनों दृश्यों में बड़ी समानता पाई जाती है।

(ग) बालचरित में तीसरे अंक का १ म दृश्य (गोपाल-दृश्य) प्रायः वैसा ही है जैसा पञ्चरात्र में २ य अंक का १ म दृश्य।

(घ) कुछ वाक्य अभिषेक और स्वप्नवासवदत्त दोनों में ज्यों के त्यं आए हैं। (यथा; किं वक्ष्यतीति हृदयं परिशङ्कितं मे) इसी प्रकार कुछ वाक्य बालचरित और चारुदत्त में भी एक जैसे हैं। अभिषेक में वाली के अन्तिम शब्द वही हैं जो ऊरुभङ्ग में दुर्योधन के हैं।

(५) इन नाटकों में एक जैसी कविकल्पनाएँ (काव्यालंकृतियाँ) पाई जाती हैं। यथा;

(क) अविमारक, चारुदत्त और दूतवाक्य में बादलों में क्षणभर में चमक कर छिप जानेवाली बिजली की उपमा मिलती है।

(ख) प्रतिमा, बालचरित, दूतवाक्य, मध्यमव्यायोग और प्रतिज्ञा यौगन्धरायण में राहु के मुख में पड़े चन्द्रमा की उपमा दी गई है।

(ग) बालचरित, दूतवाक्य, अभिषेक और प्रतिज्ञा यौगन्धरायण में शक्तिशाली पुरुष (यथा, श्रीकृष्ण) की तुलना मन्दर पर्वत से की गई है।

(घ) कार्तिकेय के क्रौञ्च पर्वत पर आरोहण करने के पराक्रमों का वर्णन बहुधा आया है।

(ङ) दो प्रतिपक्षियों में से अधिक बलशाली की उपमा सिंह से और दूसरे की हाथी से बार-बार दी गई है।

(च) शत्रु के क्रोध की उपमा के लिए प्रायः दूर देश तक फैली हुई अग्नि को चुना गया है।

(छ) उच्चध्वनि का सादृश्य प्रलयकालीन समुद्र गर्जन से दिखलाया गया है। उदाहरणार्थ :—

शङ्खध्वनिः प्रलयसागरघोपतुल्यः। (कर्णभार)
यस्य स्वनं प्रलयसागरघोपतुल्यम्। (दूतवाक्य)

(६) इन नाटकों में कुछ विचारों की आवृत्ति पाई जाती है। उदाहरणार्थ :—

(क) शपामि सत्येन भयं न जाने। (मध्यम-व्यायोग)
किमेतद्भो ! भयं नाम भवतोऽद्य मया श्रुतम्। (बालचरित)

(ख) 'अथवा सर्वमलङ्कारो भवति सुरूपाणाम्'[1] अनेक नाटकों में आया है।

(ग) 'वीर का बाहु ही सच्चा शस्त्र है', यह विचार कई नाटकों में प्रकट किया गया है। ऐसे ही और भी बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं।

(७) इन नाटकों में प्रयुक्त शब्द-भण्डार (Vocabulary) तथा मनोभावप्रकाशन प्रकार (Expression) प्रायः एक जैसे पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ प्रथम के लिए यवनिका शब्द का प्रयोग और द्वितीय के लिए 'अहो अकरूणा खु इस्सरा' देखिये।

(८) इन नाटकों में हम कुछ नाटकीय रचना-नियमों तथा नाटकीय परिस्थितियों की पुनरावृत्ति पाते हैं। उदाहरणार्थ; स्वप्नवासवदत्त के छठे अङ्क की अभिषेक के तीसरे अङ्क से तुलना करो।

(९) प्रायः छः नाटकों में एक मरता हुआ आदमी 'आपस्तावत्' कहकर पानी माँगता है।

---

१. मिलाइये, कालिदासकृत शकुन्तला (१. १८),
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।

(१०) इन नाटकों में मृत्यु समय के करुण दृश्य प्रायः समान हैं।

(११) इन सब की एक भारी विशेषता यह है कि सभी में भूमिका छोटी छोटी हैं।

(१२) इन नाटकों में गौण पात्रों तक के नामों की आवृत्ति पाई जाती है। उदाहरणार्थ; विजया, द्वारपालिका और बादरायण, कञ्चुकी हैं, तथा गोपालों के नाम वृषभदत्त एवं कुम्भदत्त हैं।

(१३) एक और भेदक विशेषता यह है कि माता के नाम का व्यवहार बहुधा किया गया है। जैसे, यादवीमातः, शौरसेनीमातः, सुमित्रामातः।

(१४) पाणिनीय व्याकरण के नियमों से हटकर चलने की बात साधारण है। यथा,

आपृच्छ् का प्रयोग परस्मैपद में किया गया है और राज शब्द समास में आया है (देखिये, काशिराज्ञे, सर्वराज्ञः इत्यादि)।

(१५) 'इमामपि महीं कृत्स्नां राजसिंहः प्रशास्तु नः' यह भरत-वाक्य इन कई नाटकों में आया है।

इन कतिपय हेतुओं से एवं विरोधी युक्तियों के अभाव में यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि इन सब नाटकों का कर्ता एक ही व्यक्ति है। जो इन्हें भास की रचना नहीं मानते, यह तो उन्हें भी मानना पड़ेगा ही कि ये सब किसी एक ही की रचना हैं।

(१४) तब इनका रचयिता कौन है ?

श्री हर्ष (६०६-६४८) के दरबारी कवि बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित के उपोद्घात[1] के एक पद्य में भास के नाटकों का उल्लेख किया है। वह पद्य यह है :—

---

१. यह उपोद्घात ऐतिहासिक तथा काल-निर्धारिणी दृष्टि से बड़ा उपयोगी है। इसमें नामोल्लेख किए हुए ग्रन्थों के गुण जानने के लिये भी यह बड़े काम का है।

सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ॥

भास के नाटकों के सूत्रधार-कृतारम्भैः[1], बहुभूमिकैः[2] और सपताकैः[3] ये तीनों विशेषण इन नाटकों के सम्बन्ध में ठीक हैं।

राजशेखर (९ वीं शताब्दी) ने 'भासनाटक चक्र' का उल्लेख किया है और कहा है कि स्वप्नवासवदत्त अग्निपरीक्षा[4] में पूरा उतरा था। देखिये,

स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः।

इन युक्तियों से सिद्ध होता है कि इन नाटकों का रचयिता भास था। किन्तु इस अनुमान के विरोधी विद्वान् राजशेखर के निम्नलिखित श्लोक को प्रस्तुत करते हैं :—

कारणं तु कवित्वस्य न सम्पन्नकुलीनता।
धावकोऽपि हि यद्भासः कवीनामग्रिमोऽभवत् ॥
आदौ भासेन रचिता नाटिका प्रियदर्शिका।
तस्य रत्नावली नूनं रत्नमालेव राजते ॥
.... ।
नागानन्दं समालोक्य यस्य श्रीहर्षविक्रमः ॥

---

१. सूत्रधार से प्रारम्भ होने वाले।

२. बहुत से पात्रों वाले। कालिदास के शकुन्तला नाटक में २३ और विक्रमोर्वशीय में १८ पात्र हैं। किन्तु इन नाटकों में से प्रत्येक में औसतन लगभग ३० पात्र हैं।

३. भिन्न-भिन्न नाटकों में भिन्न-भिन्न कथानक से युक्त। कालिदास के नाटकों का विषय प्रायः एक ही है।

४. कठिन आलोचना।

इन श्लोकों द्वारा यही सिद्ध होता है कि या तो राजशेखर से भूल हुई है या दो भास हुए हैं जिनमें से एक कालिदास से पूर्व हुआ और दूसरा कालिदास के पश्चात्।

ऐसा मानने पर कहा जावेगा कि स्वप्नवासवदत्त का रचयिता वह भास है जो कालिदास के पश्चात् हुआ। इस अर्थ-ग्रहण के अनुसार उक्त श्लोक में आए हुए धावक पद का अर्थ होगा 'धोबी' और भास का तात्पर्य होगा व्यक्तिविशेष। किन्तु ऐसा तभी माना जा सकता है जब इस भारतीय लोकवाद को, जो केवल लोकवाद ही नहीं है प्रत्युत जिसका समर्थन कई संस्कृत लेखक भी करते हैं, स्वीकार न करें कि धावक ने उपर्युक्त तीन नाटकों (प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द) की रचना की थी और पारितोषिक रूप में तत्कालीन शासक नृप श्रीहर्ष से विपुल धन प्राप्त किया था। उक्त श्लोकों का यथार्थ अर्थ लेने पर तो यह मानना पड़ता है कि धावक कवि का असली नाम है भास (प्रकाशमान, सुप्रथित, यशस्वी) उसके विशेषण हैं। अतः राजशेखर ने जो लिखा है ठीक है।

यह भी कहा जाता है[1] कि कई प्राचीन संस्कृत कवि जिसका उल्लेख करते हैं और राजशेखर ने जिसकी इस प्रकार प्रशंसा की है वह स्वप्नवासवदत्त नाटक आजकल का उपलभ्यमान स्वप्नवासवदत्त नाटक नहीं हो सकता। भास के नाम से प्रचलित इन तेरह नाटकों का रचयिता कोई अप्रसिद्ध दक्षिण भारतीय कवि है जो ७वीं शताब्दी[2] में हुआ होगा। प्रो० सिलवेन लेवी ने रामचन्द्र गुणचन्द्र के नाट्यदर्पण नामक ग्रन्थ में से एक पद्य[3] प्रस्तुत किया है जो आजकल के स्वप्नवासवदत्त में नहीं मिलता। पद्य नहीं मिलता यह ठीक है, किन्तु इस पद्य का भाव उपलभ्यमान

---

१. देखिये, 'भण्डारकर इंस्टीच्यूट जर्नल' (१९२५-२६) में देवधर का लेख।

२. बार्नेट भी इस विचार से सहमत है।

३. पदाक्रान्तानि पुष्पाणि सोष्मं चेदं शिलासनम्।
नूनं काचिदिहासीना मां दृष्ट्वा सहसा गता ॥

स्वप्नवासवदत्त में अवश्य आया हुआ है, इससे निषेध नहीं हो सकता। इस विरोधी युक्ति द्वारा अधिक से अधिक यही सिद्ध हो सकता है कि स्वप्नवासवदत्त के नाना संस्करण हैं। इसके द्वारा वर्तमान स्वप्नवासवदत्त के असली होने का खण्डन कदापि नहीं हो सकता। ऐसा उदाहरण कालिदास का मालविकाग्निमित्र नाटक भी उपस्थित करता है। स्वप्नवासवदत्त के नाना संस्करण थे, इस बात का समर्थन श्रीभोजदेव के शृंगारप्रकाश के साक्ष्य से भी होता है, क्योंकि शृंगारप्रकाश का उद्धृत प्रकरण स्वप्नवासवदत्त के पञ्चम अंक का सार है।

शारदातनय (१२ वीं शताब्दी) के भावप्रकाश में स्वप्नवासवदत्त से एक श्लोक[1] उद्धृत है और वह श्लोक आजकल के स्वप्नवासवदत्त में पाया जाता है। इससे भी सिद्ध होता है कि यही स्वप्नवासवदत्त भास का असली स्वप्नवासवदत्त है। इस सब का सार यही है कि इन सब तेरह नाटकों का रचयिता भास ही था।

(१५) भास के और ग्रन्थ

सुभाषित-कोशों में भास के नाम में दिए हुए पद्य इन नाटकों में नहीं मिलते। अतः सम्भव है कि भास ने कुछ और नाटक लिखे हों और कदाचित् कुछ फुटकर कविता भी की हो (जिसके संग्रह का नाम विष्णुधर्म हो) तथा अलंकारशास्त्र का भी कोई ग्रन्थ लिखा हो। मध्यकालीन संस्कृत-साहित्य के आधार पर यही अनुमान होता है।

महाकवि भास का एक और नाटक 'यज्ञफलम्' (अथवा यज्ञ-नाटकम्) राजवैद्य जीवराम कालिदास शास्त्री को मिला है। इस नाटक की कथा वाल्मीकीय रामायण के बालकाण्ड से ली गई है और यह संवत् १९९७ में गोंडल (काठियावाड़) से प्रकाशित हुआ है। इसकी दो हस्तलिखित प्रतियाँ देवनागरी अक्षरों में प्राप्त हुई हैं।

---

१. चिरप्रसुप्तः कामो मे वीणया प्रतिबोधितः।
तां तु देवीं न पश्यामि यस्या घोषवती प्रिया॥

एक के अन्त में लिखा है :—"इति यज्ञनाटकं समातं विक्रमार्क संवत् १७२७ आश्विन कृष्ण पक्षे द्वितीयायां भौमवासरे लिखितं स्वामी शुद्धानन्द तीर्थ"। दूसरी प्रति के अन्त में लिखा है, "इति यज्ञफलं सम्पूर्णं विक्रमीय संवत्सर १८५९ मासानामुत्तमे पौष मासे सिते पक्षे पूर्णिमायां गुरुवासरे लिखितं देवप्रसाद शर्मणा हस्तिनापुर निवासी।"

नाटक के आभ्यन्तरिक साक्ष्य से प्रतीत होता है, कि इसका पूरा नाम 'यज्ञफलं' और संक्षिप्त नाम 'यज्ञनाटकं' है। जैसा कि स्वप्नवासवदत्तम् के अन्त में भी 'इति स्वप्ननाटकमवसितम्' ही देखने को मिलता है। नाटक का आरम्भ 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' से होता है। 'प्रस्तावना' के स्थान पर 'स्थापना' शब्द का प्रयोग किया गया है। भास के अन्य नाटकों की भाँति इसकी स्थापना भी संक्षिप्त है और उसमें कवि के तथा नाटक के नाम का अभाव है। भरत वाक्य इस प्रकार है :—

रक्षन्तु वर्णा धर्मं स्वं, प्रजाः स्युरनुपप्लुताः।
त्वं राजसिंह पृथ्वीं सागरान्तां प्रशाधि च॥

भास के अन्य नाटकों की भाँति इसमें भी पात्रों का बाहुल्य है। इसकी अति प्राचीन भाषा, इसकी वस्तु कल्पना, इसकी शैली, और इसके रस, भाव, अलंकार और नाट्यांगों की मनोहरता निस्सन्देह इसे भास की ही कृति प्रमाणित करते हैं। सम्भव है कि भास के अन्य ग्रन्थ भी इसी प्रकार धीरे २ प्रकाश में आ जायें।

(१६) भास की शैली

भास के काव्य का विशिष्ट गुण यह है कि उनकी भाषा प्राञ्जल और सुष्ठु है। इसमें भावों का उद्रेक, लय का मधुर संगीत और ऊंची उड़ान भरने वाली निर्मल कल्पना है। कविकुलगुरु कालिदास प्रकृति के कवि और रमणीयता में प्रमाण माने जाते हैं, किन्तु मानवीय मनोवृत्तियों

की व्याख्या में भास कदाचित् उनसे भी बढ़ जाता है। उसके नाटकों के विषय विविध हैं, तथा उनका कथानक सदा रोचक एवं सरल है। वह केवल ललित भाषा लिखने में ही उच्चकोटि का सिद्धहस्त नहीं है, अपितु नाटकीय घटनानुरूप यथार्थ परिस्थिति पैदा कर देने में भी। उसकी शैली की एक और विशेषता यह है कि वह एक श्लोक के कई टुकड़े कर लेता है और प्रत्येक टुकड़े का वक्ता पृथक् पृथक् पात्र होता है। यह रीति मनोविनोदक उत्तर-प्रत्युत्तर के तथा ओजस्वी वार्त्तालाप के बहुत अनुरूप है[1]। गद्य-पद्य दोनों में कवि अपने आपको काव्य-पद्धति का आचार्य सिद्ध करता है। आलङ्कारिकों के मतानुसार भास वैदर्भी रीति[2] का कवि है।

भास की कविता में श्लोक छन्द का प्राधान्य है। यह बात बहुत कुछ प्राचीनता की बोधक है। भास की शैली की एक और विशेषता यह है कि वह पाणिनि के नियमों का उल्लंघन कर जाता है (जैसा पहले कहा जा चुका है)। यह बात भी उसके प्राक्कालीन होने की सूचक है।

(१७) काल

भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भास के लिए भिन्न-भिन्न काल निश्चित किए हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्रतिज्ञायौगन्धरायण में से श्लोक[3] आया है। इसी के आधार पर पं० गणपति शास्त्री ने भास को ई० पू०

---

१. इसी अभिरुचि के लिए विशाखदत्त का मुद्राराक्षस देखिये।

२. दण्डी के अनुसार वैदर्भीरीति में निम्नलिखित दस गुण पाये जाते हैं;

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थ-व्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः॥
(काव्यादर्श १, ४१)

[दण्डी इस बारे में भरत का अनुयायी है।]

३. नवं शरावं सलिलं सुपूर्णं सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम्।
तत्तस्य मा भून्नरकं च गच्छेद्, यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत्॥

चतुर्थ शताब्दी का माना है। इस युक्ति में यह अनुमान कर लिया गया है कि अर्थशास्त्र ई० पू० चौथी शताब्दी में लिखा गया था, किन्तु आज हमें इतिहास का जो ज्ञान प्राप्त है, उसके अनुसार हम उक्त विचार को निश्चय के साथ ठीक नहीं कह सकते। पं० रामावतार ने भास को ईसा की दशवीं शताब्दी में रक्खा है। उनका विचार है कि भास का चारुदत्त नाटक शूद्रक के मृच्छकटिक का भद्दा संक्षेप है।[1] ये नाटक

---

१. मृच्छकटिक और चारुदत्त में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि दोनों का स्वतन्त्र उद्भव असम्भव प्रतीत होता है। उन्हें देखकर अनुमान करना पड़ता है कि या तो उनमें से कोई एक दूसरे के आधार पर लिखा गया है या दोनों किसी तीसरे ग्रन्थ पर अवलम्बित हैं। पहले पक्ष में भी दो मत हैं—या तो चारुदत्त (जो सर्वसम्मति से चारों अंकों में एक अपूर्ण नाटक है) अभिनय के प्रयोजन से मृच्छकटिक का संक्षेप है, या मृच्छकटिक चारुदत्त का श्रमपूर्ण समुपबृंहित रूप है। इन दोनों विचारों में से भी प्रथम विचार के समर्थन में निम्नलिखित युक्तियाँ दी जाती हैं :—

(क) वामन और अभिनवगुप्त जैसे प्रारम्भिक आलंकारिक चारुदत्त की अपेक्षा मृच्छकटिक से अधिक परिचित थे। वामन का पाठ 'द्यूतं हि नाम पुरुपस्यासिंहासनं राज्यम्' मृच्छकटिक में आता है। श्लेष के प्रसंग में वामन लिखता है कि यह शूद्रक तथा अन्य लेखकों के ग्रन्थों में बहुत पाया जाता है।

(ख) 'असत्पुरुपसेवेव' की उपमा प्रसङ्गानुसार मृच्छकटिक में बहुत अधिक ठीक बैठती है, चारुदत्त में यह केवल एक आलंकारिक तुच्छ पदार्थ प्रतीत होता है।

(ग) आभ्यन्तरिक साक्ष्य से ज्ञात होता है कि चारुदत्त अविस्पष्ट है और सारी अवस्था तभी विस्पष्ट होती है जब हम मृच्छकटिक को हाथ में उठाते हैं।

मत्तविलास के साथ मिलते-जुलते हैं, इस आधार पर डा० बार्नेट ने इन्हें ७ वीं शताब्दी का बताया है। डा० विंटरनिट्ज़ और स्टेन कोनो ने इन नाटकों को ईसा की दूसरी और चौथी शताब्दी के

ये युक्तियाँ प्रबल होने पर भी पूर्ण साधक नहीं हैं। इस मत में निम्नलिखित बातों का समाधान नहीं होता :—

(अ) चारुदत्त में ऐसे प्रकरण हैं जो मृच्छकटिक में नहीं हैं।

(आ) चारुदत्त में उज्जैन के राजनैतिक विप्लव का उल्लेख नहीं है। यदि चारुदत्त मृच्छकटिक से बाद में बना होता, तो इसमें इस महत्त्वपूर्ण विप्लव का उल्लेख अवश्य होता।

दोनों नाटकों के वैषम्य के आधार पर भी कुछ परिणाम निकालने का प्रयत्न किया गया है। वैषम्य की कुछ मुख्य बातें ये हैं :—पारिभाषिक शब्द, प्राकृतभाषाएँ, पद्यरचना और नाटकीय घटना।

पारिभाषिक शब्द—इस बारे में मुख्य दो शब्द ये हैं—(१) चारुदत्त की दोनों हस्तलिखित प्रतियों में सुप्रसिद्ध नान्दी का अभाव है। (२) स्थापना में नाटककार का नाम नहीं दिया गया है। मृच्छकटिक की प्रस्तावना में नान्दी भी है और नाटककार का नाम भी। परन्तु यह युक्ति किसी निश्चय पर नहीं पहुँचा सकती।

प्राकृत भाषाएँ—प्राकृतों का तुलनात्मक अध्ययन भी कुछ निश्चय नहीं करा सकता, विशेष करके इस अवस्था में जब कि हम जानते हैं कि चारुदत्त दक्षिण भारत का हस्तलिखित ग्रन्थ है, अतः स्वभावतः उसमें पुराने शब्द सुरक्षित रह गए हैं। अतः इस युक्ति पर विस्तार से विचार करने की आवश्यकता नहीं।

पद्यरचना—दोनों नाटकों के पद्यों के तुलनात्मक अध्ययन से विदित होता है कि जहाँ-जहाँ पाठगत भेद हैं वहाँ-वहाँ मृच्छकटिक के पाठ अधिक अच्छे हैं। कुछ उदाहरण देखिये :—

(क) चारुदत्त में—यथान्धकारादिव दीपदर्शनम् (यथा और इव की पुनरुक्ति) मृच्छकटिक में—घनान्धकारादिव दीपदर्शनम्।

बीच का ठहराया है। उनके ऐसा मानने का कारण यह है कि इनकी प्राकृत भाषा अश्वघोष और कालिदास की प्राकृत भाषाओं के मध्य में बीते काल की भाषा प्रतीत होती है। किन्तु जैसा कहीं और कहा जा चुका है प्राकृतों के आधार पर निकाला हुआ कोई सिद्धान्त सच्चा सिद्धान्त नहीं हो सकता; कारण कि भास के नाटक दक्षिण भारत में और अश्वघोष के नाटक मध्य एशिया में मिले हैं। इन नाटकों के आभ्यन्तरिक साक्ष्य से जो बातें मालूम हो सकती हैं वे ये हैं :—

(ख) चारुदत्त में—यो याति दशां दरिद्रताम् (दो भाववाचक संज्ञाएँ एक दूसरे के विशेषण के रूप में)

मृच्छकटिक में—यो याति नरो......

(ग) चारुदत्त में—क्लिन्नखर्जूरपाण्डु (चन्द्रमा की उपमा के तौर पर उद्धृत पूर्वतया अकृत्रिम और मौलिक)

मृच्छकटिक में—कामिनीगण्डपाण्डु (परिष्कृत और रससिद्धान्तानुकूल)। और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं। इनसे अनुमान होता है कि मृच्छकटिक चारुदत्त के बाद में बना होगा, अन्यथा चारुदत्त के दुष्ट पाठों के लिए क्या उत्तर हो सकता है।

नाटकीय घटना—उपर्युक्त विचार का समर्थन नाटकीय घटना सम्बन्धी भेद से भी होता है। मृच्छकटिक का कथानक कहीं अधिक कौशलपूर्ण है। विशेष स्मरणीय बात यह है कि चारुदत्त नाटक के कई दोष मृच्छकटिक में सुधार दिए गए हैं। यथा; चारुदत्त में षष्ठी की सन्ध्या में देर से चन्द्रमा के निकलने का उल्लेख करके दो दिन बाद चन्द्रमा को आधी रात में छिपा बताया गया है। इस भूल को मृच्छकटिक में सुधार दिया गया है। यह कौन विश्वास करेगा कि अभिनय के लिए संक्षेप करते हुए एक सही प्राकृतिक घटना को गलत बनाकर ले लिया गया होगा।

अतः सिद्धान्त यही निकलता है कि मृच्छकटिक चारुदत्त का समुप-

(१) भरत वाक्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है ।

(२) 'यवनिका' शब्द पर्दे (Curtain) के लिये नहीं, घूँघट (Veil) के लिये आया है ।

(३) नए अंक के साथ घटनास्थल भी बदल जाता है, किन्तु घटना-स्थल के लिये कोई संकेत नहीं दिया गया है ।

(४) रुद्रदामा (ईसा की दूसरी शताब्दी) के शिलालेखों में जो कृत्रिम काव्य शैली मिलती है वह इनकी भाषा में नहीं है । इसमें व्यवहारच्युत (पुराने) व्याकरणीय प्रयोग मिलते हैं और अनुप्रास या लम्बे समास नहीं हैं ।

(५) इनमें अप्रचलित प्रयोग (Archaic Expressions) मिलते हैं । उदाहरणार्थ ;

(क) राजा (Prince) के अर्थ में आर्यपुत्र का प्रयोग हुआ है । ऐसा ही प्रयोग अशोक के सिद्धपुर वाले शिलालेख में भी मिलता है ।

(ख) महाब्राह्मण शब्द का प्रयोग अचारज के अर्थ में नहीं, अपितु वस्तुतः आदर सूचित करने के लिये हुआ है ।

(ग) यक्षिणी का प्रयोग भूतिनी के अर्थ में हुआ है । प्रारम्भिक बौद्ध ग्रन्थों में भी इस शब्द का ऐसा ही प्रयोग देखा जाता है ।

(घ) भरतों के घर (वंश) को भास ने वेदों का घर बताया है देखिये,

वृंहित रूप है । यह कहना कठिन है कि ऐसा करने में प्रयोजन क्या था—काव्यार्थ की चोरी, या अपूर्ण ग्रन्थ को पूरा करना ।

यदि कभी अन्य नए अन्वेषणों से चारुदत्त के विरुद्ध ही सामग्री मिलती रही अर्थात् यह सिद्ध हुआ कि चारुदत्त मौलिक कृति नहीं है तब भी हम अपने उपर्युक्त परिणाम से अनुबद्ध यह कल्पना कर सकते हैं कि चारुदत्त में अपने उपजीव्य मौलिक ग्रन्थ का पर्याप्त अंश सुरक्षित है जिस पर मृच्छकटिक आश्रित है ।

वेदाक्षरसमवायप्रविष्टो भारतो वंशः। (प्रतिज्ञायौगन्धरायण)

(६) एक कथा को कहते हुए वाक्य का प्रारम्भ इस प्रकार होता है :—काम्पिल्य का एक ब्रह्मदत्त राजा था । यह शैली जातकों में प्रसिद्ध है ।

(७) पंचरात्र का कथानक उस कथा[1] पर अवलम्बित है जो वर्त्तमान महाभारत में नहीं मिलती ।

(८) इन नाटकों में उस समाज का चित्र है जिसने प्राचीन रूढ़ि के अनुसार बौद्ध बातें अपना ली थीं । यथा, प्रतिज्ञा यौगन्धरायण में श्रमणक का चरित्र देखिये । साथ ही हमें बौद्धधर्म विरोधी मनोवृत्ति का भी आभास मिलता है ।

(९) इमां सागरपर्यन्तां हिमवद्विन्ध्यकुण्डलाम् ।
महीमेकातपत्राङ्कां राजसिंहः प्रशास्तु नः ॥

इस श्लोक में 'एकातपत्र' राज्य का उल्लेख है जो हिमालय से विन्ध्य तक और समुद्र पर्यन्त फैला हुआ था । ऐसा समय ई० पू० ३२५ और १०० के मध्य पड़ता है ।

(१०) श्लोक छन्द की बहुलता और पाणिनि के नियमों की उपेक्षा, जैसा पहले कहा जा चुका है, प्राचीनता के चिह्न हैं । इन सब बातों के आधार पर यह प्रतीत होता है कि पं० गणपति शास्त्री का बताया हुआ ईसा पूर्व की चतुर्थ शताब्दी का काल संभवतया ठीक है । यह भास के काल की पर सीमा (Upper limit) है ।

---

१. पंचरात्र में कहा गया है कि दुर्योधन ने द्रोणाचार्य को वचन दिया था कि यदि अज्ञातवास में रहने वाले पाण्डवों का पता पांच रातों में लग जाए तो वह पाण्डवों को राज्य में भागहर बना लेगा । साथ ही यह भी कहा गया है कि अभिमन्यु दुर्योधन की ओर से विराट् की सेना से लड़ रहा था और विराट् की सेना के लोगों ने उसे पकड़ लिया था ।

२ ऐसा काल शुङ्ग और कण्वों के बौद्ध-विरोधी साम्राज्य में था ।

अब रही अवर सीमा (Lower limit) की बात । हम जानते हैं कि ये नाटक कालिदास के मालविकाग्निमित्र से तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी पुराने हैं। कालिदास का समय अभी तक विवाद का विषय बना हुआ है। अर्थशास्त्र के काल की अवर सीमा विद्वान् साधारणतया ईसा की दूसरी शताब्दी मानते हैं अतः भास ईसा की दूसरी शताब्दी से पहले ही जीवित रहा होगा।
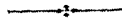
अध्याय ९

कौटल्य का अर्थशास्त्र

(१८) अर्थ शास्त्र का महत्त्व—कौटल्य का अर्थशास्त्र उन ग्रन्थों में सबसे अधिक महत्वशाली ग्रन्थ है जिन्हें लिखकर दक्षिण[१] भारतीयों ने संस्कृत साहित्य की सेवा की है। जब से इसका पता लगा है तब से प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता के सम्बन्ध में हमारे विचार क्रान्ति के क्षेत्र बन गए हैं। इसका पता लगने से पहले भारतीय राजनीतिशास्त्र में शून्य समझे जाते थे। आम राय यह थी कि भारतीय सभ्यता ने केवल 'विचार-क्षेत्र में ही चमत्कार दिखलाया है 'क्रिया' क्षेत्र में यह बुरी तरह असफल रही। कौटल्य के अर्थशास्त्र में राज्य-सिद्धान्तों का ही नहीं, प्रबन्ध की सूक्ष्म बातों का भी वर्णन है। इसका विषय-क्षेत्र बहुत विस्तीर्ण है। इससे हमें राजा के विविध कर्तव्यों का, गाँवों के बसाने की रीतियों का, भूमि, खेती और व्यापार की समस्याओं का, कलाओं और शिल्पों को उन्नत करने की विधियों का, मद्य इत्यादि मदकारी वस्तुओं पर नियन्त्रण रखने का, जङ्गली और खानों (Mines) से लाभ उठाने के ढङ्ग का, सिंचाई का, अकाल में किए जाने वाले कामों का, अपराधियों को दण्ड देने के विधान का, तथा इसी प्रकार की और अनेक बातों का पता लगता

१. दाक्षिणात्यों के कुछ अन्य उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं:—भास के तेरह नाटक, भामह का भामहालंकार, और अवन्तिसुन्दरी कथा।

है। अर्थशास्त्र की बड़ी विशेषता यह है कि इसमें हमें सिद्धान्त और क्रिया का सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है। इस कारण संस्कृत के इन ग्रन्थों का महत्व ग्रीक के अरस्तू तथा अफ्लातून के ग्रन्थों से भी अधिक है।

(१९) रचयिता—(अ) सौभाग्य से कौटल्य के अर्थशास्त्र के रचयिता के विषय में स्वयं ग्रन्थ का आभ्यन्तरिक प्रमाण प्राप्त है। ग्रन्थ के अन्त के समीप यह श्लोक आया है—

येन शास्त्रं च नन्दराजगता च भूः।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम्॥

आगे चलकर अन्त में कहा गया है :—

स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रञ्च भाष्यञ्च॥

अर्थात्—"शास्त्रों पर टीका लिखने वालों में कई प्रकार का व्याघात दोष देकर विष्णुगुप्त ने स्वयं [यह] शास्त्र और [इस पर] भाष्य लिखा है[१]।"

(आ) बाह्य प्रमाण के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें ध्यान में रखने योग्य हैं :—(१) कामन्दक ने अपने नीतिशास्त्र का प्रयोजन कौटलीय अर्थशास्त्र का संक्षेप करना बतलाया है और अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में विष्णुगुप्त को प्रणाम किया है। (२) दशकुमारचरित के आठवें उच्छ्वास में दण्डी ने कहा है :—

इयमिदानीमाचार्यविष्णुगुप्तेन मौर्यार्थे षड्भिः श्लोकसहस्रैःसंक्षिप्ता

---

१. असली पाठ के रूप में और भी उद्धरण दिये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ—

(क) कौटिल्येन कृतं शास्त्रं विमुच्य ग्रंथविस्तरम्। १। १॥

(आ) कौटिल्पेन नरेन्द्रार्थे शासनस्य विधिः कृतः। २। १०॥

इससे प्रकट है कि कौटिल्य और विष्णुगुप्त एक ही व्यक्ति के वाचक हैं।

इसके अतिरिक्त राजा के दैनिक कर्तव्यों का निरूपण करते हुए दण्डी ने कौटलीय अर्थशास्त्र के कुछ स्थल ज्यों के त्यों उद्धृत कर दिए हैं। दशकुमारचरित में सोमदत्त के चरित में उसने कौटलीय अर्थशास्त्र का फिर उल्लेख करते हुए लिखा है:—

कौटिल्य-कामन्दकीयादि-नीतिपटलकौशल......।

(३) जैनधर्म के नन्दिसूत्र में, पञ्चतन्त्र में, सोमदेवकृत नीतिवाक्यामृत में और कालिदासकृत ग्रन्थों पर मल्लिनाथीय टीका में चाणक्य के अर्थशास्त्र के उल्लेख या उद्धरण उपलब्ध होते हैं।

(४) चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ चाणक्य का सम्बन्ध अवश्य था। यह बात वक्ष्यमाण प्रमाणों से सिद्ध होती है:—

(क) I विष्णुपुराण कहता है:—

नवैव तान् नन्दान् कौटिल्यो ब्राह्मणः समुद्धरिष्यति ।
......कौटिल्य एव चद्रगुप्तं राज्येऽभिषेक्ष्यति ॥

इसी प्रकार भागवत पुराण भी कहता है :—

नवनन्दान् द्विजः कश्चित् प्रपन्नानुद्धरिष्यति ।
स एव चद्रगुप्तं वै द्विजो राज्येऽभिषेक्ष्यति ॥

वायु, मत्स्य और ब्रह्माण्ड पुराणों में भी ऐसे ही वचन मिलते हैं।

(ख) II जैन[1] तथा बौद्ध[2] साहित्य में प्राप्य अनेक उल्लेखों से भी उल्लिखित वचनों की पुष्टि होती है।

(ग) III मुद्राराक्षस के कथानक में भी नौ नन्दों का वध करा चुकने के बाद चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन को सुदृढ़ करने के लिए किए हुए चाणक्य के प्रयत्नों का वर्णन है।

१, इस बारे में मुख्य मुख्य जैन ग्रन्थ ये हैं :—स्थविरावलीचरित, नन्दिसूत्र और ऋषिमण्डलप्रकारणवृत्ति।

२ इस बारे में मुख्य मुख्य बौद्ध ग्रन्थ ये हैं :—बुद्धघोषकृत समन्तपशादिका। (विनयपिटक की एक टीका) और महावणस-टीका।

(५) चाणक्य के कई नाम प्रसिद्ध थे। यह बात अभिधानचिन्ता-मणि नामक कोष के नीचे अवतारित श्लोक से प्रमाणित होती है :—

वात्स्यायने मल्लनागः कुटिलश्चणकात्मजः ।
द्रमिलः पक्षिलस्वामी विष्णुगुप्तोऽङ्गलश्च सः ॥

प्रतीत होता है उसका असली नाम विष्णुगुप्त था। चणक का पुत्र होने से वह चाणक्य और शायद कुटल गोत्र के सम्बन्ध से कौटल्य कहलाया। वह कुटिल नीति का पक्षपाती था, अतः कौटिल्य भी कहलाता है। अन्य नाम अधिक प्रसिद्ध नहीं हैं।

(६) क्या यह ग्रन्थ एक ही व्यक्ति की कृति है? इस अर्थशास्त्र के मूल में ही बहत्तर बार 'इति चाणक्यः' ऐसे वचन पाए जाते हैं। इसी का अवलम्ब लेकर प्रो० हिलब्रैंड (Hillebrandt) ने कह डाला है कि यह ग्रन्थ किसी एक व्यक्ति की कृति नहीं है, चाणक्य की कृति होने की तो और भी कम आशा है। उक्त महाशय के मत से यह एक ही प्रस्थान (School) के कई लेखकों की रचना है; क्योंकि निरुक्त और महाभाष्य में हम 'इति यास्कः' और 'इति पतञ्जलिः' ऐसे वाक्य कहीं भी नहीं पाते हैं। प्रो० जैकोबी (Jacobi) ने इस मत का घोर विरोध किया है। भारत के अनेक लेखकों ने अपने ग्रन्थों में अपने ही नाम का प्रयोग प्रथम (अन्य) पुरुष में किया है। इसका कारण स्पष्ट है—वे स्वाभिमान-दोष के भागी होना नहीं चाहते थे। नानक, कबीर, तुलसीदास तथा अन्य अनेक कवियों ने ऐसे ही किया है। यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं कि इस ग्रन्थ ने अपने प्रस्थान (School) को जन्म दिया है, प्रस्थान ने ग्रन्थ को नहीं :—

(१) कामन्दक ने इस ग्रन्थ के रचियता का उल्लेख विस्पष्टतया एक व्यक्ति के रूप में किया है, और उसके ग्रन्थ में ऐसे किसी सम्प्रदाय या प्रस्थान (School) के उल्लेख का आभास तक नहीं पाया जाता।

(२) लेखक ने ग्रन्थ एक विशेष उद्देश्य को लेकर लिखा है।

यह ग्रन्थ के प्रारम्भ में कहता है :—पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यर्थ-शास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्थापितानि प्रायशस्तानि संहृत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम्। इस अर्थशास्त्र के अन्दर कहीं भी व्याघात दोष नहीं पाया जाता है।

(३) यदि चाणक्य के बाद का कोई लेखक इस ग्रन्थ का रचयिता हो तो 'इति चाणक्यः', नेति 'चाणक्यः', और 'इत्याचार्याः' इत्यादि वाक्य कुछ अर्थ न रक्खें; क्योंकि तब तो स्वयं चाणक्य एक आचार्य होता।

(४) स्वयं कौटिल्य ने एक सौ चौदह बार पूर्वाचार्यों का उल्लेख करके उनके विचारों की तीव्र आलोचना की है।

(५) मूल ग्रंथ में लेखक का नाम अथवा उल्लेख सर्वत्र एक वचन में हुआ है।

(६) ग्रन्थ के प्रारम्भ में बड़ी सावधानी से तैयार की हुई विषयानुक्रमणी है जिसमें रूप-रेखा और निर्माण का असाधारण ऐक्य देखा जाता है।

इस ग्रन्थ के लिखे जाने से पहले भी अर्थशास्त्रविषयक अनेक ग्रन्थ मौजूद थे और चाणक्य ने उनमें काट-छाँट या रद्दोबदल करके यह ग्रन्थ तैयार किया था। यह बात स्वयं इस ग्रंथ के मूल-पाठ से भी सिद्ध होती है। यह भी ठीक हो सकता है कि उसे अपने ग्रन्थ के निरूपणीय विषयों के लिए बहुत-सी आवश्यक सामग्री राज्य के अधिकारियों से प्राप्त हो गई होगी; परन्तु यह ग्रंथ चाणक्य की मौलिक रचना नहीं है, यह सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है।

(२०) ग्रन्थ का रचनाकाल

(१) डा० शामशास्त्री के द्वारा किए हुए इस ग्रंथ के अनुवाद[1] के लिए लिखी हुई अपनी संक्षिप्त भूमिका में डा० फ्लीट ने इस ग्रंथ का

१. मैसूर से १९२३ ई० में प्रकाशित।

सम्भाव्यमान निर्माण-काल ३२१-२९६ ईसा से पूर्व माना है। प्रो० जैकोबी, डा० टॉमस (Thomas) तथा कई अन्य विद्वान् भी इस विचार से सहमत हैं।

(२) प्रो० जाली (Jolly) के विचार से यह ग्रन्थ कामसूत्र से मिलता-जुलता है, और कामसूत्र ईसा की चौथी शताब्दी में लिखा गया था, अतः यह भी प्रायः उसी समय का हो सकता है। उक्त प्रोफेसर ने मुख्यतया इस बात पर विश्वास किया है कि मेगस्थनीज़ (Megasthenese) ने चाणक्य के नाम का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु आधुनिक अनुसन्धानों के आधार पर माना जाता है कि मेगस्थनीज़ का साक्ष्य अधिक विश्वसनीय नहीं है। उदाहरणार्थ, उसने लिखा है कि भारतीय लोग लिपि-कला नहीं जानते हैं; परन्तु आजकल इस बात पर कोई भी विद्वान् विश्वास नहीं कर सकता है। प्रो० जाली स्वयं स्वीकार करते हैं कि मेगस्थनीज़ भारतीय भाषाओं और साहित्य से परिचित नहीं था, अतः उसका साक्ष्य अल्बेरूनि के साक्ष्य से बहुत कम मूल्य रखता है। सच तो यह है कि चाणक्य के अर्थशास्त्र में मौर्यकाल से पूर्व के भारत का चित्र देखने को मिलता है[1]। यदि

---

१. इस अर्थशास्त्र में आलिखित समाज की कुछ रीति-नीति ये हैं :—

(क) राजनीतिक अपराध करने पर ब्राह्मण का वध विहित है।

(ख) राज्य-हित के लिए मन्दिरों को लूटने में दोष नहीं है।

(ग) विशेष परिस्थितियों में विवाह-विच्छेद (Divorce) वैध है।

(घ) पति मर जाए या बहुत अधिक समय के लिए विदेश चल जाए तो स्त्री दूसरा विवाह कर सकती है।

(ङ) अथर्व-वेदोक्त जादू-टोना प्रचलित था।

(च) वैश्वानर, सङ्कर्षण और महाकच्छ की उपासना कर्तव्य है।

(छ) तरुणी होने पर कन्याओं को वर चुनने की स्वतन्त्रता थी।

(ज) ब्राह्मण शूद्र की पुत्री से विवाह कर सकता था।

(झ) ब्राह्मण सैनिक का व्यवसाय ग्रहण कर सकते थे।

मेगस्थनीज़ अत्यन्त सूक्ष्म-पर्यवेक्षक होता तब भी उसकी और चाणक्य की बातों में अनैक्य स्वाभाविक था। "चाणक्य के विषय में मेगस्थनीज़ चुप है" यह कोई युक्ति नहीं। मेगस्थनीज़ ने तो कहीं नन्दों का भी नाम नहीं लिया; फिर चाणक्य का नाम लेने की क्या आशा हो सकती है?

(३) प्रो० विंटरनिट्ज़ Winternitz और प्रो० कीथ (Keith) ने इस ग्रन्थ का निर्माण-काल ईसा की चौथी शताब्दी माना है। विंटरनिट्ज़ के मत से इसका रचयिता कोई राजनीतिज्ञ नहीं, बल्कि कोई पण्डित है। परन्तु इस मत में इस तथ्य के ऊपर ध्यान नहीं दिया गया कि भारतवर्ष में एक ही व्यक्ति पण्डित और राजनीतिज्ञ दोनों का कार्य कर सकता है; माधव और सायण दोनों भाई बड़े योग्य अमात्य, साथ ही वेदों और भारतीय दर्शन के धुरन्धर विद्वान् भी थे।

(४) कुछ विद्वानों ने बड़ा कल्पनापूर्ण विचार प्रकट करने का साहस किया है। उनका कथन है कि कौटिल्य ('कुटिल' बाबू) कोई ऐतिहासिक पुरुष नहीं था। परन्तु हम ऊपर कह चुके हैं कि उसका असली नाम विष्णुगुप्त था, कौटिल्य उसका उपनाम है जो उसके कुटिल नीति का पक्षपाती होने के कारण प्रसिद्ध हो गया है।

(५) चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ चाणक्य का भारी सम्बन्ध यह सिद्ध करता है कि वह ई० पू० चौथी शताब्दी में हुआ था; और 'नरेन्द्रार्थे' 'मौर्यार्थे' इत्यादि वाक्यों से यह भी विश्वास करना पड़ता है कि यह ग्रन्थ चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवन-काल में ही लिखा गया था।

(६) युता, राजुका, पाषण्डेपु, समाज, महामाता इत्यादि पारिभाषिक शब्द कौटलीय अर्थशास्त्र के समान अशोक के शासन-लेखों में भी पाए जाते हैं। कुछ शब्द ऐसे भी हैं जो किसी विशिष्ट अर्थ में प्रयोग में लाए गए हैं और बाद में 'अप्रयुक्त' हो गए हैं।

---

२ कैलकटा रिव्यू (अप्रैल) १९२४ ई०। ३ जर्नल आव् रायल एशियाटिक सोसायटी १९१६ ई० (१३०)

(७) चाणक्य के अर्थशास्त्र में और अशोक के शासन-लेखों में कुछ एक एक जैसे विधान पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए चक्रवाक, शुक और शारिका इत्यादि पक्षियों की हत्या करना वर्जित है, दवाइयों के काम में आनेवाले पौधों का बोना और सड़कों तथा पगडण्डियों के किनारे कुओं का खुदवाना विहित है।

(८) कोई कोई कहते हैं कि इस अर्थशास्त्र की शैली एवं बाह्य रूपरेखा से प्रतीत होता है कि यह जितना प्राचीन माना जाता है उतना प्राचीन नहीं हो सकता है। परन्तु ऐसा कहने वालों को जानना चाहिए कि ग्रन्थ के मूलपाठ से ही ज्ञात होता है कि असली ग्रन्थ छः हज़ार श्लोकों और डेढ़ सौ अध्यायों के रूप में था; किन्तु आजकल के प्रचलित ग्रन्थ में काफी गद्य भी है। इस समस्या को सुलझाने के लिये किसी किसी ने एक आसान उपाय बताते हुए कहा है कि इस अर्थशास्त्र के बाह्य रूप-रङ्ग में ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में कुछ परिवर्तन हुआ है। इसका समर्थन करने वाली बात यह है कि दण्डी से पहले के सब लेखकों ने अर्थशास्त्र के जितने भी उद्धरण दिये हैं वे सब श्लोक-बद्ध और दण्डी के बाद के लेखकों द्वारा दिए हुए उद्धरण गद्यात्मक हैं। अनुमान किया जाता है कि सूत्रात्मक ग्रन्थ लिखने की प्रथा ईसा की पाँचवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुई होगी जब याज्ञवल्क्य स्मृति (लगभग ३५० ई०) तैयार हो चुकी थी। किन्तु इस 'परिवर्तनवाद' के प्रवर्तकों ने यह नहीं बतलाया कि यह परिवर्तन किसने किया, क्यों किया, और किस के लाभ के लिए किया ? विश्वास तो यह है कि इस अर्थशास्त्र के सार्वभौम आदर ने समय और प्रक्षेपकों के ध्वंसकारी हाथ से इसकी रक्षा अवश्य की होगी। इसी के साथ एक बात और भी है। कौटलीय अर्थशास्त्र के प्रारम्भ में सुव्यवस्थित एक प्रकरणानुक्रमणिका दी गई है तथा इसकी रचना पहले से ही अच्छी तरह तैयार किये हुए एक ढाँचे पर हुई प्रतीत होती है। निस्सन्देह, भारत में जाल-साजी का बाज़ार काफी गर्म रह चुका है; परन्तु इनका क्षेत्र 'भगवान्' का या मनु,

याज्ञवल्क्य और व्यास जैसे ऋषि-मुनियों का नाम था। ऐसी बातों का सम्बन्ध ऐतिहासिक व्यक्तियों के साथ नहीं देखा जाता है। यह पौधा भारत की भूमि में नहीं उगा है।

इस बारे में दण्डी का साक्ष्य बड़े महत्त्व का है। आजकल उपलभ्य-मान कौटलीय अर्थशास्त्र दण्डी के हाथ में अवश्य रहा होगा, क्योंकि उसने इसमें से कई स्थल ज्यों के त्यों उद्धृत किए हैं। वह इसका भी जिक्र करता है कि यह 'राष्ट्रनीति-विद्या अब आचार्य विष्णुगुप्त ने मौर्य के लिए छै हजार श्लोकों में संक्षिप्त करके कलम-बद्ध कर दी है'—'इयमिदानीमाचार्यविष्णुगुप्तेन मौर्यार्थे षड्भिः श्लोकसहस्रैः संक्षिप्ता'। इससे प्रकट है कि दण्डी से (ईसा की ७ वीं श०) पहले रूप का कोई परिवर्तन नहीं हुआ होगा। तो क्या रूप का यह परिवर्तन ७ वीं शताब्दी के बाद हुआ? ऐसा अनुमान किसी ने प्रकट नहीं किया। भवभूति ने चाणक्य के अर्थशास्त्र का उद्धरण सूत्र रूप में दिया है, परन्तु दण्डी और भवभूति के बीच पचास साल से भी कम का अन्तर है और इतना समय सूत्र शैली के विकास के लिए पर्याप्त नहीं माना जा सकता है।

इसके अतिरिक्त मूलग्रन्थ आप कहता है कि सूत्र और भाष्य दोनों का रचयिता विष्णुगुप्त है—'स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं च भाष्यं च'। अतः हमें यह मानने के लिए कोई कारण दिखाई नहीं देता है कि ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में इस अर्थशास्त्र के बाह्य रूप में परिवर्तन हुआ होगा। अब रही छै हजार श्लोकों की बात। इसका उत्तर देने में हम पी० वी० काणे (P. V. Kane) के इस कथन से पूर्णतया सहमत हैं कि यहाँ श्लोक का तात्पर्य छन्द नहीं, बल्कि बत्तीस वर्णों का सङ्घ है।

(२१) शैली—कौटलीय अर्थशास्त्र की शैली आपस्तम्ब, बौधायन तथा अन्य धर्मसूत्र ग्रन्थों की शैली से बहुत मिलती-जुलती है। इसमें गद्य-पद्य का सम्मिश्रण पाया जाता है। इसमें गद्य और पद्य एक दूसरे

के पूरक हैं। एक के बिना दूसरा अपूर्ण रहता है। इसके अतिरिक्त, इसमें सूत्र और भाष्य दोनों स्वयं ग्रन्थ-रचियता के लिखे हुए हैं। कहीं-कहीं भाष्य में उपनिषद् और ऊर्ध्वकालीन ब्राह्मणों की भाषा का रङ्ग-ढंग देखने में आ जाता है। ग्रन्थ में आदि से अन्त तक स्थूलालेख्य (Plan) और निर्माण की आश्चर्यजनक एकता पाई जाती है। कुछ एक पद पाणिनि के व्याकरण के नियमों का उल्लंघन करते हुए देखे जाते हैं। उदाहरणार्थ, औपनिषत्क के स्थान पर औपनिषदिक, रोचन्ते के रोचयन्ते और चातुरश्रिका के स्थान पर चतुरश्रिका आया है।

अध्याय ६

कालिदास

(२२) ईसापूर्व की प्रथम शताब्दी में संस्कृत का पुनरुज्जीवन

जैसा आगे चल कर बताया जायगा, अश्वघोष संस्कृत का बहुत बड़ा कवि था। वह बौद्ध भिक्षु और महायान मतावलम्बी था। वह कनिष्क (ई० की प्रथम शताब्दी) का समसामयिक था। उसने बौद्ध धर्म के कई पाली-ग्रन्थों पर संस्कृत-टीकाएँ लिखी हैं। अपने धर्म सिद्धान्तों के प्रचार के लिए बौद्ध प्रचारकों को भी संस्कृत का प्रयोग करना पड़ा, इससे अनुमान होता है कि ईसवी सन् से पूर्व ही संस्कृत का पुनरुज्जीवन अवश्य हुआ होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक के बाद कोई ऐसा प्रबल राजनैतिक परिवर्तन हुआ जिसका विरोध महायान मतावलम्बी भी नहीं कर सके। शुङ्ग और कण्व जैसी कुछ राजशक्तियों का प्रभुत्व हुआ और उन्होंने संस्कृत को पुनः सर्व-प्रिय बनाया। तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालय का प्रभाव दूर तक फैल रहा था। पता लगता है कि पुष्यमित्र ने ई० पू० की द्वितीय शताब्दी में साम्राज्य के केन्द्र में अश्वमेधयज्ञ किया था। इस काल में होने वाले पतञ्जलि ने अपने काल के कई ग्रन्थों का उल्लेख किया है। विशाल-काय महाभारत का सम्पादन भी इसी काल में हुआ। पद्यबद्ध स्मृतियाँ—मनु और याज्ञवल्क्य—भी इस काल की रचना हैं। पुराणों में बहु-संख्यक पुराण भी इसी समय रचे गए। अतः ईसापूर्व का समय वह

समय था जब संस्कृत में बहुत कुछ लिखा गया। तब संस्कृत का प्रभाव इतना हो गया था कि शिलालेख[1] भी संस्कृत में ही लिखे जाने लगे और बाद का जैनसाहित्य भी संस्कृत में ही प्रस्तुत हुआ। विक्रमीय[2] सम्वत् ई० पू० ५७ से प्रारम्भ होता है। इसकी प्रतिष्ठा या तो किसी बड़े हिन्दू राजा के सम्मान के लिए या किसी बड़ी हिन्दू-विजय की स्मृति-स्थापना के लिए रक्खी गई होगी। जनश्रुत-वाद के अनुसार कालिदास[3] ईसापूर्व की प्रथम शताब्दी में हुए।

(२३) कालिदास

यह बात प्रायः सर्वसम्मत है कि कालिदास संस्कृत का सबसे बड़ा कवि है। इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं कि वह भारत का शेक्सपीयर है। भारतीय विद्वान् और आलङ्कारिक उसका नाम महाकवि, कवि-शिरोमणि, कविकुलगुरु इत्यादि विशेषणों के साथ लेते हैं। खेद है कि ऐसे महाकवि के जीवन के[4] या काल तक के विषय में हम कुछ भी

---

१. रुद्रदामा का शिलालेख (शक सम्वत् ७२, ईसवी सन् १५०) संस्कृत का प्रथम शिलालेख कदापि नहीं। इस की भाषा और शैली दोनों से प्रतीत होता है कि तब भाषा का पर्याप्त विकास हो चुका था।

२. पहले के शिलालेखों में एक सम्वत् को जो ५७ ई० पू० का है कृत सम्वत् कहा गया है।

३. कालिदास के बारे में विस्तृत ज्ञान के लिए खण्ड २१ देखिये।

४. उसके जीवन के विषय में कई जनश्रुतियाँ हैं। एक जनश्रुति के अनुसार वह जवानी तक कुछ न पढ़ा और महामूर्ख था और काल देवी के वरदान से विद्यावान् हुआ था। दूसरी के अनुसार उसकी मृत्यु लंका से एक लालची वेश्या के हाथ से हुई। किन्तु इन जनश्रुतियों में बहुत कम विश्वास हो सकता है। अतः उनसे कोई विशेष परिणाम भी नहीं निकाला जा सकता।

निश्चित रूप से नहीं जानते। उसके काल की पर और अपर सीमाओं में पांच सौ वर्षों का अन्तर पाया जाता है। वह बड़ा भारी विद्वान् और अपने काल में प्रचलित सकल विद्याओं का, जिनमें राजधर्म, ज्योतिष और कामशास्त्र भी सम्मिलित हैं, बड़ा पण्डित था।

पता लगता है कि कालिदास नाटककार, गीतिकाव्यकर्ता और महाकाव्यनिर्माता था। उसके नाम से प्रचलित ग्रन्थों की संख्या अच्छी बड़ी है। उनमें से निम्नलिखित ग्रन्थ अधिक महत्त्व के हैं और विस्तृत वर्णन के अधिकारी हैं—

(१) मालविकाग्निमित्र।
(२) विक्रमोर्वशीय।
(३) अभिज्ञान शाकुन्तल। } नाटक

(४) ऋतुसंहार।
(५) मेघदूत। } गीतिकाव्य

(६) कुमारसम्भव (पहले ८ सर्ग)
(७) रघुवंश। } महाकाव्य

(२४) **मालविकाग्निमित्रम्**—विलसन ने इस ग्रन्थ के कालिदास-कृत होने में सन्देह प्रकट किया था, किन्तु विलसन के बाद अधिक अनुसन्धानों से यह सिद्ध हो चुका है कि यह नाटक कालिदास की ही कृति है। जिन आधारों पर यह कालिदास की रचना मानी जाती है वे ये हैं :—

अ—हस्तलिखित प्रतियों का साक्ष्य,

आ—प्रस्तावना में आई हुई बातें,

इ—आभ्यन्तरिक साक्ष्य (यथा चमत्कारपूर्ण उपमाएँ),

ई—पात्रों का चरित्र-चित्रण (प्रत्येक पात्र का चरित्र कालिदास की शैली के अनुरूप है)।

उ—नाटक-कला की उत्कृष्टता (कालिदास साधारण कक्षा में से भी एक आश्चर्यजनक सुन्दर कथानक गढ़ लेता है)।

ऊ—शैली, और

ए—भाषा।

निस्सन्देह कालिदास का यह प्रथम नाटक है। इसकी प्रस्तावना में वह इस दुविधा में है कि भास, सौमिल्ल और कविपुत्र जैसे कीर्त्तिमान् कवियों की कृतियों के विद्यमान होते हुए न जाने जनता उसके नाटक का अभिनय देखेगी या नहीं। इसमें पांच अंक हैं और विदिशा के महाराज अग्निमित्र तथा विदर्भ की राजकुमारी मालविका की संयोगान्त प्रेम-कथा वर्णित है। प्रसंग से इसमें कहा गया है कि पुष्यमित्र ने अपने आपको सम्राट् घोषित करने के लिए अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा छोड़ा; घोड़े के प्रधानरक्षक वसुमित्र (अग्निमित्र के पुत्र) ने सिन्धु के किनारे यवनों को परास्त किया और पुष्यमित्र[1] (महाराज के पिता) ने उक्त विजय का समाचार राजधानी में भेजा।

(२) विक्रमोर्वशीयम्—यह नाटक शकुन्तला से, जिसमें कवि ने नाटक-कला में पूर्णप्रौढि का परिचय दिया है, पहले लिखा गया है। इसमें पाँच अंक हैं। इसका विषय महाराज पुरूरवा और उर्वशी अप्सरा का परस्पर प्रेम है। प्रथम अंक में आता है कि केशी नामक दैत्य के वश में पड़ी हुई उर्वशी को अद्वितीय वीर महाराज पुरूरवा ने बचाया। तभी वे दोनों एक दूसरे के प्रेमपाश में बँध गये। दूसरे अंक की कथा है कि पुरूरवा विदूषक से उर्वशी विषयक अपने अनुराग का साथ साथ वर्णन करते हैं, उसी समय अदृश्य रूप में उर्वशी अपनी एक सखी के साथ वहाँ आती है और भोजपत्र पर लिखा हुआ अपना प्रेम सन्देश फेंक देती है। तब पुरूरवा और उर्वशी में वार्तालाप प्रारम्भ होता है। संयोग

---

१ अन्तिम मौर्य नृप को राज्यच्युत करके यह १७८ ई० पू० में सिंहासनारूढ़ हुआ। इसने शुङ्गवंश की नींव डाली।

से एक नाटक में अभिनय करने के लिये उर्वशी शीघ्र स्वर्ग में बुला ली जाती है। राजा वह प्रेम सन्देश सँभाल कर रखने के लिए विदूषक को दे देता है किन्तु किसी न किसी प्रकार वह महारानी के हाथों में जा पहुँचता है। और महारानी कुपित हो जाती है। राजा महारानी को मनाने का बड़ा प्रयत्न करता है, किन्तु सब व्यर्थ।

तीसरे अंक के आदि में हमें बताया जाता है कि भरत ने उर्वशी को मर्त्यलोक में जाने का शाप दे दिया; क्योंकि उसने लक्ष्मी का अभिनय यथायोग्य नहीं किया था और 'मैं पुरुषोत्तम (विष्णु) को प्यार करती हूं' यह कहने के बजाए उसने कहा था कि 'मैं पुरूरवा को प्यार करती हूँ'। इन्द्र ने बीच में पड़कर शाप में कुछ परिवर्तन करा दिया जिसके अनुसार उसे पुरूरवा से उत्पन्न होने वाले पुत्र का दर्शन करने के बाद स्वर्ग में आने जाने का अधिकार हो गया। तीसरे अंक में महारानी का कोप दूर होकर महाराज और महारानी का फिर मेल-मिलाप हो जाता है। महारानी महाराज को अपनी प्रेयसी से विवाह करने की अनुमति दे देती है। उर्वशी अदृश्य होकर दम्पति की बातें सुनती रहती है और जब महारानी वहां से चली जाती है तब वह महाराज से आ मिलती है।

चौथे अंक के प्रारम्भ में महाराज पर आने वाली विपत्ति का संकेत है। उर्वशी कुपित होकर कुमार-कुंज में जा घुसती है जहाँ स्त्रियों का प्रवेश निषिद्ध था, फलतः वह लता बन जाती है। राजा उसे ढूँढ़ता ढूँढ़ता पागल हो जाता है और व्यर्थ में बादल से, मोर से, कोयल से, भौंरे से, हाथों से, हरिण से और नदी से उसका पता पूँछता है[1]। अन्त में उसे एक आकाशवाणी सुनाई देती है और वह एक जादू का रत्न पाता है जिसके प्रभाव से वह ज्यों ही लता को स्पर्श करता है त्यों ही वह लता उर्वशी बन जाती है।

---

१. हम कह सकते हैं कि यह सारे का सारा अंक एक गीतिकाव्य है जिस में वक्ता अकेला राजा ही है।

अन्तिम (५म) अंक में उर्वशी को लेकर राजा प्रसन्नता के साथ अपनी राजधानी को लौटता है। इसके थोड़े समय बाद उक्त रत्न को एक गीध उठाकर ले जाता है, किन्तु उस गीध को एक बाण जख्मी कर देता है जिस पर लिखा है—'पुरूरवा और उर्वशी का पुत्र आयु'। इतने में ही एक तपस्विनी एक वीर क्षत्रिय बालक को आश्रम से राजा के सामने इसलिये पेश करती है कि उस बालक को उसकी माता उर्वशी को वापस कर दिया जाए, कारण कि उस बालक ने आश्रम के नियमों का भङ्ग किया था। यद्यपि राजा को इस पुत्र का कुछ पता नहीं था, तथापि वह उसे देखकर प्रसन्न हो उठता है। उर्वशी अब राजा से बिछुड़ जाने का विचार करके उदास हो जाती है। राजा भी खिन्न हो उठता है। थोड़ी देर बाद स्वर्ग से हर्ष का सन्देश लेकर देवर्षि नारद वहाँ आ जाते हैं। इन्द्र ने उस संदेश में दैत्यों के विनाश के लिये राजा से सहायता करने की प्रार्थना की थी और उसे जीवनपर्यन्त उर्वशी के संयोग का आनन्द लेने की आज्ञा दी थी।

(२६) अभिज्ञान शाकुन्तलम्—सर्वसम्मति से यह कालिदास की सर्वोत्तम कृति है जिसे उसने बुढ़ापे में प्रस्तुत किया था। गेटे (Goethe) तक ने फ़ास्ट (Faust) की भूमिका में इसकी प्रशंसा की है। सर विलियम जोन्स ने इसका प्रथम इंग्लिश अनुवाद किया। इसमें सात अंक हैं। प्रस्तावना में कहा गया है कि महाराज दुष्यन्त एक हरिण का तेजी से पीछा कर रहे थे कि वह महर्षि कण्व के तपोवन में घुस गए। तब महाराज रथ से उतर कर महर्षि को प्रणाम करने के लिए आश्रम में प्रविष्ट हुए, किन्तु महर्षि कहीं बाहर गए हुए थे। उस समय आश्रम की अधिष्ठात्री महर्षि की पालित-पुत्री शकुन्तला थी, जिसे वे प्राणों से अधिक प्यार करते थे। एक भौंरे ने उसे घेर लिया और वह सहायता के लिये चिल्लाई। उसकी सहेली अनसूया और प्रियम्वदा ने

१. यह कथा प्रसंग से यह भी सूचित करती है कि स्त्री पुत्र की अपेक्षा पति को बहुत अधिक चाहती है।

हँसी-हँसी में कहा कि आश्रमों का सुप्रसिद्ध रक्षक दुष्यन्त तुझे बचाएगा। राजा उस अवसर पर वहाँ प्रस्तुत था। उक्त सखियों से राजा को मालूम हुआ कि शकुन्तला वस्तुतः विश्वामित्र और मेनका की सुता थी। अतः वह उसके (राजा के) पाणिग्रहण के अयोग्य नहीं थी। इतने में राजा को तपोवन में उपद्रव मचाने पर उतारू दिखाई देनेवाले एक जंगली हाथी को दूर हटाने के लिये वहाँ से जाना पड़ा, किन्तु उसके जाने से पहले ही उन दोनों के हृदयों में एक दूसरे के प्रति अनुराग का अंकुर प्रस्फुटित हो चुका था (प्रथम अंक)। राजा अपने प्रेमानुभवों का वर्णन विदूषक से करता है और आश्रम को राक्षसों के उपद्रवों से बचाने का भारी बोझ अपने ऊपर लेता है। इसी समय एक त्यौहार में शामिल होने के लिये राजा को राजधानी से बुलावा आ जाता है। वह स्वयं राजधानी न जाकर अपने स्थान पर विदूषक को भेज देता है और उससे कहता है कि शकुन्तला के प्रेम के बारे में मैंने तुझ से जो कुछ कहा था वह सब विनोद ही था उसे सच न मान लेना (द्वितीय अंक)।

शकुन्तला अस्वस्थ है और उसकी दोनों सखियों को उसके स्वास्थ्य की बड़ी चिन्ता है। दुष्यन्त-विषयक उसका प्रेम बहुत घनिष्ठ हो गया है; सखियों के कहने से वह एक प्रेमव्यञ्जक पत्र लिखती है। दुष्यन्त, जो छिपकर उनकी बात सुन रहा था, प्रकट हो जाता है। शकुन्तला और राजा में देर तक वार्तालाप होता है, अन्त में तपस्विनी गौतमी का उधर आना सुनकर राजा को वहाँ से हटना पड़ता है (तृतीय अंक)। राजा अपनी राजधानी को लौट जाता है। वहाँ जाकर वह शकुन्तला-विषयक प्रेम को बिल्कुल भूल जाता है। एक दिन शकुन्तला राजा के प्रेम में बेसुध बैठी थी कि क्रोधी ऋषि दुर्वासा वहाँ आ पहुँचे। आत्म-विस्मृत शकुन्तला ने उनका यथोचित आतिथ्य न किया तो ऋषि ने उसे कठोर शाप दे दिया। सखियों ने दौड़ कर क्षमादान की प्रार्थना की तो ऋषि ने शाप में परिवर्तन करते हुए कहा कि अच्छा, जब वह अपने पति को अभिज्ञान का चिह्न-रूप उस (पति) की अंगूठी दिखा देगी,

तब उसके पति को उसकी याद आ जाएगी, अन्यथा उसका पति उसे भूला रहेगा। यही सारी कथावस्तु का बीज है।

कण्व अपने समाधि-बल से शकुन्तला के गान्धर्व विवाह को जान जाते हैं। अनिच्छा होने पर भी वे किसी को साथ देकर शकुन्तला को उसके पति के घर भेजने का निश्चय करते हैं। तब विरक्त महर्षि को भी कन्या-वियोग की व्यथा विह्वल कर डालती है। वृद्ध महर्षि पिता, प्यारी सखियों, पक्षियों और उन पौधों को, जिन्हें उसने अपने हाथ से सींच-सींच कर बड़ा किया था, छोड़ते हुए शकुन्तला का भी जी भर आता है। सारा अंक करुणरस से आप्लावित दिखाई देता है। यहाँ कालिदास की लेखनी की चमत्कृति देखने के योग्य है (४र्थ अंक)। धर्मात्मा राजा राज-काज में संलग्न सभा में बैठा है, द्वारपाल दो तपस्वियों और एक स्त्री के आने की सूचना देता है। दुर्वासा के शाप के वश राजा अपनी पत्नी को नहीं पहचानता और उसे अङ्गीकार करने से निषेध करता है। तपस्वी यत्न करते हैं कि राजा होश में आए और अपना कर्तव्य पहचाने; किन्तु पह अपनी लाचारी प्रकट करता है अन्त में निश्चय करते हैं कि शकुन्तला को उसके पति के सामने छोड़ कर उन्हे वापिस हो जाना चाहिए। तभी सहसा मानवीय रूप में एक दिव्यज्योति प्रकट होकर शकुन्तला को उठाकर ले जाती है और सब देखने वालों को आश्चर्य में डाल जाती है (५म अंक)।

एक धीवर के पास राजा की अँगूठी पकड़ी जाती है जो मार्ग में एक तीर्थ में स्नान करते समय शकुन्तला की अँगुली से पानी में गिर गई थी। धीवर पर चोरी का अपराध लगाकर पुलिस उसे गिरफ्तार कर लेती है। राजा अँगूठी को पहचान लेता है। शाप का प्रभाव समाप्त हो चुकने के कारण अब राजा को शकुन्तला तथा उसके साथ हुई सब बातों का स्मरण हो आता है। वह अपनी भीषण भूल पर खूब पछताता और अपने परपत्य होने के कारण बड़ा दुःखी होता है। थोड़ी देर बाद उसे विदूषक के रोने की आवाज़ आती है। वह उसे

बचाने दौड़ता है तो क्या देखता है कि इन्द्र का सारथि मातलि उसकी दुर्गत बना रहा है। तभी उसने मातलि से सुना कि इन्द्र को दैत्यों के संहार के लिये उसकी सहायता चाहिये (६ष्ठ अङ्क) स्वर्ग में दैत्यों पर विजय प्राप्त कर चुकने के बाद मातलि राजा को स्वर्ग की सैर कराता है। सैर करते करते राजा मारीच महर्षि के आश्रम में पहुँचता है, जहाँ वह देखता है कि बालक खेल खेल में एक शेर के बच्चे को खींच रहा है। कुछ देर में राजा को मालूम हो जाता है कि वह वीर बालक उसका अपना बेटा है। शकुन्तला तपस्विनी के वेश में आती है और महर्षि मारीच उन दोनों का पुनर्मिलन करा देते हैं और शकुन्तला से कहते हैं कि तेरे इतने दुःख उठाने में राजा का कोई अपराध नहीं है (७ म अङ्क)।

(२७) **ऋतुसंहार**—यह कालिदास का गीति-काव्य है, जो उसने अपने कवि-जीवन के प्रारम्भिक काल में लिखा था। यह ग्रीष्म के ओजस्वी वर्णन से प्रारम्भ होकर वसन्त के प्रायः निःसत्त्व वर्णन के साथ समाप्त होता है, जिसमें तरुण राग युवा बनकर कालिदास के हाथों परम-प्रौढ़ि को प्राप्त कर लेता है। छहों ऋतुओं की विशेषताओं का बहुत ही रमणीय रीति से निरूपण किया गया है और प्रत्येक ऋतु में अनुरागियों के हृदयों में उठने वाली भाव-लहरियों को कुशाग्र कूची से अभिव्यक्त कर दिखाया गया है। ग्रीष्म के भास्वर दिवस तरुण प्राणियों के लिए महा-दाहक हैं, उन्हें तो इस ऋतु में शीतल रजनियों में ही शान्ति मिलती है, जब चन्द्रमा भी सुन्दर तरुण रमणियों से द्वेष करने लगता है और जब विरही-जन विरहाग्नि में भुनते रहते हैं। वर्षा ऋतु में अद्रि-मौलियों का चुम्बन करती हुई सी बादलों की घनी घटा झुकती है और युवक-युवतियों के हृदयों में अनुराग भावों का उद्रेक उत्पन्न कर देती है। शरद् का लावण्य निराला ही है। इस ऋतु में वियोगिनी युवतियों की दशा उस प्रियङ्गु लता के समान हो जाती है जिसे आँधी के झोंकों की चोट विह्वल कर डालती है; किन्तु जिनके

पति पास हैं वे इस ऋतु को सर्वोत्तम ऋतु अनुभव करती हैं? अन्त में वसन्त ऋतु आती है जिसकी शोभा आम की मंजरी बढ़ाती है जो युवतियों के हृदय को बींधने के लिये काम-बाण का काम करती है।

सारे ग्रन्थ में १५३ पद्य और छः सर्ग हैं। (प्रत्येक सर्ग में एक एक ऋतु का वर्णन है।) छन्द भी खूब परिवर्त्तित हैं। इस प्रारम्भिक रचना से भी कालिदास की सूक्ष्म-ईक्षिका और पूर्ण प्रसादगुणशालिता का पता लगता है। "प्रकृति के प्रति कवि की गहरी सहानुभूति, सूक्ष्म-ईक्षिका और भारतीय प्राकृतिक दृश्यों को विशद रंगों में चित्रित करने की कुशलता को जितने सुन्दर रूप में कालिदास का यह ग्रन्थ सूचित करता है, उतने में कदाचित् उसका कोई भी दूसरा ग्रन्थ नहीं करता[1]।" कालिदास के दूसरे किसी भी ग्रन्थ में "वह पूर्ण प्रसाद गुण नहीं है जिसे आधुनिक अभिरुचि कविता की एक बड़ी रमणीयता समझती है, चाहे अलङ्कारशास्त्रियों को इसने बहुत आकृष्ट न भी किया हो।"[2]

(२८) मेघदूत—यह कालिदास के प्रौढ़ काल का गीति-काव्य है। हम कह सकते हैं कि यह संस्कृत साहित्य में ग्रीक करुणगीत (Elegy) है। कुबेर[3] अपने सेवक एक यक्ष को एक वर्ष के लिए निर्वासित कर देता है। अपनी पत्नी से वियुक्त होकर वह (मध्य भारत में) रामगिरि नामक पर्वत पर जाकर रहने लगता है। वह एक दिन किसी मेघ को उत्तर दिशा की ओर जाता हुआ देखता है तो उसके द्वारा अपनी पत्नी को सान्त्वना का सन्देश भेजता है। वह मेघ से कहता है कि जब तुम आम्रकूट पर्वत पर होकर वृष्टि द्वारा दावानल को बुझाते हुए आगे बढ़ोगे, तो वहाँ तुम्हें विन्ध्य-पर्वत के नीचे बहती हुई नर्मदा

(१) मैकडानल:—संस्कृत साहित्य का इतिहास (इंग्लिश), चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ३३७।

२. ए. बी. कीथ :—संस्कृत साहित्य का इतिहास (इंग्लिश), पृष्ठ ८४।

३. कीथ ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में (पृष्ठ ८५) कुबेर के स्थान पर भूल से शिव लिख दिया है।

और वेत्रवती के किनारे बसी हुई विदिशा नगरी मिलेगी। फिर वहां से उज्जयिनी को जाना। वहां से कुरुक्षेत्र पहुँच कर पवित्र सरस्वती का मधुर जल पीना। उससे आगे कनखल आएगा, कनखल से कैलास और कैलास से मानस-सर। मानस-सर के मधुर शीतल जल से मार्ग-परिश्रान्ति दूर करने के बाद तुम अलका पहुँचोगे। अलका ही उसका—अथवा सच कहा जाए तो उसकी पत्नी का—निवास-स्थान है। इसके बाद यक्ष अपनी पत्नी के निवास का पूरा पता देता है जिससे उसे ढूँढ़ने में कठिनता न हो। तदनन्तर यक्ष मेघ से अभ्यर्थना करता है कि तुम अपनी बिजली को जोर से न चमकने देना और अपनी ध्वनि को जरा धीमी कर देना; क्योंकि ऐसा न हो कि मेरी पत्नी कोई ऐसा स्वप्न देख रही हो जिसमें वह मेरा ही ध्यान कर रही हो और वह चौंक कर जाग पड़े। वह कहता है कि मेरी प्रिय मेरे वियोग में पाण्डु और कृश हो गई होगी। जब वह स्वयं जाग जाए, तभी तुम उसे मेरे सच्चे प्रेम का सन्देश देना और उसे यह कहकर धैर्य बँधाना कि शीघ्र ही हमारा पुनः संयोग अवश्य होगा।

इस काव्य की कथावस्तु का आधार वाल्मीकि की रामायण में ढूँढ़ा जा सकता है। उदाहरणार्थ; खोई हुई सीता के लिए राम का शोक वियुक्त यक्ष का अपनी पत्नी के लिये शोक करने का आदर्श उपस्थित करता है, और (४, २८) में आया हुआ वर्षा-वर्णन भी कुछ समानता के अंशों की ओर ध्यान खींचता है। फिर भी कालिदास का वर्णन कालिदास का ही है और कथावस्तु के बीज से उसने जो पादप उत्पन्न किया है वह भी अत्यन्त सरस है। कालिदास का प्रतिपाद्यार्थ निस्सन्देह मौलिकता-पूर्ण और उसका शब्द-विन्यास विच्छित्तिशाली है। सारी कविता दो भागों में विभक्त है और कुल में, १०१[1]

---

१. वल्लभदेव (११०० ई०) की टीका में १११, दक्षिणावर्तनाथ (१२०० ई०) की में ११० और मल्लिनाथ (१४०० ई०) की में ११८ पद्य हैं। ८ वीं शताब्दी के जिनसेन को १२० पद्यों का पता था।

से लेकर १२० तक पद्य पाए जाते हैं। सारी कविता में मन्दाक्रान्ता छन्द है जिसमें कवि पूर्ण कृतहस्त प्रतीत होता है।

इसी प्रकार की कथावस्तु शिल्लर (Schiller) के मेरिया स्टुअर्ट में भी आई है। इसमें भी एक बन्दी रानी अपने प्रमोदमय यौवन का सन्देश स्वदेश की ओर उड़ने वाले बादलों के द्वारा भेजती है। इसमें रानी का विरह अनन्त है और उसका विधुर जीवन पाठक के हृदय को द्रवित कर देता है।

मेघदूत के पढ़ने-पढ़ाने का प्रचार खूब रहा है। इसकी नकल पर अनेक काव्य लिखे गए हैं। भिन्न-भिन्न शताब्दियों में भिन्न-भिन्न विद्वानों ने इस पर अनेक टीकाएँ लिखी हैं। मन्दसोर में वत्सभट्टि की लिखी विक्रम सम्वत् ५३० (सन् ४७३ ई०) की प्रशस्ति मिलती है जिसे उसने दशपुर में सूर्य मन्दिर की प्रतिष्ठा के लिए बड़े परिश्रम से लिखा था। उसको लिखने में वत्सभट्टि ने मेघदूत को अवश्य अपना आदर्श रक्खा है। यद्यपि यह प्रशस्ति गौड़ी रीति में लिखी गई है और कालिदास की रीति वैदर्भी है, तथापि कुछ पद्य बहुत ही चारु हैं, और ४४ पद्यों की संक्षिप्त प्रशस्ति में वत्सभट्टि ने दशपुर का दीर्घचित्र और वसन्त एवं शरद् का वर्णन दे दिया है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि मेघदूत का तिब्बती भाषा में एक अनुवाद तंजोर में सुरक्षित है, साथ ही इसका एक अनुवाद लंका की भाषा में भी है। इसके अतिरिक्त, इसके अनेक पद्य अलंकार के सन्दर्भों में भी उद्धृत मिलते हैं। १२ वीं शताब्दी में धोयी कवि ने इसी के अनुकरण पर पवनदूत लिखा है।

यह छोटा-सा काव्य-ग्रन्थ भूगोल के रसिकों के भी बड़े काम का

उसने उन १२० को लेकर, समस्यापूर्ति की कला के अभ्यास के रूप में, उनसे पार्श्वनाथ का जीवन लिख डाला। प्रक्षेपों का कारण ग्रन्थ का अत्यन्त सर्वप्रिय होना प्रतीत होता है।

है; क्योंकि इससे हमें कालिदास के समय की कई भौगोलिक बातों का परिचय मिलता है।

(२९) **कुमारसम्भवम्**—यह एक महाकाव्य है जिसमें १७ सर्ग हैं। इसमें ९ से १७ तक के सर्ग बाद के किसी लेखक की रचना है।[1] जैसा कि नाम से प्रकट होता है इसमें शिव-पार्वती के पुत्र कुमार कार्तिकेय के जन्म का वर्णन है, जिसने देवताओं के पीड़क और संसार के प्रत्येक रम्य पदार्थ के ध्वंसक तारक दैत्य का वध किया था। प्रथम सर्ग में हिमालय का परम रमणीय वर्णन है। किन्नर और किन्नरियाँ तक हिमालय के अन्दर रँगरेलियाँ करने के लिये आती हैं। शिव की भवित्री अर्द्धाङ्गिनी पार्वती ऐसे ही हिमालय में जन्म ग्रहण करती है और अद्भुत लावण्यवती युवती हो जाती है। यद्यपि पार्वती युवती हो चुकी है, 'तथापि उसका पिता शिव से उसका वाग्दान स्वीकार करने की अभ्यर्थना करने का साहस नहीं कर सका; उसे डर था कहीं ऐसा न हो कि शिव उसके प्रणय का प्रतिषेध कर दे—

अभ्यर्थनाभङ्गभयेन साधुर्माध्यस्थ्यमिष्टेऽप्यवलम्बतेऽर्थे।

इन सब बातों के समक्ष पार्वती का पिता पार्वती को कुछ सखियों के साथ जाकर शिव की सेवा में उपस्थित होने और उसकी भक्ति करने की अनुज्ञा दे देता है (प्रथम सर्ग)। इसी बीच में देवता तारकासुर से त्रस्त होकर ब्रह्मा के पास जाते हैं और सहायता की याचना करते हैं। ब्रह्मा भी लाचार है, वह तो तारकासुर का वर-प्रदाता ही है, अपने लगाए हुए विष-वृक्ष का भी काटना उचित नहीं है। देवों का संकट-मोचक तो केवल पार्वती-गर्भ-जात शिव का पुत्र ही हो सकता है (२ य सर्ग) इन्द्र कामदेव को याद करता है। कामदेव प्रतिज्ञा करता है कि यदि मेरा मित्र वसन्त मेरे साथ चले तो मैं शिव का व्रत भंग कर सकता हूँ। वसन्त के शिव के तपोवन में जाने पर सारी प्रकृति पुनरुच्छ्वसित हो उठती है; यहाँ तक कि पशु और पक्षी भी मन्मथो-

१. देखिये खण्ड १९।

न्मथित हो जाते हैं। पार्वती शिव के सामने आती है और शिव का धैर्य कुछ परिलुप्त हो जाता है। समाधि तोड़कर शिव ने देखा तो सामने कामदेव को अधिज्यधन्वा पाया। बस फिर क्या था? तत्काल क्रुद्ध शिव का तृतीय नेत्र खुला और उसमें से निकली हुई अग्नि-ज्वाला ने पल के अन्दर-अन्दर कामदेव को भस्म कर दिया (३ य सर्ग)। रति को अपने पति कामदेव का वियोग असह्य हो गया। वह अपने पति के साथ सती हो जाने का निश्चय करती है। वसन्त उसे धैर्य बंधाता है पर उसका क्षोभ दूर नहीं होता। इतने में आकाशवाणी होती है कि जब पार्वती के साथ शिव का विवाह हो जायगा, तब तेरा पति पुनरुज्जीवित हो जायगा। इस आकाशवाणी को सुनकर रति ने धैर्य धारण किया। वह उत्सुकता से पति के पुन-रुज्जीवन के शुभ दिन की प्रतीक्षा करने लगी (चतुर्थ सर्ग)। अपने प्रयत्नों में असफल होकर पार्वती ने अब तप के द्वारा शिव को प्राप्त करने का निश्चय किया। माता ने बेटी को तप से विरत रहने की बहुत प्रेरणा की, किन्तु सब व्यर्थ। पार्वती एक पर्वत के शिखर पर जाकर ऐसा भयंकर तप करने लगी कि उसे देखकर मुनि भी आश्चर्य में पड़ गये। उसने स्वयं गिरते हुए पत्तों तक को खाने से निषेध कर दिया और वह केवल अयाचित प्राप्त जल पर ही रहने लगी। उसके इस तप को देखकर शिव से न रहा गया। वे ब्राह्मण ब्रह्मचारी का रूप बनाकर उसके सामने आए और पार्वती की पति-भक्ति की परीक्षा लेने के लिए शिव की निन्दा करने लगे। पार्वती ने उचित उत्तर दिया और कहा कि तुम शिव के यथार्थ रूप से परिचित नहीं हो। महापुरुषों की निन्दा करना ही पाप नहीं है; प्रत्युत निन्दा सुनना भी पाप है यह कहते हुए पार्वती ने वहाँ से चल देना चाहा। तब शिव ने यथार्थ रूप प्रकट करके पार्वती का हाथ पकड़ लिया और कहा कि मैं आज से तपःक्रीत तुम्हारा दास हूँ (पञ्चम सर्ग) अरुन्धती के साथ सप्तर्षि पार्वती के पिता के पास आए और वर की प्रशंसा करने लगे। पिता

के पास खड़ी हुई पार्वती सिर नीचा करके उनकी सब बातें सुनती रही। पार्वती के पिता ने पार्वती की माता से पूछा कि तुम्हारी क्या सम्मति है, क्योंकि कन्याओं के विषय में गृहस्थ लोग प्रायः अपनी पत्नियों की अनुमति पर चलते हैं। पार्वती की माता तुरन्त स्वीकार कर लेती है। (षष्ठ सर्ग)। राजवैभव के अनुसार विवाह की तैयारियाँ होने लगीं और बड़ी शान के साथ विवाह हुआ। कवि पार्वती की माता के हर्ष-विषाद के मिश्रित भावों का बड़ी विशदता के साथ वर्णन करता है (सप्तम सर्ग)। इस सर्ग में कामशास्त्र के नियमानुसार शिव-पार्वती की प्रेमलीला का विस्तृत वर्णन है।

हमें आनन्दवर्धन (३, ७) से मालूम होता है कि समालोचकों ने जगत् के माता-पिता (शिव-पार्वती) के सुरत का वर्णन करना अच्छा नहीं माना, कदाचित् इस आलोचना के कारण ही कालिदास ने आगे नहीं लिखा और ग्रन्थ को कुमार के जन्म के साथ ही समाप्त कर दिया। 'कुमार सम्भव' नाम भी यही सूचित करता है। ऐसा मालूम होता है कि कवि की मृत्यु के कारण यह ग्रन्थ अपूर्ण नहीं रहा; क्योंकि यह माना जाता है कि रघुवंश कवि की प्रौढ़ावस्था की रचना है और इसी की तरह अपूर्ण भी है।

बाद के सर्गों में कहानी को ग्रन्थ के नाम द्वारा सूचित होने वाले स्थल से आगे बढ़ाया गया है। युद्ध के देवता स्कन्द का जन्म होता है। वह युवा होकर अद्वितीय पराक्रमी वीर बनता है। अन्त में जाकर उसके द्वारा तारकासुर के पराजित होने का वर्णन है।

(३०) **रघुवंशम्**—यह १९ सर्ग का महाकाव्य है और विद्वान् मानते हैं कि कवि ने इसे अपनी प्रौढ़ावस्था में लिखा था। यद्यपि कथानक लगभग वही है जो रामायण और पुराणों में पाया जाता है, तथापि कालिदास की मौलिकता और सूक्ष्म-ईक्षिका दर्शनीय हैं। ग्रन्थ महाराज दिलीप के वर्णन से प्रारम्भ होता है। दिलीप के अनेक गुणों का वर्णन किया गया है। दुर्भाग्य से एक बार महाराज इन्द्र की गौ सुरभि का

यथोचित आदर न कर पाए, जिससे उसने उन्हें निरपत्य होने का शाप दे दिया। इस शाप की शक्ति केवल सुरभि की सुता नन्दिनी से प्राप्त किए हुए एक वर से ही नष्ट हो सकती थी (१ म सर्ग)। वशिष्ठ के उपदेश से दिलीप ने वन में नन्दिनी की सेवा की। एक बार एक सिंह ने नन्दिनी के ऊपर आक्रमण करना चाहा। राजा ने सिंह से प्रार्थना की कि तुम मेरे शरीर से अपना पेट भर कर इस गाय को छोड़ दो। इस प्रकार उसने अपनी सच्ची भक्ति का परिचय दिया। सिंह कोई सच्चा सिंह नहीं था, वह महादेव का एक सेवक था और राजा की परीक्षा लेने के लिए भेजा गया था। अब राजा को नन्दिनी से अभीष्ट वर मिल गया (२य सर्ग)। राजा के यहां एक पुत्र का जन्म हुआ, जिसका नाम रघु रक्खा गया। रघु के बचपन का वर्णन है। जब वह युवा हो गया तब राजा ने उसे अश्वमेध के घोड़े की रक्षा का भार सौंपा। रघु को घोड़े की रक्षा के लिए इन्द्र तक से युद्ध करना पड़ा (३य सर्ग)। दिलीप के पश्चात् रघु गद्दी पर बैठा। अब उसकी दिग्विजय का संक्षिप्त किन्तु बड़ा ओजस्वी वर्णन आता है। दिग्विजय के बाद उसने विश्वजीत् यज्ञ किया, जिसमें विजयों में प्राप्त सारी सम्पत्ति दान में दे दी, 'आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव' (४र्थ सर्ग)। औदार्य के कारण रघु अकिंचन हो गया। जब कौत्समुनि दान मांगने के लिए उसके पास आये तो वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। कुबेर की समयोचित सहायता ने उसकी कठिनता को दूर कर दिया। उसके एक पुत्र हुआ। उसका नाम अज रक्खा गया (५म सर्ग)। तब इन्दुमती के स्वयंवर का वर्णन आता है। कोई न कोई बहाना बनाकर अनेक राजकुमारों को वरने से छोड़ दिया जाता है। एक वीर राजकुमार को राजकुमारी केवल यह कहकर नापसन्द कर देती है कि प्रत्येक की अभिरुचि पृथक् पृथक् है। अन्त में अज का वरण हो जाता है। (६ष्ठ सर्ग) विवाह हो जाता है। स्वयंवर में हार खाए हुए राजा वर-यात्रा पर आक्रमण करते है, किन्तु अज अपने अद्भुत वीर्य-शौर्य द्वारा उनको केवल मार भगाता है और दया करके

उनकी जान नहीं लेता (७म सर्ग)। फिर अज के शान्तिपूर्ण शासन का वर्णन होता है। इन्दुमती की सहसा मृत्यु से अज पर वज्रपात-सा हो जाता है। उसका धैर्य टूट जाता है और उसे जीवन में आनन्द दिखाई नहीं देता। उस पर किसी सान्त्वना का कोई प्रभाव नहीं होता। वह चाहता है कि उसकी अकाल मृत्यु हो जाए जिससे वह अपनी प्रिया से स्वर्ग में फिर मिल सके (८म सर्ग) उसके बाद उसका पुत्र दशरथ राजा होता है। श्रवणकुमार की कथा वर्णित है (९म सर्ग) अगले छः सर्गों में राम की कथा का सविस्तर वर्णन आता है। सोलहवें सर्ग में कुश की, सत्रहवें में कुश के पुत्र की और अठारहवें तथा उन्नीसवें सर्ग में उनके अनेक उत्तराधिकारियों की कथा दी गई हैं। उत्तराधिकारियों में से कुछ के तो केवल नाम मात्र ही दिये गए हैं। काव्य अपूर्ण रहता है। कदाचित इसका कारण कवि की मृत्यु है।

(३१) कालिदास के ग्रन्थों के मौलिक भाग

(क) ऊपर[१] कहा जा चुका है कि विल्सन ने दुर्बल आधार पर मालविकाग्निमित्र को कालिदास की रचना मानने में सन्देह प्रकट किया था, परन्तु वास्तव में यह कालिदास की ही रचना है। शेष दोनों नाटक सर्व सम्मति से उनकी ही कृति माने जाते हैं।

(ख) ऋतुसंहार कालिदास कृत है या नहीं, इस बारे में बड़ा विवाद पाया जाता है। विरोधी पक्ष कहता है कि :—

(१) नाम के अन्दर 'संहार' शब्द 'चक्कर' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और कालिदास ने कुमारसम्भव में इस शब्द का प्रयोग बिल्कुल ही भिन्न अर्थ में किया है, यथा—

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति
यावद् गिरः खे मरुतां चरन्ति ।

(२) यह काव्य ग्रीष्म ऋतु के विशद वर्णन से प्रारम्भ होकर वसन्त

---

१ देखिये खण्ड २० का (१)।

के क्षीण वर्णन के साथ समाप्त होता है। इससे पतत्प्रकर्ष अथवा अनुपातशून्यता (Disproportion) सूचित होता है। हम कालिदास से ऐसी आशा नहीं कर सकते।

(३) अलंकाराचार्यों ने ऋतु वर्णन के उदाहरण ऋतुसंहार से न देकर रघुवंश से दिये हैं।

(४) मल्लिनाथ ने कालिदास के काव्य-त्रय पर टीका लिखी है, ऋतुसंहार पर नहीं।

(५) १० वीं शताब्दी से प्रारम्भ करके अनेक विद्वानों ने कालिदास के दूसरे ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी हैं, किन्तु ऋतुसंहार पर १८ वीं शताब्दी तक कोई टीका नहीं लिखी गई।

समर्थक पक्ष के लोगों का कथन है कि ऋतुसंहार कालिदास की अन्य कृतियों की अपेक्षा न्यून श्रेणी का अवश्य है किन्तु यह इसलिए है कि कवि का यह प्रारम्भिक प्रयत्न है। टैनिसन और गेटे तक की आदिम और अन्तिम रचनाओं में ऐसा ही भारी अन्तर्वैषम्य देखा जाता है। इससे इस बात का भी समाधान हो जाता है कि आलंकारिकों ने ऋतुसंहार की अपेक्षा रघुवंश में से उद्धरण देना क्यों पसंद किया? ऋतुसंहार को सरल समझ कर ही मल्लिनाथ या किसी अन्य टीकाकार ने इस पर टीका लिखने की भी आवश्यकता नहीं समझी। किसी भी प्राचीन विद्वान् ने इसके कालिदास-कृत होने में कभी सन्देश नहीं किया। साथ ही यह भी संभव जाना पड़ता है कि वत्सभट्टि को इस काव्य का पता था और उसने मन्दसोर प्रशस्ति (५३० वि०) इसी के अनुकरण पर लिखी थी।

(ग) मेघदूत के बारे में पता लगता है कि इसके प्राचीनतम टीकाकार वल्लभदेव को केवल १११ पद्यों का पता था, किन्तु मल्लिनाथ की टीका में ११८ पद्य हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि विशेष करके उत्तरार्द्ध के कुछ पद्य प्रक्षिप्त हैं।

(घ) रघुवंश के बारे में हिलब्रैंड (Hillebrandt) का 'कालिदास'

पृष्ठ ४२ पर कहना है कि इसके १७ से १९ तक के तीन सर्ग कालिदास कृत नहीं हैं। यह ठीक है कि गुणों में ये सर्ग न्यून श्रेणी के हैं। इनमें न तो काव्यविषयिणी अन्तर्दृष्टि ही पाई जाती है, और न ही वह तीव्र भावोष्मा, जो कालिदास में पर्याप्त देखी जाती है, किन्तु इससे हम यह परिणाम नहीं निकाल सकते कि ये कालिदास-कृत नहीं हैं। किसी अन्य विद्वान् ने इन सर्गों के प्रक्षिप्त होने की शंका नहीं की। अधिक से अधिक हम यह कह सकते हैं कि इन सर्गों में कालिदास की उत्कृष्ट काव्य-शक्ति का चमत्कार देखने को नहीं मिलता।

(ङ) अब कुमारसम्भव को लेते हैं। ९वें से १७वें तक के सर्ग निश्चय ही बाद में जोड़े गए हैं। मल्लिनाथ की टीका केवल ८ वें के अन्त तक मिलती है। आलंकारिकों ने भी पहले ही आठ[1] सर्गों में से उदाहरण दिए हैं। शैली, वाक्य-विन्यास और कथा-निर्माण-कौशल के आभ्यन्तरिक प्रमाणों से भी अन्त के इन सर्गों का प्रक्षिप्त होना एकदम सिद्ध होता है। इनमें कुछ ऐसे वाक्य-खण्ड बार-बार आए हैं जो कालिदास की शैली के विरुद्ध हैं। छन्दःपूर्ति के लिए नूनम्, खलु, सद्यः, अलम् इत्यादि व्यर्थ के शब्द भरे गए हैं। कई स्थलों पर प्रथम और तृतीय चरण के अन्त में यति का भी अभाव है। अव्ययीभाव समासों और कर्मणि प्रयोग आत्मनेपद में लिट् के प्रयोगों का आधिक्य है। समास के अन्त में 'अन्त' (यथा समासान्त) पद का प्रयोग लेखक को बड़ा प्यारा लगता है। इस 'अन्त' की तुलना मराठी के अधिकरण कारक की 'आंत' विभक्ति से की जा सकती है। इसी आधार पर जैकोबी का विचार है कि कदाचित् इन सर्गों का रचयिता कोई महाराष्ट्रीय होगा।

(३२) नाटकों के नाना संस्करण

कालिदास के अधिक सर्वप्रिय नाटकों के नाना संस्करणों का

---

१. इसके विपरीत हम देखते हैं कि आलंकारिकों ने रघुवंश के सब सर्गों में से उदाहरण दिए हैं।

मिलना स्वाभाविक ही है। मालविकाग्निमित्र का अब तक एक ही संस्करण मिलता आ रहा है, किन्तु साहित्यदर्पण में एक लम्बा प्रकरण इसमें से उद्धृत किया गया है जो वर्तमान संस्करण के प्रकरण से पूरा-पूरा नहीं मिलता। इससे अनुमान होता है कि इसका भी कोई दूसरा संस्करण रहा होगा। वर्तमान मालविकाग्निमित्र का प्रकरण साहित्यदर्पण में उद्धृत प्रकरण का समुपबृंहित रूप है।

विक्रमोर्वशीय दो संस्करणों में चला आ रहा है, (१) उत्तरीय (बंगाली और देवनागरी लिपि में सुरक्षित) और (२) दक्षिणीय (दक्षिण भारत की भाषा की लिपियों में सुरक्षित)। पहले पर रंगनाथ (१६५६ई०) ने और दूसरे पर काटयवेम (१४०० ई०) ने टीका लिखी है। उत्तरीय संस्करण का चौथा अंक बहुत उपबृंहित है। इसमें अपभ्रंश के अनेक ऐसे पद्य हैं जिनके गीत-स्वर भी साथ ही निर्देश कर दिए गए हैं। नायक, नाट्य-शास्त्र के विरुद्ध, अपभ्रंश में गाता है, परन्तु इस नियमोल्लङ्घन का समाधान इस आधार पर किया जाता है कि नायक उन्मत्त है। यह विश्वास नहीं होता कि कालिदास ने ये पद्य अपभ्रंश में लिखे होंगे। इस अङ्क[1] की अनुकृति पर लिखे अनेक सन्दर्भों में से किसी में भी अपभ्रंश का कोई पद्य नहीं पाया जाता। इसके अतिरिक्त कालिदास के काल में ऐसी अपभ्रंश बोलियों के होने में भी सन्देह किया जाता है। उत्तरीय संस्करण में नाटक को 'त्रोटक' का और दक्षिणीय में नाटक का नाम दिया गया है।

अभिज्ञान शाकुन्तल के चार संस्करण उपलब्ध हैं—बंगाली, देवनागरी, काश्मीरी और दक्षिण भारतीय, पहले दो विशेष महत्त्व के

१. देखिये—भवभूति के मालतीमाधव का नवम अङ्क, राजशेखर के बालरामायण का पंचम अङ्क, जयदेव के प्रसन्नराघव का षष्ठ अङ्क और महानाटक का चतुर्थ अङ्क।

२. काश्मीरी तो बंगाली और देवनागरी का सम्मिश्रण है तथा दक्षिण भारतीय देवनागरी से बहुत ज्यादा मिलता-जुलता है।

हैं। बंगाली संस्करण में २२१ श्लोक हैं और शंकर एवं चन्द्रशेखर इस पर टीका लिखने वाले हैं। देवनागरी संस्करण में १९४ पद्य हैं और इस पर राघव भट्ट की टीका मिलती है। यह बताना यद्यपि कठिन है कि इन दोनों में से कौन-सा संस्करण अधिक अच्छा है, तथापि प्रमाण बृहत्तर संस्करण के पक्ष में अधिक झुकता है। ईसा की ७ वीं शताब्दी में हर्ष ने बंगाली संस्करण का अनुकरण किया था; क्योंकि रत्नावली का वह दृश्य जिसमें नायिका सागरिका जाती है, वापस आती है, छुपकर राजा की बातें सुनती है और उसके सामने प्रकट होती है, बृहत्तर संस्करण के एक ऐसे ही दृश्य के लगभग पूरे अनुकरण पर लिखा गया है। दूसरी तरफ देवनागरी संस्करण अपूर्ण है। सम्भवतया यह अभिनय के लिये किया हुआ बृहत्तर संस्करण का संक्षिप्त रूप[1] है। इसमें 'दोपहर हो रहा है' कह कर राजा शकुन्तला को रोकता है, इतने में 'शाम हो गई है' कहती हुई गौतमी आ जाती है। बृहत्तर संस्करण में कालविषयक ऐसा व्याघात दोष नहीं पाया जाता है। इसके सिवा, बंगाली संस्करण की प्राकृत भी निस्सन्देह अधिक शुद्ध है। यह बात भी बहुत कुछ ठीक है कि राजशेखर को बंगाली संस्करण का पता था, किसी अन्य का नहीं। देवनागरी संस्करण के प्राचीनतर होने में वेबर (Weber) की दी हुई युक्तियां संशयापहारिणी नहीं हैं।

(३३) कालिदास का काल

दुर्भाग्य की बात है कि भारत के सर्वश्रेष्ठ कवि के काल के बारे में कोई निर्णायक प्रमाण नहीं मिलता। काल की अवरसीमा Lower Limit का निश्चय तीन बातों से होता है—(१) शक संवत् ५५६ (६३४ ई०) का ऐहोल का शिलालेख जिसमें कालिदास की कीर्ति का उल्लेख है, (२) बाण (६२० ई०) के हर्षचरित्र की भूमिका जिसमें उसने कालिदास की मधुरोक्तियों की प्रशंसा की है, और (३) सुबन्धु का एक परोक्ष संकेत।

---

१. बोलेनसेन (Boilensen) का भी यही मत है।

इतना दिगन्तव्यापी यश समुपार्जित करने के लिए कम से कम १०० वर्ष पहले विद्यमान रहा होगा। पर सीमा Upper limit की अभिव्यक्ति मालविकाग्निमित्र (लगभग ई० पू० १२५) है जो शुंग वंश का प्रवर्तक था। इन दोनों सीमाओं के बीच, भिन्न-भिन्न विद्वान्, कालिदास का भिन्न-भिन्न काल निश्चित करते हैं।

(१) ई० पू० प्रथम शताब्दी का अनुश्रुतवाद।

जनश्रुति के अनुसार कालिदास विक्रमादित्य शकारि की सभा के नवरत्नों में से एक था। यह विक्रमादित्य भी वही विक्रमादित्य कहे जाते हैं, जिन्होंने शकविजय के उपलक्ष्य में ५७ ई० पू० में अपना सवत् प्रवर्तित किया था। कालिदास के विक्रमादित्य-पालित होने की सूचना विक्रमोर्वशीय नाटक के नाम से भी होती है इस नाम में उसने द्वन्द्वसमास के अन्त में लगने वाले 'ईय' प्रत्यय के नियम का उल्लङ्घन केवल अपने आश्रयदाता के नाम को अमर बनाने के लिए किया है। इस वाद का समर्थन वक्ष्यमाण युक्तियों से होता है :—

(क) मालविकाग्निमित्र की कथा से प्रतीत होता है कि कवि को शुंग वंश के इतिहास का, जो पुराणों तक में नहीं मिलता है, ग्बूब परिचय था। नाटक की बातें अर्थात् पुष्यमित्र का सेनापति होना, पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र का यवनों को सिन्धु के तट पर परास्त करना, पुष्यमित्र का अश्वमेध यज्ञ करना ऐतिहासिक घटनाएँ हैं। कालिदास को यह सारा पता स्वयं शुंगों से लगा होगा। इसके अतिरिक्त, नाट्यशास्त्र के अनुसार कथावस्तु तथा नायक सुप्रसिद्ध होने चाहिएँ। यदि कालिदास गुप्त-काल में जीवित होता तो उसके समय अग्निमित्र का यश मन्द हो चुका होने के कारण उसे नायक बनाने की बात सन्देहपूर्ण हो जाती है।

(ख) भीटा के एक मुद्रा-चित्र में एक राजा रथ में बैठकर हरिण का आखेट करता हुआ दिखाया गया है। यह दृश्य शकुन्तला नाटक प्रथम अंक के दृश्य से बहुत मिलता है; इस दृश्य के समान सम्पूर्ण

संस्कृत-साहित्य में कोई दूसरा दृश्य नहीं है। यह मुद्रा-चित्र शुङ्ग-साम्राज्य की सीमा के अन्तर्गत प्राप्त हुआ था। अतः कालिदास शुङ्ग-वंश के अन्त (अर्थात् २५ ई० पू०) से पहले ही जीवित रहा होगा।

(ग) कालिदास की शैली कृत्रिमता से मुक्त है। यह महाभाष्य से बहुत मिलती जुलती है। अतः कालिदास का काल श्रम-सम्पन्न एवं कृत्रिम शैली के उत्तम आदर्शभूत नासिक और गिरनार के शिलालेखों के काल से बहुत पहले होना चाहिए।

(घ) कुछ शब्दों के इतिहास से ऐसा ज्ञात होता है कि संस्कृत कालिदास के काल के शिक्षितों की बोलचाल की भाषा थी। उदाहरणार्थ; परमेष्ठी और पेलव शब्द का प्रयोग अमरकोष में दिए अर्थ से बिल्कुल भिन्न अर्थ में हुआ है।

(ङ) कुछ वैदिक शब्दों के व्यवहार से ऐसा प्रतीत होता है कि वह वैदिक और श्रेण्य साहित्य के सन्धिकाल में हुआ, और यह काल २०० ई० पू० से ईसवी सन् के प्रारम्भ तक माना जाता है। ईसवी सन् के प्रारम्भिक काल के लेखक तक भी अपनी रचनाओं में किसी वैदिक शब्द का प्रयोग नहीं करते।

(च) कालिदास ने परशुराम को केवल ऋषि माना है, विष्णु का अवतार नहीं। परशुराम को अवतार मानना पश्चात् में प्रारम्भ हुआ।

(छ) कालिदास और अश्वघोष के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि उन दोनों के लेख परस्पर निरपेक्ष नहीं हैं[1]। बहुत ही कम विद्वान् इसे अस्वीकार करेंगे कि अश्वघोष कालिदास की अपेक्षा अधिक कृत्रिम है। अश्वघोष प्रायः ध्वनि के लिए अर्थ की उपेक्षा कर देता है। काव्य शैली.का इतिहास प्रायः उसकी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई कृत्रिमता का इतिहास है। ऐसी अवस्था में कालिदास को अश्वघोष (ईसा की प्रथम शताब्दी) से पहले रखना ही स्वाभाविक होगा। यद्यपि दूसरे भी आधार हैं, तथापि यही अधिक न्यायपूर्ण प्रतीत होता है कि बौद्ध कवि

---

१ खण्ड २८ और ३०।

ने बुद्धचरित में कालिदास के ग्रन्थों में से दृश्यों का अनुकरण किया हो। यह विश्वास कम होता है कि संस्कृत साहित्य के सर्वतोमुखी-प्रज्ञावान् सर्वश्रेष्ठ कवि ने अश्वघोष के बुद्धचरित की नकल की हो और लज्जावनत मुख से, एक ही नहीं, दोनों महाकाव्यों में चुराए हुए माल से दूकान विभूषित की हो।

(ज) हाल (ईसा की प्रथम शताब्दी) की सतसई में एक पद्य में महाराज विक्रमादित्य की दानस्तुति आई है।

(झ) बौद्धधर्म-परामर्शी स्थलों तथा शकुन्तला में आए बौद्धधर्म सम्बन्धी राज-संरक्षणों की बातों से मालूम होता है कि कालिदास ईसवी सन् के प्रारम्भ से कुछ पूर्व हुआ होगा। यह वह काल था जिस तक राजा लोग बौद्धधर्म का संरक्षण करते आ रहे थे। 'प्रवर्ततां प्रकृति-हिताय पार्थिवः सरस्वती श्रुतिमहतां महीयताम्' की प्रार्थना उसके व्यथित हृदय से ही निकली होगी।

किन्तु उक्त वाद त्रुटियों से बिल्कुल शून्य नहीं है।

(क) इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता कि ई० पू० की प्रथम शताब्दी में विक्रमादित्य नामक किसी राजा ने (चाहे हाल की सतसई में आया हुआ विक्रमादित्य सम्बन्धी उल्लेख सत्य ही हो) शकों को परास्त किया हो।

(ख) बहुत सम्भव है कि विक्रमादित्य, जिसके साथ परम्परागत रूढ़ि के अनुसार कालिदास का नाम जोड़ा जाता है, कोई उपाधि मात्र हो और व्यक्तिवाचक संज्ञा न हो।

(ग) इसका कोई प्रमाण नहीं कि ५७ ई० पू० में प्रवर्तित सम्वत् विक्रम सम्वत् ही था। लेखों के साक्ष्य के आधार पर हम इतना ही जानते हैं कि ५७ ई० पू० में प्रवर्तित सम्वत् छः सौ तक कृत सम्वत् या मालव सम्वत् के नाम से प्रचलित रहा। बहुत देर के बाद (८०० ई० के लगभग) यह सम्वत् विक्रम सम्वत् से प्रसिद्ध हुआ।

(घ) नवरत्नों में कालिदास के नाम के साथ अमरसिंह और वराह-

मिहिर के भी नाम लिए जाते हैं; किन्तु अन्य स्वतन्त्र प्रमाणों से पता लगता है कि ये दोनों बाद में हुए हैं।

(२) छठी शताब्दी का वाद।

(क) फ़र्गुसन (Fergusson) का विचार था कि विक्रमादित्य नामक किसी राजा ने ५४४ ई० में हूणों को परास्त किया था। अपनी विजय की स्मृति में उसने विक्रम सम्वत् की नींव डाली और अपने सम्वत् को प्राचीनता का महत्व देने के लिए इसे ६ शताब्दी पूर्व से प्रारम्भ किया[1]। प्रो० मैक्समूलर के 'पुनरुज्जीवनवाद' ने, जिसके अनुसार छः सौ वर्ष तक सोने के बाद ईसा की पांचवीं शताब्दी में संस्कृत का पुनर्जागरण हुआ, इस वाद को कुछ महत्त्व दे दिया। किन्तु शिलालेख-लब्ध प्रमाणों ने बतलाया कि न तो मैक्समूलर का वाद समभ्युपगत हो सकता है और न फ़र्गुसन का, क्योंकि ५७ ई० पू० का सम्वत् कम से कम एक शताब्दी पहले कृत या मालव सम्वत् के नाम से शिलालेखों में ज्ञात था।

(ख) यद्यपि फ़र्गुसन का वाद उपेक्षित हो चुका था, तथापि कुछ विद्वान् कतिपय स्वतन्त्र प्रमाणों के आधार पर कालिदास का काल छठी शताब्दी ही मानते रहे। डा० हार्नले (Hoernle) के मत में कालिदास महाराज यशोधर्मा[2] (ई० की छठी शताब्दी) का आश्रित था। इस विचार का आधार मुख्यतः रघुवंशगत दिग्विजय का वर्णन और हूणों का उस देश (कश्मीर में रहना बताना है जहाँ केसर[3]

---

१. जगत् के इतिहास में इस प्रकार के सम्वत् के प्रारम्भ होने का कोई दृष्टान्त नहीं मिलता, तो भी यह काल्पनिक वाद कुछ काल तक प्रचलित रहता रहा।

२. जर्नल आव् रायल एशियाटिक सोसायटी (१९०९)।

३. केसर का नाम मात्र सुनकर किसी ने कालिदास (कालि के दास) को काश्मीर निवासी मातृगुप्त (माता से रक्षित) मान लिया है। शायद इसका कारण नाम के अर्थ का साम्य है। पर इस विचार में कोई प्रमाण नहीं मिलता और इसके समर्थक भी नहीं हैं।

पैदा होती है। इस विचार का समर्थन कोई विद्वान् नहीं करता। यह विचार भ्रान्त नींव पर खड़ा मालूम होता है।

(३) पञ्चम शताब्दी वाला वाद।

(क) कहा जाता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य कालिदास का आश्रयदाता था।

(ख) मेघदूत में, रघुवंशस्थ दिग्विजय एवं राम के लंका से लौटने में कालिदास ने जो भौगोलिक परिस्थिति प्रकट की है वह गुप्तकाल के भारत को सूचित करती है।

(ग) रघु की दिग्विजय का ध्यान समुद्रगुप्त की दिग्विजय से आया होगा जिसका क्रम भी प्रायः यही है।

(घ) कदाचित् कुमारसम्भव कुमारगुप्त के जन्म की ओर संकेत करता हो।

(ङ) समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ किया था। मालविकाग्निमित्र में जो अश्वमेध वर्णित है वह कदाचित् उसी की ओर संकेत हो।

(च) इस बात की पुष्टि वत्सभट्टि (४७३ ई०) रचित कुमारगुप्त के मन्दसौर के शिलालेख से भी होती है। इस शिलालेख के कुछ पद्य कालिदास के रघुवंश और मेघदूत के पद्यों का स्मरण कराते हैं। उदाहरणार्थ;

चलत्पताकान्यबलासनाथान्यत्यर्थशुक्लान्यधिकोन्नतानि।
तडिल्लताचित्रसिताभ्रकूटतुल्योपमानानि गृहाणि यत्र॥
कैलासतुङ्ग शिखरप्रतिमानि चान्या-
न्याभान्ति दीर्घवलभीनि सवेदिकानि।
गान्धर्वशब्दमुखराणि निविष्टचित्र-
कर्माणि लोलकदलीवनशोभितानि॥

वत्सभट्टि का यह पद्य मेघदूतस्थ अधोलिखित पद्य का पदान्तर-करणमात्र है—

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
सङ्गीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम् ।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रं लिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥

(छ) दिग्विजय में पारसीकों और हूणों का निवास भारत की उत्तर-पश्चिमीय सीमा पर बताया गया है, यह बात पंजाब तक को सम्मिलित करके समग्र उत्तर भारत के ऊपर शासन करने वाले गुप्त राजाओं के समय के बाद संभव नहीं हो सकी होगी।

(ज) मल्लिनाथ की टीका के आधार पर यह माना जाता है कि कालिदास ने मेघदूत में दिङ्नाग और निचुल की ओर संकेत किया है। मल्लिनाथ का काल कालिदास से बहुत पश्चात् है, अतः उसका कथन पूर्ण विश्वसनीय नहीं है। किसी प्राचीन लेखक के लेख में मल्लिनाथ की बात का बीज नहीं पाया जाता। इसके अतिरिक्त, श्लेष कालिदास की शैली के विरुद्ध है। यह भी सम्भव नहीं है कि कोई व्यक्ति आदरसूचक बहुवचन में अपने शत्रु के नाम की ओर संकेत करे जैसा कि कालिदास के ग्रन्थ में बताया जाता है। (देखिये, दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान्)। और यदि इस संकेत को सत्य मान भी लें, तो भी इसकी कालक्रम की दृष्टि से इस वाद से मुठभेड़ नहीं होती। दिङ्नाग के गुरु वसुबन्धु का ग्रन्थ ४०४ ई० में चीनी भाषा में अनूदित हो चुका था और चन्द्रगुप्त द्वितीय ४१३ ई० तक जीवित रहा।

(झ) कालिदास ने माना है कि पृथिवी की छाया पड़ने के कारण चन्द्र-ग्रहण होता है। इसी बात को लेकर कहा जाता है कि कालिदास ने यह विचार आर्यभट्ट (४९९ ई०) से लिया था। चन्द्रमा के कलङ्क को छोड़कर, यह बात किसी अन्य बात की ओर संकेत करती है, इसमें सन्देह है और यदि कालिदास के चन्द्र ग्रहण सम्बन्धी उक्त विचार को यथार्थ भी मान लें तो भी कहा जा सकता है कि उसने यह विचार रोमक सिद्धान्त (४०० ई०) से लिया होगा।

(ञ) कालिदास ने ज्योतिष शास्त्र का 'जामित्र' शब्द प्रयुक्त किया है। यह शब्द यूनानी भाषा का प्रतीत होता है। प्रो० कीथ के मतानुसार यह शब्द कालिदास का जो काल सूचित करता है। वह ३२० ई० से पहले नहीं पड़ सकता।

(ट) कहा गया है कि कालिदास की प्राकृत भाषाएँ अश्वघोष की प्राकृतों से पुरानी नहीं हैं, परन्तु यह भाषा-तुलना यथार्थ नहीं हो सकती, कारण की अश्वघोष के ग्रन्थ मध्य एशिया में और कालिदास के भारत में उपलब्ध हुए हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कालिदास का समय दो सीमाओं के अर्थात् ई० पू० प्रथम शताब्दी और ४०० ई० के मध्य पड़ता है। "जब तक ज्ञात-काल शिलालेखों के साथ तथा संस्कृत के प्राचीनतम अलंकार-ग्रन्थों में दिए नियमों के साथ मिलाकर उसके प्रत्येक ग्रन्थ की भाषा, शैली और साहित्यिक (आलंकारिक) परिभाषाओं का गहरा अनुसन्धान न हो जाए तब तक उसके काल के प्रश्न का निश्चित हल सम्भव नहीं है।"[1]

(३४) कालिदास के विचार

कालिदास पूर्णता को प्राप्त ब्राह्मण (वैदिक) धर्म के सिद्धान्तों का सच्चा प्रतिनिधि है। वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णों और इनके शास्त्रोक्त धर्मों का मानने वाला है।

ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ्य और संन्यास इन चारों आश्रमों एवं इनके शास्त्र-विहित कर्तव्यों का पक्षपाती है। इस अनुमान का समर्थन रघुवंश की प्रारम्भिक पंक्तियों से ही हो जाता है—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

---

१. मैक्डानल, संस्कृत साहित्य का इतिहास (इंग्लिश) पृष्ठ ३२५।

(बचपन में वे विद्याभ्यास करते थे, युवावस्था में विषयोपभोग। बुढ़ापे में वे मुनियों जैसा जीवन व्यतीत करते थे और अन्त में योग द्वारा शरीर त्यागते थे)।

जीवन के चार फलों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—में उसका पूर्ण विश्वास है। काम और अर्थ की प्राप्ति मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्य से धर्म के अनुसार होनी चाहिये। यह सिद्धान्त उसने अपने नाना ग्रन्थों में भली भाँति व्यक्त किया है।—जब तक दुष्यन्त को यह निश्चय नहीं हो जाता कि शकुन्तला क्षत्रिय-कन्या है अतएव राजा से, ब्याही जाने के योग्य है, तब तक वह उसके लिए इच्छा प्रकट नहीं करता। फिर, वह दरबार में शकुन्तला को ग्रहण करने से केवल इसलिए निषेध कर देता है कि वह उसकी परिणीता पत्नी नहीं है।

प्रेम के विषय में कालिदास का मत है कि तपस्या से प्रेम निखरता है। प्रेमियों की दीर्घ तपस्या से प्रेम उज्ज्वल होकर स्थायी बन जाता है। उसके रूपकों में शकुन्तला एवं अन्य नायिकाएँ घोर क्लेश सहन करने के बाद ही पतियों के साथ पुनः स्थिर संयोग प्राप्त कर सकी हैं। यही दशा दुष्यन्तादि नायकों की भी है। तप पारस्परिक और समान रूप से उग्र है। उसके काव्यों में भी यही बात पाई जाती है। इस प्रसङ्ग में कुमारसम्भव के पञ्चम सर्ग में पार्वती के प्रति शिव की उक्ति सोलहों आने ठीक है।

> अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि ! तवास्मि दासः
> क्रीतस्तपोभिः.......................।

शिव को आकृष्ट करने वाला पार्वती का अलौकिक सौन्दर्य नहीं, तप था।

---

१ संस्कृत साहित्य के इतिहास में इंगलिश (पृ० ९७) कीथ कहता है—'कालिदास उन्हें दिलीप के पुत्रों में मूर्त देखता है।' कदाचित् दिलीप से कीथ का तात्पर्य दशरथ से है; क्योंकि दिलीप के तो केवल एक पुत्र-रघु था।

ऐसा मालूम होता है कि कालिदास ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों देवों की पारमार्थिक एकता का मानने वाला है। कुमारसम्भव के दूसरे सर्ग में उसने ब्रह्मा की स्तुति की है, रघुवंश में विष्णु को परमेश्वर माना है और दूसरे ग्रन्थों में शिव को महादेव माना है। सच तो यह कि वह काश्मीर शैव सम्प्रदाय का अनुयायी था। 'विस्मरण' के बाद 'प्रत्यभिज्ञान' होता है। यह सिद्धान्त उसके रूपकों में, विशेषतः अभिज्ञान शाकुन्तल में सम्यक् उन्नीत हुआ है। जगत्-प्रकृति के बारे में सांख्य और योगदर्शन के सिद्धान्तों का मानने वाला है। यह बात रघुवंश से बहुत अच्छी तरह प्रतीत होती है। बुढ़ापे में रघुवंशी जंगल में जाकर वर्षों तप करते हैं और अन्त में योग द्वारा[1] शरीर छोड़ देते हैं। वह पुनर्जन्म में, जो हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों में सबसे मुख्य है, विश्वास रखता है। इस विश्वास को उसने खूब खोलकर दिखलाया है :—अगले जन्म में इन्दुमती से मिलने की आशा से अज अकाल मृत्यु का अभिनन्दन करता है, आगामी जीवन में अपने पति से पुनः संयोग प्राप्त करने के लिए रति काम के साथ चिता पर अपने आपको जलाने को उद्यत है, और सीता इसलिए कठोर तप करती है कि भावी जीवन में वह राम से पुनः मिल सके।

(३५) कालिदास की शैली

कालिदास वैदर्भी रीति का सर्वोत्तम आदर्श है। संस्कृत साहित्य का वह एक कण्ठ से सर्वश्रेष्ठ कवि माना जाता है। ऐहोल के शिलालेख (६३४ ई०) में उसका यश गाया गया है और बाण अपने हर्षचरित की भूमिका में उसकी स्तुति करता हुआ लिखता है :—

---

१. जीवन का अन्तिम लक्ष्य सर्वोपरि शक्ति के साथ ऐक्य स्थापित करना है; वह शक्ति ही ब्रह्म है जो जगत् की धारिणी है। यह एकता भी योग्याभ्यास से ही सम्भव है।

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु ।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते ॥

वस्तुतः भारतीयों की सम्मति में कालिदास अनुपम कवि है :—

पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठकाधिष्ठित कालिदासा ।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव ॥

जर्मन महाकवि गेटे (Goethe) ने अभिज्ञान शाकुन्तल का सर विलियम जोन्स कृत (१७८९ ई०), अनुवाद ही पढ़कर कहा था— :

"क्या तू उदीयमान वर्ष के पुष्प और क्षीयमाण वर्ष के फल देखना चाहता है ? क्या तू वह सब देखना चाहता है जिससे आत्मा मन्त्रमुग्ध, मोद-मग्न, हर्षाप्लावित और परितृप्त हो जाती है ? क्या तू द्युलोक और पृथ्वीलोक का एक नाम में अनुगत हो जाना पसन्द करेगा ? अरे, [तब] मैं तेरे समक्ष शकुन्तला को प्रस्तुत करता हूँ और बस सब कुछ एकदम इस ही में आ गया ।"

उसके काव्य की प्रथम श्रेणी की विशेषता व्यञ्जकता है (मिलाइये, काव्यस्यात्मा ध्वनिः) । वह उस सुनहरी पद्धति पर चला है जो पुराणों की घोर प्रसाद-गुण-पूर्णता और अर्वाचीन कवियों की सीमा से बढ़कर कृत्रिमता के मध्य होकर गई है । कभी-कभी हमें उसमें भास की सी प्रसाद-गुण-पूर्णता देखने को मिलती है, किन्तु उसमें भी एक अनोखापन और लालित्य है । कालिदास के अधोलिखित पद्य की तुलना भास के उस पद्य से की जा सकती है जो वल्लभदेवकृत सुभाषितावली में १३५३ वें क्रमांक पर आया है—

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद: किं न मे हृतम् ॥

भास कहता है—

भार्या मन्त्रिवरः सखा परिजनः सैका बहुत्वं गता ।

कालिदास में कथानक का विकास करने का असाधारण कौशल

और चरित्र-चित्रण की अद्भुत शक्ति है। शेक्सपियर के समान उनके प्रत्येक पात्र में अपना स्वतः व्यक्तित्व है; उदाहरणार्थ; अभिज्ञान शाकुन्तल में तीन ऋषि आते हैं—कण्व, दुर्वासा और मारीच। केवल एक ही वाक्य दुर्वासा के क्रोधी स्वभाव का, या अन्य ऋषियों की भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रकृति का, चित्र खींच देता है। एवं शकुन्तला की दो सखियों अनसूया और प्रियम्वदा में से अनसूया गम्भीर प्रकृति और प्रियम्वदा विनोदप्रिय है। कण्व के दोनों शिष्यों में व्यक्तित्व के लक्षण विस्पष्ट हैं। कालिदास की भाषा भाव और पात्र के बिल्कुल अनुरूप है :—गृह-पुरोहित अपने वार्त्तालाप में दार्शनिक सूत्रों का प्रयोग करता है और स्त्रियाँ साधारण प्राकृत ही में बोलती हैं।

कालिदास की अधिक प्रसिद्धि उपमाओं[1] के लिये है जो योग्य, मौलिक और मर्मस्पर्शिनी हैं। वे भिन्न-भिन्न शास्त्रों में से संकलित हैं, यहाँ तक कि व्याकरण और अलंकार शास्त्र को भी नहीं छोड़ा गया है। न केवल संकेत मात्र ही, अपितु औपम्य पूर्णता को पहुँचाया गया है। वर्ड्स्वर्थ के समान उसका भी प्रकृति के साथ तादात्म्य है। उसका प्रकृति पर्यवेक्षण उत्कृष्ट कोटि का है; वह जड़ पर्वतों, पवनों और नदियों तक को अपनी बात सुना सकता है। उसके वृक्षों, पौधों, पशुओं एवं पक्षियों में भी मानव-हृदय के भाव—हर्ष, शोक, ध्यान और चिन्ता हैं। उसके इस विशिष्ट गुण का अतिक्रमण तो क्या; कोई तुलना भी नहीं कर सकता।

उपमा के अतिरिक्त उसने उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास और यमकादि का भी प्रयोग पूर्ण सफलता से किया[2] है। रघुवंश के नवम सर्ग में उसने

---

१. देखिये, उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणाः॥

२. उसके शब्दालंकारों और अर्थालंकारों के प्रयोग में बहुत सुन्दर सम-तुलन है। अर्थ की बलि देकर शब्द का चमत्कार उत्पन्न करने की ओर उसकी अभिरुचि नहीं है।

अनुप्रास के विभिन्न भेदों और नाना छन्दों के प्रयोग में पूर्ण कौशल दिखाया है। किन्तु वह श्लेष का रसिक नहीं था।

उसके ग्रन्थों ने अन्य कवियों के लिये आदर्श का काम किया है। मेघदूत के अनुकरणों का उल्लेख ऊपर हो चुका है। हर्ष के दोनों नाटक मालविकाग्निमित्र के अनुकरण पर लिखे गए हैं। मालतीमाधव में भवभूति ने उसके उच्छ्वसन का आश्रय लिया है। दण्डी का पद्य 'मलिनं हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति' कालिदास से ही उधार लिया प्रतीत होता है। वामन (८ वीं शताब्दी) ने कालिदास के उदाहरण लिए हैं और आनन्दवर्धनाचार्य के बाद से कालिदास के पठन-पाठन का पर्याप्त प्रचार रहा है और उसके ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी गई हैं।

कालिदास छन्दों के प्रयोग में बड़ा निपुण है। मेघदूत में उसने केवल मन्दाक्रान्ता छन्द का प्रयोग किया है। उसके अधिक प्रयुक्त छन्द इन्द्रवज्रा [कुमारसम्भव में सर्ग १, ३, और ७; रघुवंश में सर्ग २, ५, ७, १३, १४, १६ और १७] और श्लोक [कुमारसम्भव में सर्ग २ और ६; रघुवंश में सर्ग १, ४, १०, १२, १५, और १९] हैं। कुमारसम्भव को अपेक्षा रघुवंश में नाना प्रकार के छन्द अधिक प्रयुक्त हुए हैं।

अध्याय ७

अश्वघोष

(३६) क–अश्वघोष का परिचय

अश्वघोष भी संस्कृत के बड़े-बड़े कवियों में से एक है। यह महाकाव्य, नाटक और गीति-काव्यों का निर्माता है। यह बौद्ध भिक्षु था। जनश्रुति[1] के अनुसार यह कनिष्क का सम-सामयिक था। तिब्बत, चीन और मध्य एशिया में फैलने वाले महायान सम्प्रदाय का प्रवर्तक नहीं, तो यह बहुत बड़ा आचार्य अवश्य था। अश्वघोष के एक जीवन-चरित्र[2] के अनुसार यह मध्य भारत[3] का निवासी था और पूज्य पार्श्व[4] का

---

१. संयुक्तरत्नपिटक और धर्मपिटकनिदान, जिनका अनुवाद चीनी में ४७२ ई० में हुआ, बताते हैं कि अश्वघोष कनिष्क का गुरु था।

२. चीनी में इसका अनुवाद याओ-ज़िन (Yao-Tzine) (३८४-४१७ ई०) वंश के राज्यकाल में कुमारस्य (कुमारशील ?) ने किया। उस अनुवाद से एम० वैसिलीफ़ (M, Vassilief) ने संक्षिप्त जीवन तैयार किया, उसका अनुवाद मिस ई० लायल ने किया।

३. तिब्बती बुद्धचरित की समाप्ति की पंक्तियाँ कहती हैं कि अश्वघोष साकेत का निवासी था [इंडियन एंटिक्वेरियन सन् १९०३, पृ० ३५०]।

४. पूर्णयश लिखित जीवनचरित के अनुसार यह पार्श्व के अन्तेवासी का शिष्य था।

शिष्य था जिसने अपने उत्कृष्ट बुद्धि-वैभव के बल से बौद्धधर्म में दीक्षित किया था। एक और जनश्रुति कहती है कि इसका भाषण इतना मधुर होता था कि घोड़े भी चरना छोड़कर इसका भाषण सुनने लग जाते थे।

ख—अश्वघोष की नाट्य-कला

प्रो० लूडर्स को धन्यवाद है जिसके प्रयत्नों से हम जानते हैं कि अश्वघोष ने कुछ नाटक लिखे थे। मध्य एशिया में ताडपत्रवाली हस्तलिखित पुस्तकों के टुकड़ों में से जो तीन बौद्ध नाटक उपलब्ध हुए हैं उनमें शारिपुत्र प्रकरण (पूरानाम, शारद्वती पुत्र प्रकरण) भी है। यह नाटक निस्सन्देह अश्वघोष की कृति है; क्योंकि (१) ग्रन्थान्त में सुवर्णाक्षी के पुत्र अश्वघोष का नाम दिया है; (२) एक पद्य ज्यों का त्यों बुद्धचरित में से लिया गया है; और (३) लेखक ने अपने सूत्रालंकार में दो बार इस ग्रन्थ का नामोल्लेख किया है। इस नाटक से पता लगता है कि किस प्रकार बुद्ध ने तरुण मौद्गल्यायन और शारिपुत्र को अपने धर्म का विश्वासी बनाया। कहानी बुद्ध चरित में वर्णित कहानी से कुछ भिन्न है; क्योंकि ज्यों ही ये शिष्य बुद्ध के पास आए त्यों ही उसने सीधे इनसे अपनी भविष्यद्वाणी कर दी। मृच्छकटिक और मालतीमाधव के समान यह नाटक भी 'प्रकरण' है। इसमें नौ अंक हैं। इस नाटक में नाट्यशास्त्र में वर्णित नाटक के नियमों का यथाशक्य पूर्ण पालन किया गया है। नायक शारिपुत्र धीरोदात्त है। बुद्ध और उनके शिष्य संस्कृत बोलते हैं। विदूषक और अन्य हीनपात्र प्राकृत बोलते हैं। जो ऐसे नायक के साथ भी अश्वघोष ने विदूषक रक्खा इससे अनुमान होता है कि उसके समय से पूर्व ही संस्कृत नाटक वह स्वरूप निश्चित हो चुका था जो हमें बाद के साहित्य में देखने को मिलता है। भरतवाक्य में[1] 'अतः परम्' शब्दों का प्रयोग भी बड़े कौशल से किया गया है।

---

१ कुछ एक विद्वानों का कथन है कि इन नाटक में 'अतः परमपि प्रियमस्ति ?' वाला प्रश्न नहीं आया है और भरतवाक्य को नायक नहीं

नाटकीय नियमों के अनुसार भिन्न-भिन्न पात्र अपने सामाजिक पद के अनुसार भिन्न-भिन्न भाषा बोलते हैं। इस नाटक में तीन प्रकार की प्राकृतें पायी जाती हैं। 'दुष्ट' की प्राकृत मागधी से, 'गोबम्' की अर्द्धमागधी से और विदूषक की उक्त दोनों के मिश्रण से मिलती जुलती है।

शेष दो बौद्ध नाटकों के रचयिता के विषय में हम ठीक-ठीक कुछ नहीं जान सकते, क्योंकि ये खण्डितरूप में ही मिलते हैं; किन्तु हम उन्हें किसी और कृतिकार की कृति मानने की अपेक्षा अश्वघोष की ही कृति मानने की ओर अधिक झुकेंगे। इनमें से एक रूपकाख्यान के रूप में है और कृष्णमिश्ररचित प्रबोधचन्द्रोदय से मिलता जुलता है जिसमें कुछ भाववाचक संज्ञाओं को व्यक्तिवाचक संज्ञाएं मानकर पात्रों की कल्पना की गई है और वे संस्कृत बोलते हैं।

(३७) अश्वघोष के महाकाव्य

[बुद्धचरित और सौन्दरानन्द]

संस्कृत साहित्य के पुष्पोद्यान में अश्वघोष एक परम लोचनासेचनक कुसुम है। इसके इस यश के विस्तारक इसके अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा

बोलता है। इस बात से लूडर्स ने यह परिणाम निकाला कि संस्कृत नाटक का अन्त्यांश अभी निर्माणावस्था में था। किन्तु यह हेतु वस्तुतः हेत्वाभास है। लूडर्स के ध्यान में यह बात नहीं आई, कि कवि भरतवाक्य में 'अतः परम्' शब्द रखकर नाटकीय नियमों का यथाशक्ति पूर्णपालन करने का यत्न कर रहा है। इसके अतिरिक्त, बाद की शताब्दियों में भी भरतवाक्य, नायक को छोड़; अन्य श्रद्धेय व्यक्तियों द्वारा बोला गया है। उदाहरणार्थ, भट्टनारायणकृत वेणीसंहार में इसका वक्ता कृष्ण और दिङ्नाग की कुन्दमाला में इसका वक्ता वाल्मीकि है।

इसके महाकाव्य—बुद्धचरित और सौन्दरानन्द ही अधिक हैं। बुद्धचरित की शारदालिपि में एक हस्तलिखित प्रति मिलती है जिसमें तेरह सर्ग पूर्ण और चौदहवें सर्ग के केवल चार पद्य हैं। इस ग्रन्थ का अनुवाद चीनी भाषा में (४१४-४२१ ई० में) हो चुका है और इत्सिङ्ग इसे अश्वघोष[1] की रचना बतलाता है। केवल चीनी अनुवाद ही नहीं, तिब्बती अनुवाद भी हमें बतलाता है कि असली बुद्धचरित में २७ सर्ग थे। कहानी बुद्ध-निर्वाण तक पूर्ण है।

इत्सिङ्ग के वर्णन से मालूम होता है कि ईसा की छठी और सातवीं शताब्दी में सारे भारतवर्ष में बुद्धचरित के पठन-पाठन का प्रचार था। १९ वीं शताब्दी में अमृतानन्द ने विद्यमान १३ सर्गों में ४ सर्ग और जोड़कर कहानी को बुद्ध के काशी में प्रथमोपदेश तक पहुँचा दिया।

बुद्धचरित अत्युत्तम महाकाव्य है। इसमें महाकाव्य के सब मुख्य-मुख्य उपादानतत्व मौजूद हैं—इसमें प्रेम-कथा के दृश्य, नीतिशास्त्र-सिद्धान्त और साङ्ग्रामिक घटनाओं का वर्णन भी है। कमनीय कामिनियों की केलियां, गृह-पुरोहित का सिद्धार्थ को उपदेश, सिद्धार्थ का मकर-ध्वज के साथ संग्राम, ये सब दृश्य बड़ी विशद और रमणीय शैली से अङ्कित किए गए हैं।

यद्यपि कवि बौद्ध था, तथापि काव्य पौराणिक तथा अन्य-हिन्दू-कथा ग्रन्थीय परामर्शों से पूर्ण है। निदर्शनार्थ, इसमें पाठक इन्द्र, माया, सहस्राक्ष इंद्र, पृथु, उक्षिवान्, वाल्मीकि, कौशिक, सगर, स्कन्द के नाम, मान्धाता, नहुष, पुरूरवा, शिव-पार्वती की कथाएँ और अतिथि-

---

१. इस बारे में एक कहानी है। कहा जाता है कि कनिष्क अश्वघोष को पाटलिपुत्र से ले गया था। उसे कनिष्क की आयोजित बौद्धों की परिषद् का उपप्रधान बनाया गया। फलतः महाविभाषा की रचना हुई जो चीनी भाषा में अब तक विद्यमान है और जिसे बौद्ध-दर्शन का विश्वकोष कहा जाता है।

सत्कार की सनातनी रीति पाएँगे। उपनिषदों, भगवद्गीता, महाभारत और रामायण के उल्लेख भी देखने को मिलते हैं। इन बातों से विस्पष्ट है कि कवि ने ब्रह्मसम्बन्धी वैदिक साहित्य का गहरा अध्ययन किया होगा।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, बुद्धचरित में कालिदासीय महाकाव्यों की-सी अनेक बातें पाई जाती हैं। उदाहरण के लिए; बुद्धचरित में (सर्ग ३, १३–१९) जब सिद्धार्थ का जुलूस पहली बार बाजार में निकलता है तब स्त्रियां उसे देखने के लिए अट्टालिकाओं में इकट्ठी हो जाती हैं, रघुवंश (सर्ग ७, ५–१२) में भी रघु के नगर-प्रवेश के समय ऐसा ही वर्णन है। विचार और वर्णन दोनों दृष्टियों से बुद्धचरित का (सर्ग १३, ६) काम का सिद्धार्थ पर आक्रमण कुमारसम्भव के (सर्ग ३, ६) काम के शिव पर किए आक्रमण से मिलता है। ऐसे और भी अनेक दृष्टान्त दिए जा सकते हैं[1]। हम एक बात और देखते हैं। बुद्धचरितगत सोती हुई स्त्रियों का वर्णन रामायण गत ऐसे ही वर्णन से बहुत मिलता-जुलता है। सम्पूर्णकाव्य में वैदर्भी रीति है, अतः

---

१. सच तो यह है कि सभी विद्वानों ने कालिदास और अश्वघोष में बहुत अधिक समानता होना स्वीकार किया है। किन्तु कौन पहले हुआ, और कौन बाद में, इस बारे में बड़ा मतभेद है। धिष्ण्य (स्थान) निर्वाहण आदि शब्द एवं कतिपय समास दोनों ने एक जैसे अर्थों में प्रयुक्त किये हैं। यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि दोनों में तीन शताब्दियों का तो नहीं, एक शताब्दी का अन्तर होगा। कालिदास के विपरीत, अश्वघोष की रचना में वैदिक शब्द नहीं पाए जाते। वह वैदिक-लौकिक-संस्कृत-सन्धि काल के बाद हुआ। साथ ही ऐसा भी मालूम होता है कि कालिदास की अपेक्षा अश्वघोष अधिक कृत्रिमता-पूर्ण है। अश्वघोष की रचना में प्रायः ध्वनि-सौन्दर्य उत्पन्न करने के लिए अर्थ की बलि कर दी गई है।

इसमें विशदता और प्राञ्जलता का होना स्वाभाविक है। कालिदास के ग्रन्थों के समान इसमें भी लम्बे लम्बे समास नहीं हैं। भाषा सरल, सुन्दर, मधुर और प्रसाद गुण-पूर्ण है।

सौन्दरानन्द में ऐतिहासिक महाकाव्य की पद्धति का अनुसरण करते हुए बुद्ध के सौतेले भाई नन्द और सुन्दरी की कथा दी गई है और बतलाया गया है कि बुद्ध ने नन्द को, जो सुन्दरी के प्रेम में डूबा हुआ था, किस प्रकार अपने सम्प्रदाय का अनुगामी बनाया। इसके बीस के बीस सर्ग सुरक्षित चले आ रहे हैं। यह ग्रन्थ निस्सन्देह अश्वघोष की ही-कृति है, कारण कि:—

(१) सौन्दरानन्द और बुद्धचरित में एक सम्बन्ध देखा जाता है। वे दोनों एक दूसरे की पूर्त्ति करते हैं। उदाहरण के लिए बुद्धचरित में कपिलवस्तु का वर्णन संक्षिप्त है और सौन्दरानन्द में विस्तृत; बुद्धचरित में बुद्ध के संन्यास का विस्तृत वर्णन है और सौन्दरानन्द में संक्षिप्त। बुद्धचरित में नन्द के बौद्ध होने का वर्णन संक्षिप्त किन्तु सौन्दरानन्द में विस्तृत है। ऐसे और भी बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं।

(२) इन दोनों काव्यों में काव्यीय-सम्प्रदाय, रामायण, महाभारत, पुराण और भी हिन्दूसिद्धान्तों का उल्लेख एक जैसा पाया जाता है।

(३) इन दोनों काव्यों में ऋष्यश्रृङ्ग आदि अनेक ऋषियों का वर्णन एक क्रम से हुआ है। सौन्दरानन्द में अपने से पहले किसी काव्य की ओर संकेत नहीं पाया जाता, इसी आधार पर प्रो॰ कीथ ने यह कल्पना कर डाली है कि सौन्दरानन्द अश्वघोष की प्रथम रचना है। परन्तु इसके विपक्ष का प्रमाण अधिक प्रबल है। सूत्रालङ्कार में बुद्धचरित के तो नाम का उल्लेख पाया जाता है; सौन्दरानन्द का नहीं। बुद्धचरित में महायान का एक भी सिद्धान्त उपलब्ध नहीं होता; किन्तु सौन्दरानन्द के अन्तिम भाग में कवि का महायान के सिद्धान्तों से परिचित होना

१. कीथकृत 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' (इंग्लिश) पृष्ठ ५७।

ज्ञात होता है। सौन्दरानन्द में कवि दार्शनिक-वादों का वर्णन करता है और बड़े कौशल के साथ बौद्ध सिद्धान्तों की शिक्षा देता है। शैली की परिष्कृति और विच्छित्ति की दृष्टि से सौन्दरानन्द बुद्धचरित से बहुत बढ़ कर है। सौन्दरानन्द की कविता वस्तुतः अनवद्य तथा हृद्य है, और बुद्धचरित केवल पद्यात्मक वर्णन है।

सौन्दरानन्द का प्रकाशन प्रथम बार १९१० ई० में हुआ। इसके सम्पादक पं० हरप्रसाद शास्त्री थे जिन्होंने नेपाल में प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर इसका सम्पादन किया था। इस काव्य की तुलना टैनिसन के 'इन मैमोरियम' से की जा सकती है।

(३८) अश्वघोष के अन्य ग्रन्थ

कुछ और भी ग्रन्थ हैं जिन्हें अश्वघोष की कृति कहा जाता है। इनसे ज्ञात होता है कि कवि में वस्तुतः बहुमुखी प्रज्ञा थी।

(१) **सूत्रालङ्कार**—इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है और इसका पता हमें तिब्बती अनुवाद से लगता है। इसमें कवि ने बौद्धधर्म के प्रचारार्थ एक कहानी के घुमाने-फिराने में अपनी योग्यता का प्रदर्शन किया है।

(२) **महायान श्रद्धोत्पाद**—यह बौद्धों की प्रसिद्ध पुस्तक है। इसमें महायान सम्प्रदाय के बाल्यकाल के सिद्धान्तों का निरूपण है। जनश्रुति के अनुसार यह सन्दर्भ अश्वघोष का लिखा हुआ है। यदि जनश्रुति ठीक है तो अश्वघोष एक बहुत बड़ा प्रकृति-विज्ञान-शास्त्री था।

(३) **वज्रसूचि**—ब्राह्मणों ने बौद्धधर्म का इस लिए भी विरोध किया था कि वे उच्चवर्णिक (ब्राह्मण) होकर अपने से हीन वर्णिक (क्षत्रिय) का उपदेश क्यों ग्रहण करें। इस ग्रन्थ में ब्राह्मणों के चातुर्वर्ण्य-सिद्धान्त का खण्डन किया गया है।

(४) **गण्डिस्स्तोत्र गाथा**—अनल्प महत्त्व का यह एक गीति काव्य है। भिन्न-भिन्न छन्दों में इसमें अनेक सुन्दर पद (गीत) हैं जिनसे किसी भी कविता का गौरव बढ़ सकता है। इससे पता चलता है कि

कवि संगीत का विशेषज्ञ और छन्दःशास्त्र का विद्वान् था। इस कविता का उद्देश्य बौद्धधर्म का प्रचार है।

(३६) अश्वघोष की शैली

अश्वघोष वैदर्भी रीति का बहुत सुन्दर कवि है। उसकी भाषा सुगम और शुद्ध, शैली परिष्कृत और विच्छित्तिशाली, तथा शब्दोपन्यास विशद और शोभायुक्त है। उसके ग्रन्थों का मुख्य लक्ष्य, जैसा कि सौन्दरानन्द की समापक पंक्तियों से प्रतीत होता है, आकर्षक वेष से भूषित करके अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना है जिससे लोग सत्य का अनुभव करके निर्वाण प्राप्त कर सकें। इसी लिए हम देखते हैं कि अश्वघोष दीर्घ समासों का रसिक नहीं है और न उसे बड़े डील-डौल वाले शब्दों अथवा बनावटीपन से भरे हुए अर्थों द्वारा पाठक पर प्रभाव डालने का शौक है। यहाँ तक कि दर्शनों के सूक्ष्म सिद्धान्त भी बड़ी सादी भाषा में व्यक्त किए गए हैं। एक उदाहरण देखिए:—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
तथा कृती निर्वृतिभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।
(सौन्दरानन्द १६, २८-२६)

इतना ही नहीं कि यहाँ भाषा सुबोध है, बल्कि उपमा भी बिल्कुल घरेलू और दिल में उतर जाने वाली है। कुछ विद्वान् समझते हैं कि उपमाओं की दृष्टि से कहीं कहीं वह कालिदास से भी आगे बढ़ गया है। इसके समर्थन में निम्नलिखित उदाहरण दिया जाता है—

मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः, शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ॥
(कु० सं० ५, ८५)

(मार्ग में आए पर्वत से क्षुब्ध नदी के समान पार्वती न चली न ठहरी)।

सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ, तरंस्तरंगेष्विव राजहंसः।
(सौन्दरानन्द ४, ४२)

(तरंगों में तैरते हुए राजहंस के समान वह अनिश्चय के कारण न गया न ठहरा)।

दूसरे विद्वान् कहते हैं कि तरंगों में तैरते हुए हंस का निश्चल कहना सन्देहपूर्ण है, अतः निःसन्देह होकर यह भी नहीं कहा जा सकता कि अश्वघोष की उक्त उपमा कालिदास की उक्त उपमा से उत्कृष्ट है।

दिलीप का वर्णन करते हुए कालिदास कहता है—

व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः।

(रघुवंश १, १२)

नन्द का वर्णन करता हुआ अश्वघोष भी कहता है—

दीर्घबाहुर्महावक्षाः सिंहांसो वृषभेक्षणः।

(सौन्द० २, ५८)

उक्ति में बहुत कुछ साम्य होते हुए भी अश्वघोष की उपमा कालिदास की उपमा के समान हृदयग्राहिणी नहीं है। अश्वघोष ने आँखों की जो उपमा बैल की आँखों से दी है वह पाठक पर अधिक प्रभाव नहीं डाल सकती। "कालिदास ने यहाँ दिलीप की आँखों की ओर आँख उठाकर देखा ही नहीं, वह तो उसके कंधों को सांड की ठाट के तुल्य देख रहा है। बेचारे अश्वघोष ने कुछ भेद रखना चाहा और अपना भण्डा स्वयं फोड़ लिया" (चट्टोपाध्याय)।

अश्वघोष आदर्श-अनुराग का चित्र सरल शब्दों में खींच सकता है। देखिए—

तां सुन्दरीं चेन्न लभेत नन्दः, सा वा निषेवेत न तं नतभ्रूः।
द्वन्द्वं ध्रुवं तद् विकलं न शोभेतान्योन्यहीनाविव रात्रिचन्द्रौ[1]॥

(सौन्द० ४, ७)

---

१. यदि नन्द उस सुन्दरी को न प्राप्त करे या वह विनम्र-भ्रूवती उसको प्राप्त न कर सके, तो भग्न उस जोड़े की कुछ शोभा नहीं, जैसे एक दूसरे के बिना रात्रि और चन्द्रमा की [कुछ शोभा नहीं]।

अश्वघोषकृत सुन्दरी के सौन्दर्य का वर्णन सरल और प्रभावशाली है—

स्वेनैव रूपेण विभूषिता हि विभूषणानामपि भूषणं सा[1] ॥
(सौन्द० ४, १२)

अश्वघोष अकृत्रिम और सुबोध यमकों का रसिक है। सुनिए—

प्रणष्टवत्सामिव वत्सलां गाम्[2]।
अथवा
उदारसंख्यैः सचिवैरसंख्यैः[3] ॥

अश्वघोष अच्छा वैयाकरण है और कभी-कभी वह व्याकरण के अप्रसिद्ध प्रयोगों का भी प्रदर्शन करता है। निदर्शनार्थ; उसने उपमा के द्योतक के तौर पर 'अस्ति'[4] निपात का प्रयोग किया है। सौन्दरानन्द के दूसरे सर्ग में उसने लुङ् के प्रयोगों में पाण्डित्य दिखाते हुए 'मा' 'मि' और 'मी' तीनों धातुओं से कर्मणि प्रयोग में सिद्ध होनेवाले 'मीयते' पद का प्रयोग किया है। रामायण-महाभारत तथा बौद्ध लेखकों के प्रभाव से कहीं-कहीं व्याकरण विरुद्ध प्रयोग भी देखे जाते हैं। उदाहरण के लिए देखिए, कृदन्त 'गृह्य' और 'विवर्धयित्वा' किम् उत के स्थान पर किम् वत, चेद् के स्थान पर सचेद्। हाँ इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह छन्दों के प्रयोग में बड़ा सिद्धहस्त है और उद्गाता जैसे कम प्रयोग में आनेवाले छन्दों का भी प्रयोग सफलता से कर सकता है।

सूचना—अश्वघोष के कुछ पद्य भास के पद्यों से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं देखिए—

---

१. वह अपने लावण्य से ही अलंकृत थी; क्योंकि अलंकारों की तो वह अलंकार थी।

२. जिसका बछड़ा मर गया है, प्यार करनेवाली, उस गाय के तुल्य।

३. उत्तम परामर्श देनेवाले असंख्य मन्त्रियों के साथ।

४. सौन्दरानन्द १२, १०।

काष्ठाग्निर्जायते मथ्यमानाद्,
भूमिस्तोयं काम्यमाना[1] ददाति ।
सोत्साहानां नास्त्यसाध्यं नराणां,
मार्गारब्धाः सर्वयत्नाः फलन्ति ॥

(भास)

और,

काष्ठं हि मथ्नन् लभते हुताशनं,
भूमिं खनन् विन्दति चापि तोयम् ।
निबन्धिनः किञ्चिन्नास्त्यसाध्यं,
न्यायेन युक्तं च कृतं च सर्वम् ॥

(अश्वघोष)

ऐसे भी स्थल हैं जिनमें मालूम होता है कि अश्वघोष का अनुकरण हर्ष ने नैषध में किया है । देखिए—

रामामुखेन्दूनभिभूतपद्मान् , मन्त्रापयातोऽप्यवमान्य भानुः ।
सन्तापयोगादिव वारि वेष्टुं, पश्चात् समुद्राभिमुखं प्रतस्थे ॥

(अश्वघोष)

और,

निजांशुनिर्दग्धमदङ्गभस्मभिर्मुधा विधुर्वाञ्छति लाञ्छनोन्मृजाम् ।
त्वदास्यतां यास्यति तावतापि किं वधूवधेनैव पुनः कलङ्कितः ॥

---

१. 'खन्यमाना' पाठ उचित है ।

अध्याय ८

महा-काव्य

(४०) सामान्य परिचय—संस्कृत साहित्य में अनेक बड़े प्रतिभा-शाली महा-काव्य-रचयिता कवि हो चुके हैं जिनमें अमर, अचल और अभिनन्द के नाम उल्लेखनीय हैं। ये कवि सम्भवतया कालिदास की श्रेणी में रक्खे जा सकते थे, किन्तु अब हमें सूक्ति-संग्रहों में इनके केवल नाम[1] ही उपलब्ध होते हैं। प्रकृति की संहारिणी शक्तियों ने इनके ग्रन्थों का संहार कर दिया है। इनके अतिरिक्त घटिया दर्जे के और भी कवि हुए हैं जिनका साहित्य में वार-बार उल्लेख पाया जाता है; परन्तु दुर्भाग्य है कि इनके ग्रन्थ हम तक नहीं पहुँच पाए हैं। अतः इस अध्याय में केवल उन कवियों की चर्चा की जाएगी जिनके ग्रन्थ प्राप्य हैं।

सुप्रसिद्ध रामायण और महाभारत से पृथक् राज-सभा-काव्यों या [संक्षेप में] काव्यों की एक स्वतंत्र श्रेणी है। इस श्रेणी के ग्रंथों में प्रतिपाद्यार्थ की अपेक्षा रीति, अलंकार, वर्णन इत्यादि बाह्य रूप-रङ्ग के सँवारने में अधिक परिश्रम किया गया है। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों काव्य में कृत्रिमता की वृद्धि होती गई। इस के दो प्रकार

---

१. कविरमरः कविरचलः कविरभिनन्दश्च कालिदासश्च ।
अन्ये कवयः कपयश्चापलमात्रं परं दधति ॥

हैं—महाकाव्य[1] और काव्य। इस अध्याय में हम महाकाव्य के शेष कवियों की चर्चा करेंगे और अगले में काव्य के लेखकों को लेंगे।

(४१) भारवि (लगभग ५५० ई०)

काव्य-जगत् में भारवि का बड़ा उच्च स्थान है। कालिदास के काव्यों के समान इसका किरातार्जुनीय भी महाकाव्यों में परिगणित होता है। इसके काव्य की प्रभा की तुलना सूर्य[2] की प्रभा से की जाती है। कालिदास के समान इसके भी जीवन का वृत्तान्त अन्धकार के गर्भ में छिपा पड़ा है।

भारवि का समय।

भारवि के समय के बारे में अधोलिखित बाह्य साक्ष्य उपलब्ध होता है—

(१) ऐहोल के शिला-लेख में (६३४ ई०) कालिदास के साथ इसका भी उल्लेख यशस्वी कवि के रूप में किया गया है।

---

१. दण्डी ने अपने काव्यादर्श १, १४–२० में महाकाव्य का जो लक्षण दिया है उसके अनुसार महाकाव्य का प्रारम्भ आशीः, नमस्क्रिया अथवा कथावस्तुनिर्देश से होना चाहिए। विषय किसी जनश्रुति से लिया गया हो अथवा वास्तविक हो। उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से कोई एक हो। नायक धीरोदात्त होना चाहिए। इसमें सूर्योदय, चन्द्रोदय ऋतु, पर्वत, समुद्र, नगर इत्यादि भौतिक पदार्थों, अनुरागियों के वियोग अथवा संयोग, पुत्रजन्म, युद्ध, नायक-विजय इत्यादि का ललित वर्णन होना चाहिए। यह संक्षिप्त न हो। इसमें रसों और भावों का पूर्ण समावेश हो। सर्ग बहुत बड़े-बड़े न हों। छन्द आकर्षक हों और सर्ग की समाप्ति पर नए छन्द का प्रयोग हो। एक सर्ग की कथा से दूसरे सर्ग की कथा नैसर्गिक रूप में मिलती हो।

२. प्रकाशं सर्वतो दिव्यं विदधाना सतां मुदे।
प्रबोधनपरा हृद्या भा रवेरिव भारवेः॥

(२) काशिकावृत्ति में इसकी रचना में से उदाहरण दिया गया है।

(३) ऐसा प्रतीत होता है कि इस पर कालिदास का प्रभाव पड़ा है और इसने माघ के ऊपर अपना प्रभाव डाला है।

(४) बाण ने अपने हर्षचरित की भूमिका में इसका कोई उल्लेख नहीं किया। सम्भवतः बाण के समय तक भारवि इतना प्रख्यात नहीं हो पाया था। अतः हम इसका काल ५५० ई० के आस-पास रखेंगे।

किरातार्जुनीय—इस ग्रन्थ का विषय महाभारत के वन-पर्व से लिया गया है। काव्य के प्रारम्भिक श्लोकों से ही पता लग जाता है कि कृती कलाकार के समान भारवि ने अपने उपजीव्य अर्थ को कितना परिष्कृत कर दिया है। महाभारत में पाण्डव-बन्धु बनवास की अवस्था में रहते हुए मन्त्रणा करते हैं, किन्तु भारवि इस मन्त्रणा को गुप्तचर से प्रारम्भ करते हैं जिसे युधिष्ठिर ने दुर्योधन के कार्यों का पता लगाने के लिए नियुक्त किया था। जब द्रौपदी को मालूम हुआ कि दुर्योधन सत्कार्यों के द्वारा प्रजा का अनुराग-भाजक बनता जा रहा है, तब उसने तत्काल युद्ध छेड़ देने की प्रेरणा की (सर्ग १)। भीम द्रौपदी के कथन का शक्त शब्दों में समर्थन करता है, किन्तु युधिष्ठिर अपने वचन को तोड़ने के लिए तैयार नहीं है (सर्ग २) युधिष्ठिर व्यास से परामर्श देने की प्रार्थना करता है। व्यास ने परामर्श दिया कि अर्जुन को हिमालय पर जाकर कठिन तपस्या द्वारा दिव्य साहाय्य प्राप्त करना चाहिए। अर्जुन को पर्वत पर ले जाने के लिए इतने में वहाँ एक यक्ष आ जाता है (सर्ग ३)। चौथे से ग्यारहवें तक आठ सर्गों में कवि की नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा प्रस्फुटित होती है। इन सर्गों में शिशिर, हिमालय, स्नान-क्रीड़ा, सन्ध्या, सूर्यास्तगमन, चन्द्रोदय इत्यादि प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण बड़े ही रमणीय रङ्गों में किया गया है। इसके बाद इसमें अर्जुन का स्कन्द के सेनापतित्व में आई हुई शिव की सेना के साथ (सर्ग १५) और अन्त में किरात (प्रच्छन्न शिव) के साथ युद्ध वर्णित है। युद्ध में शिव अर्जुन से प्रसन्न होकर उसे दिव्य शस्त्र प्रदान करते हैं जिनकी अर्जुन को उत्कट अभिलाषा थी।

आलोचना—जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, कवि ने अपनी बुद्धि पर ताला लगाकर महाभारत की कथा का अनुसरण नहीं किया, किन्तु उसमें अपनी ओर से कुछ नवीनताएँ पैदा कर दी हैं। उदाहरण के लिए स्कन्द के सेनापतित्व में शिव की सेना का अर्जुन के साथ युद्ध लीजिए, जिसमें दोनों ओर से दिव्य शस्त्रों[1] का प्रयोग हुआ है। युद्ध के वर्णन को लम्बा कर देने से अप्सराओं की गन्धर्वों के साथ प्रणय-केलि और अर्जुन का व्रत-भङ्ग करने की व्यर्थ कोशिश जैसे कुछ विचारों की कहीं-कहीं पुनरुक्ति हो गई है।

शैली—पुरानी परम्परा के अनुसार भारवि में अर्थ-गौरव[2] का विशेष गुण पाया जाता है। इसकी वर्णन-योग्यता भारी और वचनोपन्यास-शक्ति श्लाघनीय है।

(२) इसकी शैली में शान्ति-पूर्ण गर्व है जो एक दम पाठक के मन में गड़ जाता है। इसका यह प्रभावशाली गुण प्रथम सर्ग में ही देखने को मिल जाता है।

(३) प्रकृति और युवति के सौन्दर्य को सूक्ष्मता से देखने वाली इसकी दृष्टि बड़ी विलक्षण है। शिशिर ऋतु का वर्णन सुनिए—

कतिपयसहकारपुष्परम्यस्तनुतुहिनोऽल्पविनिद्रसिन्दुवारः ।
सुरभिमुखहिमागमान्तशंसी समुपययौ शिशिरः स्मरैकबन्धुः ॥

---

१. इस प्रकार के पौराणिक अंश का समावेश सम्भवतया वाल्मीकि की देखा-देखी होगा।

२. देखिए, उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणाः ॥

३. इसके बाद काम का अद्वितीय मित्र, वसन्त के आगमन का सूचक, हेमन्त का अन्तकारी, आम की अल्प मञ्जरी के कारण रमणीय, स्वल्प कोहरेवाला सिन्दुवार (सिंभालु) के खिले हुए थोड़े से फूलों वाला शिशिर ऋतु का समय आ गया।

(४) भारवि की कुछ पंक्तियाँ इतनी हृदयस्पर्शिणी हैं कि वे लोकोक्तियाँ बन गई हैं। उदाहरणार्थ—

हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः।
न हि प्रियं, प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः ॥

(५) इसकी उत्प्रेक्षाएँ बड़ी सुस्थिर और व्यापक हैं।

(६) संस्कृत के महाकाव्य-साहित्य में यह विशेषता देखी जाती है, कि ज्यों-ज्यों इसकी आयु बढ़ती गई, त्यों-त्यों यह अधिक बनाव-सिंगार से पूर्ण होता गया। भारवि भी शैली-सम्बन्धिनी कृत्रिमता से मुक्त नहीं रह सका। इस कृत्रिमता की संस्कृत के अलङ्कार शास्त्री चाहे जितनी प्रशंसा करें परन्तु यह कविता के आधुनिक प्रमाणों (Standards) के अनुरूप नहीं है। शायद इसका कारण यह है कि इस कृत्रिमता की खातिर खींचतान करनी पड़ती है और इस तरह स्वाभाविक प्रवाह का विघात हो जाता है। पन्द्रहवें सर्ग में भारवि ने शब्दालङ्कारों के निर्माण में कमाल किया है। एक पद्य के चारों चरण एक ही चरण की आवृत्ति से बनाए गए हैं। एक ऐसा पद्य है जिसके तीन अर्थ निकलते हैं। एक पद्य ऐसा है जिसे बाईं ओर से दाहिनी ओर को पढ़ो, चाहे दाहिनी ओर से बांई ओर को पढ़ो, एक जैसा पढ़ा जाएगा। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित पद्य का निर्माण केवल 'न' से किया गया है, 'त्' एक बार केवल अन्त में आया है—

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेनानुन्ननुन्ननुत् ॥

(७) भारवि की शैली में लम्बे-लम्बे समास नहीं हैं। सारे को मिला-जुलाकर देखा जाए तो उसकी शैली में क्लिष्टता का दोष नहीं है।

(८) भारवि निपुण वैयाकरण था। पाणिनि के अप्रसिद्ध नियमों के उदाहरण देने में यह अपने पूर्वगामी कालिदास और पश्चिमगामी

माघ दोनों से बढ़कर है। उदाहरणार्थ इसके भूत-कालवाची नियमित प्रयोगों को लीजिए। इसने लुङ् का प्रयोग निकट भूतकालीन घटनाओं के लिए और लङ् का वक्ता के अपने अनुभव से सम्बन्ध रखनेवाली चिरभूत कालीन घटनाओं के लिए किया है। इस प्रकार परोक्ष भूतकाल कथा-वर्णन करने का भूतकाल रह गया। इसने इस तरह सब मिलाकर लुङ् का प्रयोग केवल दस स्थलों पर किया है। माघ ने इसका प्रयोग दो सौ बहत्तर स्थलों पर किया है।

(९) छन्द का प्रयोग करने में तो यह पूर्ण सिद्ध है। कभी-कभी इसने कठिन और अप्रयुक्त छन्द का भी प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ १२ वें सर्ग में अकेला उद्गाता छन्द है। इस बात को छोड़कर देखें तो यह छन्दों के प्रयोग में बहुत ही विशुद्ध है और इसने छन्दों के विविध प्रकारों का प्रयोग पर्याप्त संख्या में किया है। अकेले पाँचवें सर्ग में सोलह प्रकार के छन्द आए हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जो प्रसिद्ध नाटककार भवभूति का प्रिय छन्द है भारवि ने उस शिखरिणी छन्द का प्रयोग बहुत ही कम किया है।

(४२) भट्टि (लगभग ६०० ई०)

भट्टि भी महाकाव्य रचयिता एक प्रसिद्ध कवि है। इसके काव्य का नाम 'रावणवध' है जिसको साधारणतया भट्टिकाव्य कहते हैं। यह राम की कथा भी कहता है और व्याकरण के नियमों के उदाहरण भी उपस्थित करता है। इस प्रकार इससे 'एक पन्थ दो काज' सिद्ध होते हैं। भारतीय लेखक भट्टिकाव्य को महाकाव्य मानते हैं। इस काव्य में २२ सर्ग हैं जो चार भागों में विभक्त हुए हैं। प्रथम भाग में (सर्ग १–४) फुटकर नियमों के उदाहरण हैं। द्वितीय भाग में (सर्ग ५—९) मुख्य-मुख्य नियमों के उदाहरण हैं और तृतीय भाग में (सर्ग १०—१३) कुछ अलङ्कारों के उदाहरण हैं। तेरहवें सर्ग में ऐसे श्लोक हैं जिन्हें संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं के कह सकते हैं। चतुर्थ

भाग में (सर्ग १४—२२) 'कालों' और 'प्रकारों' (Tenses & moods) के प्रयोगों का निरूपण है।

शैली—भट्टि की शैली प्रांजल और सरल है, परन्तु इसमें ओज और आभा का अभाव है। इसकी रचना में न कालिदास की-सी विशिष्ट उपमाएँ और न भारवि की-सी वचनोपन्यास शक्ति है। इसकी शैली आश्चर्य-जनक रूप से दीर्घ समासों और विचारों की जटिलता से बिल्कुल मुक्त है। इसकी शैली में दूसरों की अपेक्षा जो अधिक प्रसादपूर्णता है उसका कारण इसका छोटे-छोटे छन्दों पर अनुराग है। इसके कुछ श्लोक[1] तो वस्तुतः बहुत ही बढ़िया हैं और कालिदास के पद्यों की श्रेणी में रक्खे जा सकते हैं।

समय—(क) स्वयं भट्टि से हमें इस बात का पता लगता है कि उसने वलभी के राजा श्रीधर सेन के आश्रय में रह कर अपना ग्रन्थ लिखा। किन्तु इस नाम के चार राजा हुए हैं। उनमें से अन्तिम राजा लगभग ६४१ ई० में मरा। अतः भट्टि को हम ६०० ई० के आस-पास रख सकते हैं। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बाह्य साक्ष्य भी कुछ उपयोग का हो सकता है।

(ख) सम्भवतया भामह को भट्टि का पता था, क्योंकि भामह ने लगभग पूर्णतया मिलते-जुलते शब्दों में भट्टिका निम्नलिखित श्लोक अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है।

व्याख्यागम्यमिदं काव्यं उत्सवः सुधियामलम्।
हता दुर्मेधसश्चास्मिन् विद्वत् प्रियतया मया॥

(ग) दण्डि और भामह के अलंकारों से मिला कर देखने पर भट्टि के अलंकार बहुत कुछ मौलिक प्रतीत होते हैं।

---

१. निम्नलिखित पद्य को विक्रमोर्वशीय २,१६ से मिलाइये,
रामोऽपि दाराहरणेन तप्तो, वयं हतैर्बन्धुभिरात्मतुल्यैः।
तप्तेन तप्तस्य यथायसो नः, सन्धिः परेणास्तु विमुञ्च सीताम्॥

(घ) माघ ने भट्टि का अनुकरण किया है—विशेष करके व्याकरण में अपनी योग्यता दिखाने का महाप्रयत्न करने में।

भट्टि कौन था ? हमारे ज्ञान की जहाँ तक पहुँच है उसके अनुसार यह बताना सम्भव नहीं कि कौन से कवि का नाम भट्टि था। कोई-कोई कहते हैं कि वत्सभट्टि और भट्टि दोनों एक ही व्यक्ति के नाम हैं। किन्तु यह कोरी कल्पना मालूम होती है क्योंकि वत्सभट्टि ने व्याकरण की कई अशुद्धियाँ की हैं। किसी-किसी का कहना है कि भट्टि शब्द भर्तृ का प्राकृत रूप है, अतः भर्तृहरि ही भट्टि है; किन्तु यह सिद्धांत भी माननीय नहीं हो सकता। अधिक सम्भावना यही है कि भट्टि कोई इन सब से पृथक् ही व्यक्ति है।

(४३) माघ (६५०-७०० ई०)

महाकाव्यों के इतिहास में माघ का स्थान बड़ा उच्च है। कालिदास, अश्वघोष, भारवि और भट्टि के ग्रन्थों के समान माघ का ग्रंथ 'शिशुपाल-वध' (जिसे 'माघ काव्य' भी कहते हैं) महाकाव्य गिना जाता है। कई बातों में वह अपने पुरस्सर भारवि[1] से भी बढ़ जाता है।

शिशुपालवध में २० सर्ग हैं। इसमें युधिष्ठिर का राजसूययज्ञ समाप्त होने पर कृष्ण के हाथों शिशुपाल के मारे जाने का वर्णन है।

---

१. भारतीय सम्मति देखिये।

तावत् भा भारवेर्भातियावन्माघस्य नोदयः :
उदिते तु परं माघे भारवे र्भा रवेरिव ॥
उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणाः ॥
माघो माघ इवाशेषं क्षमः कम्पयितुं जगत्।
श्लेषामोदभरं चापि सम्भावयितुमीश्वरः ॥

यह जानना चाहिये कि माघ को जो महती प्रशंसा की गयी है वह निराधार नहीं है।

महाभारत में यह कहानी बहुत ही सादी है किंतु माघ ने इसमें अनेक सुन्दर सुधार कर दिये हैं। महाभारत में यज्ञ का वर्णन केवल एक पंक्ति में समाप्त कर दिया गया है। माघ में इसका चित्र उतारा गया है। महाभारतगत पक्ष-विपक्ष की वक्तृताओं को संक्षिप्त कर दिया गया है। युद्ध की प्रारम्भिक कार्यवाहियाँ प्रतिपक्षियों द्वारा नहीं, दूतों द्वारा पूर्ण कराई गई हैं। प्रतिपक्षियों के युद्ध से पूर्व उनकी सेनाओं का युद्ध दिखलाया गया है। महाभारत की कथा कठिनता से ही किसी महाकाव्य का विषय बनने के योग्य थी, किंतु कवि की वर्णन करने की शक्ति ने असली कथा की त्रुटियों को पूर्ण कर दिया है। भारवि ने अपने काव्य में शिव की, और माघ ने अपने काव्य में विष्णु की स्तुति की है।

शैली—(१) माघ भाव-प्रकाशन की सम्पदा से परिपूर्ण और कल्पना की महती शक्ति का स्वामी है।

(२) माघ काम-सूत्र का बड़ा पण्डित था। उसके शृङ्गार रस के श्लोक बहुधा माधुर्य और सौन्दर्य से परिपूर्ण हैं। किंतु कभी-कभी वर्णन इतने विस्तृत हो गए हैं कि वे पाश्चात्यों को मन उकता देने वाले मालूम होते हैं।

(३) माघ अलंकारों का बड़ा शौकीन है। इसके अलंकार बहुधा सुन्दर हैं, और पाठक के मन पर अपना प्रभाव डालते हैं। इसके अनुप्रास सुन्दर और विशद हैं। श्लेष की ओर भी इसकी पर्याप्त-अभिरुचि देखी जाती है। उदाहरण देखिये—

अभिधाय तदा तदप्रियं शिशुपालोऽनुशयं परं गतः।
भवतोऽभिमना समीहते सरुषः कर्तुमुपेत्य माननाम्[1] ॥

---

१. तब अप्रिय वचन कह कर शिशुपाल अत्यन्त कुपित (और पश्चात्तापवान्) हो गया। वह निर्भय (और उत्सुक) होकर आपके सामने आना चाहता है। और आप का हनन (और मान) करना चाहता है।

(४) सम्पूर्ण पर दृष्टि डालने के बाद हम कह सकते हैं कि इसकी शैली प्रयासपूर्ण है और शब्द तथा अर्थ की शोभा में यह भट्टि और कुमारदास की तुलना करता है।

(५) कई बातों में इसकी तुलना भारवि से की जा सकती है :—

(क) विविध छन्दों[१] के प्रयोग की दृष्टि से माघ के चौथे सर्ग की तुलना किरात के चौथे सर्ग से की जा सकती है।

(ख) बाह्य रूप रंग की विलक्षणता की दृष्टि से माघ के उन्नीसवें सर्ग की तुलना किरात के पन्द्रहवें सर्ग से हो सकती है। इस सर्ग में माघ ने सर्वतोभद्र, चक्र और गोमूत्रिका अलंकारों के उदारण देते हुए अपने रचनानैपुण्य का परिचय दिया है।

उदाहरणार्थ, तीसरे श्लोक के प्रमथ चरण में केवल 'ज्' व्यंजन, द्वितीय में 'त्', तृतीय में 'भ्', चतुर्थ में 'र्' है।

(ग) 'माघ' के कुछ पद्यों में भारवि के नैतिक भावों की सरलता और वचन-विन्यास की शक्ति देखने को मिलती है। उदाहरण देखिये—

नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे।
शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते॥

(६) माघ की रचना में प्रसाद, माधुर्य और ओज तीनों हैं, वीरों की उक्तियों में यह बात विशेष करके पाई जाती है। देखिये :—
शिशुपाल युधिष्ठिर से कहता है—

अनृतां गिरं न गदसीति जगति पटहैर्विघुष्यसे।
निन्द्यमथ च हरिमर्चयतस्तव कर्मणैव विकसत्यसत्यता॥

(७) 'माघ' व्याकरण में कृतहस्त है और यह कदाचित् भट्टि से प्रभावित होकर व्याकरण के नियमों के प्रयोग के अनेक उदाहरण उपस्थित करता है।

काल—(१) माघ के पिता का नाम दत्तक सर्वाश्रय और पितामह

---

१. छन्दों के प्रयोग में माघ बड़ा कुशल है। अकेले इसी सर्ग में बाईस प्रकार के छंद हैं।

का सुप्रभदेव था जो वर्मलात (वर्मलाख्य) का मन्त्री। वसंतगढ़ से ६८२ वि० (६२५ ई०) का एक शिला-लेख मिला है जिसमें वर्मलात का नाम आया है। इस लिखित प्रमाण के आधार पर हम माघ का काल सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कहीं रख सकते हैं।

(२) श्लोक २, १२ में 'वृत्ति' और 'न्यास' शब्द आये हैं। मल्लिनाथ के मत से श्लेष द्वारा वृत्ति का अभिप्राय 'काशिका वृत्ति' (जिसका रचयिता जयादित्य, इत्सिंग के अनुसार, ६६१ ई० में मरा) और न्यास का अभिप्राय काशिकावृत्ति की टीका 'न्यास' है जिसका रचयिता जिनेन्द्रबुद्धि है (जिसके सम्बन्ध में इत्सिंग चुप है)। इस साक्ष्य के आधार पर माघ का समय आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कहीं निश्चित किया जा सकता था, किन्तु यह साक्ष्य कुछ अधिक मूल्य नहीं रखता, विशेष करके जब कि हम जानते हैं कि बाण ने भी हर्ष-चरित में 'प्रसन्नवृत्तयो गृहीतवाक्या कृतयुगपदन्यासा लोक इव व्याकरणेऽपि' इस वाक्य में वृत्ति और न्यास पद का प्रयोग किया है। सम्भव है माघ ने इन अधिक पुराने वृत्ति और न्यास ग्रन्थों की ओर संकेत किया हो।

(३) पुरानी परम्परा[1] के अनुसार माघ का नाम महाराज भोज के साथ लिया जाता है। इस आधार पर कुछ विद्वान् माघ को ११वीं शताब्दी में हुआ बतलाते हैं। दूसरे विद्वानों का कहना है कि यह परम्परा सत्य घटनाओं पर आश्रित इतिहास के लेख के समान मूल्यवान् नहीं मानी जा सकती, अतः उक्त विचार ग्राह्य नहीं हो सकता। यह बात ध्यान देने योग्य है कि कर्नल टाड ने अपने 'राजस्थान' में किसी जैन-रचित इतिहास और व्याकरण दोनों के संयुक्त सूची-ग्रन्थ के आधार पर मालवे में क्रमशः ५७५,६६५[2] और १०४२ ई० में शासन करने वाले

१. 'प्रभावक-चरित' ग्रन्थ से मिलाकर देखिये।

२. ६६५ ई० के भोजदेव का समर्थन ७१४ ई० के मानसरोवर वाले शिलालेख से भी होता है।

तीन भोजों का उल्लेख किया है। अतः हम उपर्युक्त परम्परा को भी सत्य मान सकते हैं।

(४) माघ ने अपने बहुत कुछ उपजीव्य भारवि और भट्टि से निस्सन्देह बाद में हुआ। यह भी निश्चित रूप से मालूम है कि माघ को हर्ष-कृत 'नागानन्द' का परिचय था। किसी किसी ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सुबन्धु ने माघ के ग्रन्थ से लाभ उठाया है। परन्तु यह प्रयत्न न तो बुद्धिमत्ता से पूर्ण है और न विश्वासोत्पादक।

(४४) रत्नाकरकृत हरविजय (८५० ई० के लगभग)

यह ५० सर्गों का एक विपुलकाय महाकाव्य है। इसे ८५० ई० के आस-पास रत्नाकर[1] ने लिखा था। इसमें अन्धक के ऊपर प्राप्त की हुई शिव की विजय का वर्णन है। काव्य में आनुपातिक सम्बन्ध का अभाव है। यह सर्वप्रिय भी नहीं है। कवि पर माघ का समधिक प्रभाव सुव्यक्त है। क्षेमेन्द्र कवि के वसन्ततिलका के निर्माण में कृती होने का समर्थन करता है।

(४५) श्रीहर्ष (११५०-१२०० ई०)

महाकाव्य की परम्परा में अन्तिम महाकाव्य नैषधीय चरित या नैषधीय है जिसे कन्नौज के महाराज जयचन्द के आश्रय में रहने वाले श्रीहर्ष ने[2] १२वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लिखा था। इस काव्य में २२ सर्ग हैं और दमयन्ती के साथ नल के विवाह तक की कथा

---

१. इसकी शैली राजानक और वागीश्वर की शैलियों से मिलती है।

२. इसने और भी कई ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें से (खण्डनखण्डखाद्य) अधिक प्रसिद्ध है जिसमें इसने वेदान्त की उपपत्तिमत्ता सिद्ध की है।

३. कहा जाता है कि असली ग्रन्थ में ६० या १२०सर्ग थे और आशा की जाती है कि शेष सर्गों की हस्तलिखित प्रति भी शायद कभी मिल जाए (कृष्णाचार्यकृत संस्कृत साहित्य का इतिहास पृष्ठ ४५), किन्तु यह सन्दिग्ध ही प्रतीत होता है कि कवि ने २२ सर्गों से अधिक लिखा हो।

वर्णित है। उसके अन्तिम सर्ग में सहसा दमयन्ती की प्रणय-कल्पनाएँ दी गई हैं। यद्यपि कवि एक नैयायिक था, तथापि उसने विवाह के विषय का वर्णन करने में काम-शास्त्र को कविता का रूप दे दिया है। कवि में वर्णन करने की अद्भुत योग्यता है। उसने एक साधारण कथा को एक महाकाव्य के वर्णनीय विषय का रूप दे दिया है। भारतीय आलङ्कारिकों ने श्रीहर्ष को महाकवि कहकर सम्मानित किया है और कवि इस सम्मान का अधिकारी भी है। एक जनश्रुति है कि श्रीहर्ष मम्मट का भानजा (अथवा किसी रिश्ते में भाई) था। श्रीहर्ष ने अपनी रचना (नैषध) को अभिमानपूर्ण हृदय के साथ मम्मट को दिखलाया। मम्मट ने खेदानुभव के साथ कहा कि यदि यह ग्रन्थ मुझे अपने (काव्य-प्रकाश के) दोषाध्याय के लिखने से पहले देखने को मिलता तो मुझे दूसरे ग्रन्थों में से दोषों के उदाहरण ढूँढ़ने का इतना प्रयास न करना पड़ता। किन्तु इस जनश्रुति में सत्यता का बहुत थोड़ा अंश प्रतीत होता है।

श्रीहर्ष में श्लिष्ट रचना करने की भारी योग्यता है। यह भाषा के प्रयोग में सिद्धहस्त और सुन्दर-मधुर भाव-प्रकाशन में निपुण है। इसकी अनुप्रास की ओर अभिरुचि बहुत अधिक है। कभी-कभी यह अन्त्यानुप्रास की भी छटा बाँध देता है। इसने सब उन्नीस प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है जिनमें से उपजाति और वंशस्थ अधिक आए हैं।

सूचना—हरविजय को छोड़कर उपर्युक्त सब महाकाव्यों पर सुप्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने टीकाएँ लिखी हैं।

अध्याय ९

काव्य-निर्माता

(४६क) वत्सभट्टि (४७२-४७३ ई०)—यह कोई बड़ा प्रसिद्ध कवि नहीं है। इसने वि० सम्वत् ५२९ में मन्दसोर में स्थित सूर्य-मन्दिर की प्रशस्ति लिखी थी। इसमें गौडी रीति में लिखे हुए कुल ४४ पद्य हैं। इस प्रकार इसमें लम्बे-लम्बे समास हैं, कभी-कभी सारी की सारी पंक्ति में एक ही समास चला गया है। कवि ने पद-पद में यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि यह काव्य के नियमों को भली भाँति जानता है। इसने इस प्रशस्ति में दशपुर नगर का और वसन्त तथा शरद् का वर्णन दिया है। कुल छन्दों की संख्या बारह है और सबसे अधिक प्रयुक्त वसन्ततिलका है। प्रायः एक ही बात तीन पद्यों में जाकर समाप्त हुई है किन्तु काव्य की श्रेष्ठ पद्धति में कोई अन्तर नहीं पड़ा। कभी-कभी इसकी रचना में अर्थ की प्रतिध्वनि पाई जाती है; उदाहरण के लिए, ५वें श्लोक के पहले तीन चरणों में जिनमें राजा के सद्गुणों का वर्णन है, मृदु और मधुर ध्वनि से युक्त शब्द हैं, परन्तु चौथे चरण में, जिसमें उसके भीषण वीर्य का वर्णन है, कठोर-श्रुतियुक्त शब्द हैं [द्विड्दृप्तपक्षक्षपणैकदक्षः]। ११ वें और १२वें पद्य में इसने कालिदास के मेघदूत और ऋतुसंहार का अनुकरण किया है।

(४६ख) सेतुबन्ध—यह काव्य महाराष्ट्री में है। कई विद्वानों की धारणा है कि इसे कवि ने कश्मीर के राजा प्रवरसेन द्वारा वितस्ता (जेहलम) पर बनवाए हुए पुल की स्मृति को स्थायी बनाने के लिए

लिखा था। यह कालिदास की कृति कही जाती है। दण्डी और बाण ने इसकी बड़ी प्रशंसा की है। किन्तु दीर्घ समास तथा कृत्रिमतापूर्ण शैली को देखकर विश्वास नहीं होता कि यह कालिदास की रचना है।

(४७) कुमारदास का जानकीहरण (७ वीं शताब्दी)

(क) जानकीहरणकाव्य का पता इसके शब्द-प्रतिशब्द सिंहाली अनुवाद से लगा था। इसी के आधार पर पहले इसका प्रकाशन भी हुआ, किन्तु अब दक्षिण भारत में इसकी हस्तलिखित प्रति भी मिल गई है।

(ख) कहा जाता है कि इसका लेखक लंका का कोई राजा (५१७-२६) में था और कालिदास की मृत्यु में उसका हाथ था। किन्तु ये बातें माननीय नहीं प्रतीत होतीं।

(ग) असली काव्य के २५ सर्ग हैं। इसकी कथा वही है जो रघुवंश की है। ग्रन्थ को देखने से मालूम होता है कि कवि में वर्णन करने की भारी योग्यता है। इसमें जो वर्णनात्मक चित्र देखने को मिलते हैं उनमें से कुछेक ये हैं—दशरथ, उसकी पत्नियों और अयोध्या का चित्र (सर्ग १), जलक्रीड़ा, वसन्त, सूर्यास्त, रात्रि और प्रभात का (सर्ग ३), सूर्यास्त का और रात्रि का (सर्ग ८), वर्षा ऋतु का (सर्ग ११) और पतझड़ का (सर्ग १२)।

(घ) कालिदास का प्रभाव—क्या विषय के निर्वाचन और क्या शैली के निर्धारण दोनों में ही लेखक पर कालिदास का प्रभाव परिलक्षित होता है। यह मानना पड़ता है कि यह कवि कालिदास का बड़ा भक्त था और इसने विषय के साधारण प्रतिपादन[1] एवं रीति दोनों बातों में उसका यथेष्ट अनुकरण किया। इसका 'स्वामिसम्मदफलं हि मण्डनं' वाक्य कालिदास के 'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता' (कु० सं० ५. १) वाक्य से बिलकुल मिलता है। जानकीहरण के सर्ग ८ में

---

१. रघुवंश, सर्ग १२ को जानकीहरण के तत्तुल्य अंश-अंश से मिलाकर देखिये।

वर्णित विवाहित जीवन के आनन्द का चित्र कुमारसंभव के सर्ग ८ वें में वर्णित ऐसे ही चित्र से मिलाकर देखना चाहिये।

(ङ) शैली—(१) इसने वैदर्भी रीति का अवलम्बन लिया है। अनुप्रास पर इसका विशेष स्नेह है किन्तु यह कृत्रिमता की सीमा को नहीं पहुँचा है।

(२) इस कवि की विशेषता सौन्दर्य में है। प्रो० ए० बी० कीथ[1] का कथन है कि इसकी रचना में सुन्दर-सुन्दर अलङ्कारों की प्रचुरता है जो मधुर वचनोपन्यास के द्वारा अभिव्यक्त किए गए हैं। साथ ही इसकी रचना में ध्वनि (स्वनन) और छन्द का वह चमत्कार है जो संस्कृत को छोड़ कर किसी अन्य भाषा में उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है।

(३) यह सुन्दर चित्र तथा रमणीय परिस्थितियां चित्रित करने की शक्ति रखता है :—

पश्यन् हतो मन्मथबाणपातैः, शक्तो विधातुं न निमीलचक्षुः।
ऊरू विधात्रा हि कृतौ कथं तावित्यास तस्यां सुमतेर्वितर्कः[2] ॥

निम्नलिखित पद्य में किशोर राम का एक सुन्दर चित्र उतारा गया है :—

व स राम इह क यात इत्यनुयुक्तो वनिताभिरग्रतः।
निजहस्तपुटावृताननो, विदधेऽलोकनिलीनमर्भकः[3] ॥

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास (इंग्लिश, १९२८), पृष्ठ १२१।

२. ब्रह्मा ने उन जंघाओं को कैसे बनाया होगा? यदि उसने उनपर निगाह डाली होगी तो उसे काम के बाणों से विद्ध हो जाना चाहिए था और यदि उसने आंख मींच ली होगी तो वह बना नहीं सकता था। इस प्रकार प्रतिभाशाली पुरुष भी उस (स्त्री) के विषय में विचार करता हुआ संशयमग्न था।

३. सामने खड़ी हुई स्त्रियों ने पूछा क्या राम यहाँ नहीं है? वह कहाँ

(४) यह व्याकरण का बड़ा विद्वान् है, और हलचर्म (Furrow) जैसे अप्रसिद्ध पदों का प्रयोग करता है। यह काशिका में से अचकमत और मर्माविध् जैसे अप्रसिद्ध प्रयोग लेता है। यह पश्यतोहर, जम्पती और सौख्यरात्रिक जैसे विरल-प्रयुक्त शब्दों का प्रयोग करता है। निस्सन्देह भाषा पर इसका अधिकार बहुत भारी था।

(५) छन्दों के प्रयोग में यह बड़ा निपुण है। सर्ग २, ६ और १० में श्लोक तथा सर्ग ३, ५, ९ और १२ में वंशस्थ प्रधान है।

(च) काल—(१) इसे काशिकावृत्ति (लगभग ६५० ई०) का पता था, यह तो सन्देह से परे है।

(२) यह माघ से प्राचीन है क्योंकि माघ में इसके एक पद्य की छाया दिखाई देती है।

(३) वामन (८०० ई०) ने वाक्य के प्रारम्भ में 'खलु' शब्द के प्रयोग को दूषित बताया है; पर ऐसा प्रयोग कुमारदास की रचना में पाया जाता है। अतः विश्वास होता है कि वामन को इसका पता था।

(४) राजशेखर (९०० ई०) इसके यश को स्वीकार करता हुआ कहता है:—

> जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते भुवि।
> कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमः॥

अतः कुमारदासको ६५० और ७०० ई० के मध्य में कहीं रख सकते हैं।

(४८) वाक्पति का गउडवह (८ वीं शताब्दी का प्रारम्भ)—गउडवह (गौडवध) प्राकृत-काव्य है जिसे ८ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में वाक्पति ने लिखा था। इसमें कवि के आश्रयदाता कन्नौज के अधीश्वर यशोवर्मा द्वारा गौड़-नरेश के पराजित होने का वर्णन है।

गया है ? बालक (राम) ने अपने हाथों से अपना मुँह छिपाकर झूठ-मूठ की आँखमिचौनी खेली।

इसमें लम्बे-लम्बे समास हैं जिनसे प्रकट होता है कि कृत्रिम शैली के विकास में प्राकृत-कविता किस प्रकार संस्कृत-कविता के साथ-साथ चलती रही। वाक्‌पति भवभूति का ऋणी है।

(४९) **कविराज कृत राघवपाण्डवीयम्** (१२ वीं शताब्दी)—इस कवि को सूरि या पण्डित भी कहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका लेखक कादम्ब-कामदेव (लगभग ११९० ई०) के आश्रय में रहता था। इस काव्य में श्लेष के बल से रामायण और महाभारत की दो भिन्न-भिन्न कथाएँ एक साथ चलती हैं। कवि ने यह एक ऐसा कठिन काम करके दिखाया है जो संस्कृत को छोड़ जगत् की किसी अन्य भाषा में देखने को नहीं मिलता, पाठक के मनोविनोदार्थ एक उदाहरण दिया जाता है—

नृपेण कन्या जनकेन दित्सिताम्, अयोनिजां लम्भयितुं स्वयंवरे।
द्विजप्रकर्षेण स धर्मनन्दनः सहानुजस्तां भुवमप्यनीयत[१]।

कवि जोर देकर कहता है कि वक्रोक्ति के प्रयोग में सुबन्धु और बाण को छोड़कर उसके जोड़ का दूसरा कोई नहीं है।

(५०) **हरदत्त सूरिकृत राघवनैषधीयम्**—इसके रचना-काल का पता नहीं है। इसमें भी श्लेष द्वारा राम और नल की कथा का एक साथ वर्णन है।

(५१) **चिदम्बरकृत यादवीयराघवपाण्डवीयम्**—यह भी लोक-

---

१. द्विजोत्तम (विश्वामित्र) महाराज जनक द्वारा दी जाने वाली अयोनिजा कन्या को प्राप्त करने के लिये छोटे भाई सहित उन धर्मनन्दन (राम) को स्वयंवर भूमि में लाए।

द्विजोत्तम (व्यास) पिता द्वारा दी जानेवाली अयोनिजा कन्या को प्राप्त कराने के लिए छोटे भाइयों सहित उस धर्मपुत्र (युधिष्ठिर) को स्वयंवर भूमि में लाए।

प्रिय नहीं है। इसमें श्लेष द्वारा रामायण; महाभारत और भागवत की कथा का एक साथ वर्णन है।

(५२) **हलायुधकृत कविरहस्य**—साहित्य की दृष्टि से यह महत्त्व-शाली नहीं है। इसकी रचना १० वीं शताब्दी में क्रियाओं की रूपावली के नियम समझाने के लिए की गई थी। प्रसङ्ग से यह राष्ट्रकूटवंशीय नृप कृष्ण (९४०–५६ ई०) की प्रशस्ति का भी काम देता है।

(५३) **मेण्ठ**—(जो भर्तृमेण्ठ और हस्तिपक के नाम से भी प्रख्यात है)। नृप मातृगुप्त ने इसके हयग्रीववध की बड़ी प्रशंसा की है। वाल्मीकि मेण्ठ, भवभूति और राजशेखर इन आध्यात्मिक गुरुओं की श्रेणी में मेण्ठ को दूसरे स्थान पर आरूढ होने का सौभाग्य प्राप्त है। मङ्ख ने इसे सुबन्धु, भारवि और बाण की कक्षा में बैठाया है। सुभाषित भाण्डागारों में इसके नाम से उद्धृत कई सुन्दर पद्य मिलते हैं। यह छठी शताब्दी के अन्तिम भाग में हुआ होगा।

(५४) **मातृगुप्त**—कल्हण के अनुसार यह काश्मीराधिपति प्रवर-सेन का पूर्वगामी था। कोई कोई इसे और कालिदास को एक ही व्यक्ति मानते हैं किन्तु यह बात मानने योग्य नहीं जँचती। इसके काल का पता नहीं। कहा जाता है कि इसने भरत के नाट्यशास्त्र पर टीका लिखी थी। अब इस टीका के उदाहरण मात्र मिलते हैं।

(५५) **भौमक का रावणार्जुनीय** (ई० की ७ वीं शताब्दी के आसपास)—इसमें २७ सर्ग हैं और रावण तथा कार्तवीर्य अर्जुन के कलह की कथा है। कवि का मुख्य उद्देश्य व्याकरण के नियमों का व्याख्यान करना है।

(५६) **शिवस्वामी का कप्फनाभ्युदय** (९ वीं शताब्दी)—यह एक रोचक बौद्धकाव्य है किन्तु लोकप्रिय नहीं है। इसका रचयिता शिवस्वामी बौद्ध था, जिसने इसे काश्मीर-पति अवन्तिवर्मा के आश्रय में रहकर ९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लिखा था। इसकी कथा अव-दानशतक में आई हुई एक कथा पर आश्रित है और इसमें दक्षिण के

किसी राजा के बौद्धधर्म की दीक्षा लेने का वर्णन है। कवि पर भारवि और माघ का प्रभाव पड़ा दिखाई देता है। इसमें हर्षकृत नागानन्द की ओर भी संकेत पाया जाता है।

(५७) कादम्बरीकथासार (९ वीं शताब्दी)—इसका लेखक काश्मीर में ९ वीं शताब्दी में होने वाला कवि अभिनन्द है। यह काव्य के रूप में बाण की कादम्बरी का सार है।

(५८) क्षेमेन्द्र (११ वीं शताब्दी)—इसने १०३७ ई० में भारत-मञ्जरी (महाभारत का सार) और १०६६ ई० में दशावतारचरित की रचना की। इसने बुद्ध को नौवाँ अवतार माना है। इसने रामायण-मंजरी (रामायण का सार) और पद्य-कादम्बरी भी लिखी थी। यह काश्मीर का निवासी था।

(५९) मंख का श्रीकण्ठचरित्र (१२ वीं शताब्दी)—इस काव्य में २५ सर्ग हैं। इसमें श्रीकण्ठ (शिव) द्वारा त्रिपुरासुर की पराजय का वर्णन है। मङ्ख काश्मीर का रहने वाला था; और १२ वीं शताब्दी में हुआ था।

(६०) रामचन्द्रकृत रसिकरंजन (१५४२ ई०)—इसकी रचना अयोध्या में १५४२ ई० में हुई। इस काव्य का सौन्दर्य इस बात में है कि इसके पद्यों को एक ओर से पढ़िये तो शृङ्गारमय काव्य प्रतीत होगा, और दूसरी ओर से पढ़िये तो साधु-जीवन की प्रशंसा मिलेगी। इसकी तुलना मैदीना निवासी लिओन के अपने गुरु मोसस बैसीला के ऊपर लिखे शोक-गीत से हो सकती है जिसे चाहे इटेलियन भाषा का काव्य मानकर पढ़ लो चाहे हिब्रू का।

(६१) कतिपय जैन-ग्रन्थ—कुछ महत्त्वपूर्ण जैनग्रन्थ भी प्राप्त हैं, किन्तु वे अधिक लोकप्रिय नहीं हैं। यहां उनका साधारण उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा।

(क) वादिराजकृत यशोधरचरित। इसकी रचना १० वीं शताब्दी में हुई थी। इसमें सब चार सर्ग और २९६ श्लोक हैं।

(ख) हेमचन्द्र का (११६०–११७२ ई०) त्रिषष्टिशलाका पुरुष-चरित।

इस ग्रन्थ में दस पर्व हैं जिनमें जैनधर्म के त्रेसठ ६३ श्रेष्ठ पुरुषों के जीवन-चरित वर्णित हैं। उनमें से २४ जिन, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ बलदेव और ९ विष्णुद्विट् हैं]। यह ग्रन्थ विस्तृत और चित्त उकता देने वाला होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है।

(ग) हरिचन्द्र का धर्मशर्माभ्युदय। इस ग्रन्थ में २१ सर्ग हैं। इसके निर्माणकाल का पता नहीं है। इसमें तेरहवें तीर्थङ्कर धर्मनाथ का जीवन वर्णित है।

(६२) ईसा की छठी शताब्दी में संस्कृत के पुनरुत्थान का वाद।

(India what can it teach us) 'इण्डिया वट् कैन इट् टीच् अस' नामक अपने ग्रन्थ में प्रो० मैक्समूलर ने बड़ी योग्यता के साथ यह वाद प्रतिपादित किया है कि ईसा की छठी शताब्दी के मध्य में संस्कृत का पुनरुत्थान हुआ। अनेक त्रुटियाँ होने पर भी कई साल तक यह वाद क्षेत्र में डटा रहा।

प्रो० मैक्समूलर की मूल स्थापना यह थी कि शक (सिथियन) तथा अन्य विदेशियों के आक्रमण के कारण ईसवी सन् की पहिली दो शताब्दियों में संस्कृत भाषा सोती रही। परन्तु इस सिद्धान्त में वक्ष्यमाण त्रुटियाँ थीं:—

(१) सिथियनों ने भारत का केवल पाँचवां भाग विजय किया था।

(२) वे लोग अपने जीते हुए देशों में भी स्वयं शीघ्र ही हिन्दू हो गये थे।

उन्होंने केवल हिन्दू नाम ही नहीं अपना लिए थे, प्रत्युत हिन्दू भाषा (संस्कृत) और हिन्दू धर्म भी अपना लिया था। उषभदत्त (ऋषभदत्त) नामक एक सिथियन वीर ने तो संस्कृत और प्राकृत की मिली-जुली भाषा में अपने वीर्य-कर्म भी उत्कीर्ण करवाये थे। कनिष्क स्वयं बौद्धधर्म का बहुत बड़ा अभिभावक था।

(३) यह बात निर्विवाद मानी जाती है कि इन्हीं राजाओं के संरक्षण में मथुरा में भारत की जातीय वास्तुकला और शिल्पकला (Sculpture) ने परम उत्कर्ष प्राप्त किया था।

आधुनिक अनुसन्धानों ने तो मैक्समूलरीय इस सिद्धान्त का अन्त ही कर दिया है। हम देख चुके हैं कि बौद्ध महाकवि अश्वघोष ईसा की प्रथम शताब्दी में ही हुआ और उस समय संस्कृत का इतना बोल-बाला था कि उसे भी अपने धर्मोपदेश के ग्रन्थ संस्कृत में ही लिखने पड़े। गिरनार और नासिक दोनों स्थानों के शिलालेख ईसा की दूसरी शताब्दी के हैं। (जो अब उपलब्ध हुए हैं)। ये मार्जित काव्य-शैली में लिखे हुए हैं। कई दृष्टियों से इनकी शैली की तुलना श्रेण्य संस्कृत के कथा-काव्यों की तथा गद्यकाव्यों की शैली के साथ की जा सकती है। ये लेख निश्चय रूप से सिद्ध करते हैं कि तत्कालीन राजाओं के दर्बारों में संस्कृत काव्यों की रचना खूब होती होगी। सच तो यह है कि ईसा की दूसरी शताब्दी के पीछे आने वाली शताब्दियों में भी संस्कृत काव्य के निर्माण का कार्य निरन्तर जारी रहा। हरिषेण लिखित ३५० ई० वाली समुद्रगुप्त की प्रशस्ति से पता चलता है कि वह कवियों का बड़ा आदर करने वाला और स्वयं कवि था। उसकी प्रशस्ति में कहीं कहीं वैदर्भी शैली है (जैसी कालिदास और दण्डी के ग्रन्थों में है) और कहीं कहीं लम्बे-लम्बे समासों का गद्य है (एक समास तो ऐसा है जिसमें एक सौ बीस से भी अधिक वर्ण हैं)। इसके अतिरिक्त गुप्तकाल के अनेक शिलालेख मिले हैं जो काव्य-शैली में लिखे हैं। शिलालेखों के इन प्रमाणों से पूर्णतया प्रमाणित होता है कि ईसा की छठी शताब्दी तक संस्कृत कभी नहीं सोई। ईसा की पहली और दूसरी शताब्दी में इसके सोने की शङ्का का अवसर तो और भी कम रह जाता है।

प्रो० मैक्समूलर का मुख्य विषय था कि ईसा की छठी शताब्दी का मध्यकाल संस्कृत काव्य के इतिहास में सुवर्ण युग था। मैक्समूलर

की इस धारणा का आधार फर्गुसन (Fergusson) महोदय की वह स्थापना प्रतीत होती है जिसमें उन्होंने कहा कि उज्जैन के विक्रमादित्य नामक किसी राजा ने ५४४ ई० में सिथियनों को परास्त करके उन्हें भारत से निकाल दिया और अपनी विजय की स्मृति में विक्रम सम्वत् प्रवर्त्तित किया और साथ ही पुरातनता के नाम पर प्रतिष्ठा प्राप्त कराने के प्रयोजन से इसे ६०० वर्ष पुराना प्रसिद्ध किया[1]। परन्तु फ्लीट (Fleet) महोदय ने शिलालेखों का गहन अनुसन्धान करके अब यह निर्भ्रान्ततया सिद्ध कर दिया है कि ५७ ई० पू० वाला भारतीय सम्वत् उक्त विक्रमादित्य से कम से कम सौ साल पहले अवश्य प्रचलित था, तथा छठी शताब्दी के मध्य में सिथियनों को पश्चिमी भारत से निकालने की भी कोई सम्भावना प्रतीत नहीं होती; कारण, भारत के इस भाग पर गुप्तवंशीय नृपों का अधिकार था। ईसा की छठी शताब्दी के मध्य में अन्य विदेशी लोग अर्थात् हूण अवश्य पश्चिमी भारत से निकाले गए थे; परन्तु उनका विजेता कोई विक्रमादित्य नहीं, यशोधर्मा विष्णुवर्धन था।

प्रो० मैक्समूलर ने अनुमान किया था कि विक्रमादित्य के दर्बार के कालिदास आदि साहित्यिक रत्नों ने ईसा की छठी शताब्दी के मध्य में संस्कृत को पुनरुज्जीवित किया होगा; परन्तु अब इतिहास में छठी

---

१. विद्वानों को इस स्थापना पर प्रारम्भ से ही सन्देह था। इतिहास में ऐसे किसी अन्य सम्वत् का वर्णन नहीं मिलता जो पुरातनता के नाम पर प्रतिष्ठा प्राप्त कराने के लिए, या किसी अन्य कारण से, प्रवर्त्तन के समय ही पर्याप्त प्राचीन प्रसिद्ध किया गया हो। प्रश्न उठता है, छः सौ साल प्राचीन ही क्यों प्रसिद्ध किया गया ? हजार साल या और अधिक प्राचीन क्यों नहीं ?

शताब्दी के विक्रमादित्य का चिह्न नहीं मिलता है। रही कालिदास की बात ? अन्य प्रमाणों के आधार पर उनका काल छठी शताब्दी से पर्याप्त पूर्व सिद्ध किया जा सकता है। इसके भी प्रमाण हैं कि ईसा पूर्व की पहली शताब्दी में संस्कृत साहित्य में जितनी प्रगति थी उतनी ईसा के पश्चात् की छठी शताब्दी में नहीं।

अध्याय १०

संगीत-काव्य (Lyrics) और सूक्ति-सन्दर्भ

(६३) संगीत-काव्य (खंडकाव्य) का आविर्भाव

संगीत-काव्य[1] का इतिवृत्त प्रायः कालिदास के मेघदूत और ऋतु-संहार से प्रारम्भ किया जाता है; परन्तु इस अवस्था में उस सारे श्रेण्य-संस्कृत के संगीत-काव्य के आधार की उपेक्षा हो जाती है जिसकी धारा ऋग्वेद के काल तक चली गई है।

भारतीय संगीत-काव्य पाँच प्रकार का है और उसे पाँच ही युगों में विभक्त किया जाता है।

(१) ऋग्वेदीय काल का निःश्वसित[2] संगीत-काव्य—यह अंशतः धार्मिक भावनाप्रधान और अंशतः लौकिक कामनाप्रधान है। कभी-कभी वीररस के विषय को धार्मिक तत्त्व से मिश्रित कर दिया गया है। उदाहरण के लिए परम रमणीय उषा-सूक्त, विपाशा और शुतुद्री नदियों की स्तुति से पूर्ण वीररसमय संगीत (खंड) काव्य (Lyrics) या सुदास की विजय का वीररसमय अनुवाक देखा जा

---

१. संगीत (खंड) काव्य का प्रधान लक्षण यह है कि इसमें अर्थ-सम्बन्ध से परस्पर सम्बद्ध अनेक पद्यों की बहुत लम्बी माला नहीं होती है, अपितु इसमें किसी प्रेम-घटना का या किसी रस का वर्णन करने वाला कोई छोटा-सा शब्दचित्र रहता है।

२. अलौकिक शक्ति प्रेरित (Inspired)।

सकता है। इन काव्यों (Lyrics) में ऋषियों (Seers) के निर्व्याज उद्गार भरे हुए हैं जो प्रायः प्रकृति की उपकारिणी शक्तियों के वशीभूत होकर प्रकट किए गए हैं। ये मन्त्र बहुत सोच कर चुने हुए छंदों में रचे गए हैं जिनमें प्रायः अन्त्यानुप्रास भी पाया जाता है और जो गाए भी जा सकते हैं।

(२) भक्तिरसमय संगीत-काव्य—इस भेद के उदाहरण आधिक्य के साथ बौद्ध तथा उपनिषद् ग्रन्थों में पाये जाते हैं जिनमें नवीनधर्म की प्राप्ति होने पर हृदयका विस्मय सहसा संगीत-काव्य के पद्य के रूप में प्रकट हो जाता है।

(३) ऐतिहासिक (Epic) या भावुक (Sentimental) संगीत-काव्य—इस जाति के उदाहरण महाभारत में और उससे भी अधिक रामायण में प्रकृति-वर्णनों में उपलब्ध होते हैं।

(४) रूपक-साहित्य का विविक्त शृंगाररसपूर्ण संगीत-काव्य—इस श्रेणी में वे श्लोक आते हैं जो रूपकों के पात्रों द्वारा प्रेमादि का वर्णन करने के लिए बोले जाते हैं। यह श्रेणी उस सोपान का काम देती है जिस पर पैर रख कर भक्तिरस के संगीत-काव्य से या ऐतिहासिक संगीत-काव्य से उठकर भर्तृहरि और अमरु जैसे ऊर्ध्वकालीन कवियों की श्रेणी में प्रवेश किया जाता है। इन कवियों के हाथों में पहुँच कर संगीत-काव्य साहित्य का एक परतन्त्र अंग न रह कर स्वतंत्र अङ्गी बन गया है।

(५) ऊर्ध्वकालीन कवियों का संकीर्ण शृंगाररसमय या रहस्यमय संगीत-काव्य—इस कोटि में पहुँच कर संगीत-काव्य में शृंगाररस और धार्मिक भावना का ऐसा सम्मिश्रण पाया जाता है जिसमें यह मालूम करना दुस्साध्य है कि लिखते समय लेखक में रति का अतिरेक था अथवा भक्ति का। भक्तिरस वाले या ऐतिहासिक संगीत-काव्य के साथ इसकी तुलना करके देखते हैं, तो इसमें शृङ्गाररस की या प्रकृति के अथवा किसी स्त्री के सौंदर्य के अत्युक्तिपूर्ण वर्णनों की अधिकता पाते

हैं। ये संगीत-काव्य कवियों की महती निरीक्षण सम्पत्ति तथा तीव्र अनुभूति के साक्षी हैं। इनमें से कई प्रतिपाद्य अर्थ की बाह्य कल्पना की दृष्टि से सुषमाशाली दुर्लभ रत्न हैं। मानवीय जीवन तथा प्रेम-तत्त्व को अभिव्यक्त करने के लिए इनमें चातक, चकोर, चक्रवाक इत्यादि नाना नभश्चरों को वक्ता-श्रोता बनाया गया है। इस सारे संगीत-काव्य में पशु-पक्षी, लता-पादप इत्यादि द्वारा बड़ा महत्त्वपूर्ण काम लिया गया है और कविकृत उनका वर्णन बड़ा ही चमत्कारी है। इस अध्याय में हमारे वर्णन का क्षेत्रफल ऊर्ध्वकालीन उन्हीं कवियों तक सीमित रहेगा जिन्होंने संगीत-काव्य को साहित्य-संसार में स्वतन्त्र अङ्ग स्वीकार करके कुछ लिखा है।

संगीत-काव्य के कर्त्ता

(६४) शृङ्गारतिलक—इसका कर्त्ता कालिदास[1] कहा जाता है, परन्तु इसका प्रमाण नहीं मिलता है। इसमें केवल तेईस (२३) पद्य हैं। इसका कोई-कोई पद्य वस्तुतः बड़ा ही हृदयग्राही है। एक नमूना देखिये :—

इयं व्याधायते बाला भ्रूरस्याः कार्मुकायते।
कटाक्षाश्च शरायन्ते मनो मे हरिणायते॥

फिर देखिये, कवि को शिकायत है कि सुन्दरी के अन्य अवयवों का निर्माण मृदुल कमलों से करके उसके हृदय की रचना पाषाण से क्यों की गई :—

इन्दीवरेण नयनं मुखमम्बुजेन कुन्देन दन्तमधरं नवपल्लवेन।
अंगानि चम्पकदलैः स विधाय वेधाः कांते! कथं घटितवानुपलेन चेतः

कालिदास के नाम से प्रसिद्ध एक और संगीत-काव्य है—राक्षस-काव्य, परन्तु यह पूर्वोक्त काव्य से अत्यन्त अपकृष्ट है और निश्चय

---

१. कालिदास के सुप्रसिद्ध संगीत-काव्यों मेघदूत और ऋतुसंहार के लिए खण्ड २० वा २१ देखिए।

ही कालिदास की कृति होने की प्रतिष्ठा प्राप्त करने का अधिकारी नहीं है।

(६५ क) घटकर्पर—इसके रचयिता का नाम भी वही है जो इस काव्य का है—घटकर्पर। इसमें कुल २२ पद्य हैं। घटकर्पर का नाम विक्रमादित्य के नौ रत्नों में लिया जाता है। अन्तिम पद्य में कवि ने साभिमान कहा है कि यदि कोई मुझसे अच्छे यमकालंकार की रचना करके दिखलाए तो मैं उसके लिए घड़े के ठीकरे में पानी भर कर लाने को तैयार हूँ। इस काव्य का विषय मेघदूत से बिल्कुल उलटा है अर्थात् इसमें एक विरहिणी वर्षा ऋतु आने पर मेघ के द्वारा अपने पति को सन्देश भेजती है।

(६५ ख) हाल की सतसई [सप्तशती]—यह महाराष्ट्री प्राकृत का प्रबन्धकाव्य है क्योंकि इसमें परस्पर सम्बद्ध सात सौ पद्य हैं। इसका कर्ता हाल या सातवाहन प्रसिद्ध है। कहा नहीं जा सकता कि सातवाहन या हाल इन पद्यों का रचयिता है या केवल संग्रहकर्त्ता है। यह सतसई ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों से सम्बन्ध रखती है परन्तु इसके लिए कोई विशिष्ट काल निर्णीत नहीं किया जा सकता। हर्षचरित की भूमिका में बाण ने इसकी प्रशंसा की है।

यह सतसई सर्वसाधारण जनता का कोई काव्य नहीं है, कारण, इसकी रचना कृत्रिम तथा मनोयोग के साथ अध्ययन की हुई भाषा में हुई है। वर्णनीय विषयों में विविधविधता विद्यमान है। यही कारण है कि इसमें गोप-गोपिका, व्याध-स्त्रियाँ, मालिन, हस्तशिल्पोपजीवी इत्यादि विभिन्न श्रेणियों के स्त्री-पुरुषों के मनोरञ्जक तथा विस्मयोत्पादक वर्णन हैं, प्रकृति के लोचन-लोभनीय दृश्य अंकित हैं जिनमें कभी-कभी शृंगाररस का संस्पर्श पाया जाता है तो कभी वे उससे बिलकुल विविक्त देखे जाते हैं। कहीं कहीं शिक्षाप्रद पद्य भी सामने आ जाते हैं। उदाहरणार्थ, एक प्रोषित पतिका निशापति से प्रार्थना करती है कि तू ने जिन किरणों से मेरे जीवन-वल्लभ का स्पर्श किया है उन्हीं से मेरा भी स्पर्श कर। एक प्रवत्स्यद्भर्तृ-

का चाहती है कि सदा रात ही बनी रहे, दिन कभी न निकले क्योंकि प्रभात काल में उसका जीवन-नाथ विदेश जाने को तैयार है। कोई तृषातुर 'पथिक' किसी उद्यद्यौवन कन्या को कुएँ पर पानी भरती हुई देखकर उससे पानी पिलाने को कहता है और उसके सुन्दर वदन को देर तक देखते रहने का अवसर प्राप्त करने के लिए अपने चुल्लु में से पानी गिराने लगता है; जो इच्छा पथिक के मन में थी उसी इच्छा से पानी पिलाने वाली भी उसके चुल्लु में पतली धार से पानी डालना प्रारम्भ करती है। वर्षा ऋतु के वर्णन में कुसुमों पर द्विरेफों के गुंजारने का मूसलाधार वर्षा में मोरों और कौओं के हर्ष मनाने का और साभिलाष हरिणों व कपियों के अपनी सहचरियों के तलाश करने का वर्णन बड़ा ही हृदयहारी है। नीति-सम्बन्धी सदुक्ति का उदाहरण लेना हो तो सुनिए—'कृपण को अपना धन उतना ही उपयोगी है जितना पथिक को अपनी छाया। जगत् में बहरे और अन्धे ही धन्य हैं; क्योंकि बहरे कटुशब्द सुनने से और अन्धे कुरूप को देखने से बचे हुए हैं।" कहीं कहीं नाटकीय परिस्थितियाँ भी विचित्र मिलती हैं:—एक कुशल-मति स्त्री बहाना करती है कि मुझे बिच्छू ने काट लिया है; इस बहाने का कारण केवल यह है कि इसके द्वारा उसे उस वैद्य के घर जाने का अवसर मिल जायेगा जिसके साथ उसका प्रेम है।

अनुकरण—प्रकाश में आए हुए अनुकृत ग्रन्थों में से सब से अधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ गोवर्धन की आर्यासप्तशती है। इसकी रचना ईसा की १२ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बंगाल के महीपति लक्ष्मणसेन के दरबार में हुई थी। इसमें सात सौ मुक्तक पद्य हैं जो अकारादि के क्रम से रखे गए हैं। सारे ग्रन्थ में शृंगाररस प्रधान है। इसके अध्यायों को व्रज्या का नाम दिया गया है। ध्वनि सिद्धान्त में विशेष पक्षपात होने के कारण लेखक ने अन्योक्ति (व्यवहित Indirect व्यञ्जना) का बहुत प्रयोग किया है। जैसे शम्भु (११०० ई०) की अन्योक्तिमुक्तलता में या

वीरेश्वर[1] के अन्योक्तिशतक में, वैसे ही इसमें भी प्रायः शृङ्गाररस की व्यञ्जना गूढ़रीति से की गई है। यह संस्कृत में है; परन्तु मूल्य की दृष्टि से हाल की सतसई से घट कर है।

एक और अनुकृत ग्रन्थ में बिहारी की सतसई है। इसमें लगभग सात सौ दोहे हैं जिनमें शृंगाररस प्रधान है। इसमें नायक के सम्बन्ध से विविध परिस्थितियों में विभिन्न मनो-वेगों से उत्पन्न होने वाले नायिका के नाना रूपों के चित्र अङ्कित किये गए हैं।

(६६) भर्तृहरि—संगीत-काव्य के इतिहास में भर्तृहरि का स्थान केवल कालिदास से दूसरे नम्बर पर है। उसके तीन ही शतक प्रसिद्ध हैं—शृंगार शतक, नीतिशतक और वैराग्यशतक। पहले शतक में प्रेम का दूसरे में नीति (Moral policy) का और तीसरे में वैराग्य का वर्णन है। इनमें से प्रत्येक में सौ से कुछ अधिक ही पद्य पाए जाते हैं, परन्तु यह कहना कठिन है कि वे सब भर्तृहरि की ही रचना हैं। इनमें से कुछ शकुन्तला, मुद्राराक्षस और तन्त्राख्यायिका में भी आए हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो सूक्ति सन्दर्भों में किसी अन्य रचयिता के नाम से संगृहीत हैं।[2] चाहे उसके नीति और वैराग्यशतक में किसी अन्य रचयिता के भी श्लोक संगृहीत हों; परन्तु शृंगारशतक उसी के उर्वर मस्तिष्क की उपज्ञा प्रतीत होती है।

यह भर्तृहरि कौन था? इन शतकों के रचयिता के जीवन के बारे में बहुत कम बातें ज्ञात होती हैं। जनश्रुति से भी कुछ अच्छी सहायता नहीं मिलती है। यह भर्तृहरि कौन-सा भर्तृहरि था, इतना तक ठीक ठीक मालूम नहीं। चीनी यात्री इत्सिङ्ग ने वाक्यपदीय के कर्त्ता भर्तृहरि नामक एक वैयाकरण की मृत्यु ६५१ ई० में लिखी है। यह भी लिखा है कि उसने वैखानस जीवन के आनन्द की तथा गृहस्थ-जीवन के प्रमोद की रस्सियों

---

१ इसके काल का पता नहीं है।

२ सूक्ति-सन्दर्भों में प्राय: परस्पर विरोध भी देखा जाता है, अतः हम उनके साक्ष्य पर अधिक विश्वास नहीं कर सकते हैं।

से बने झूले पर कोई झोटे खाए थे। इसी साक्ष्य पर प्रो० मैक्समूलर (Max Muller) ने विचार प्रकट किया है कि कदाचित् यही भर्तृहरि इन तीनों शातकों का कर्त्ता हो। चाहे उक्त प्रोफेसर साहब के अनुमान में कुछ सत्यांश हो तथापि यह निश्चित रूप में ग्रहण नहीं हो सकता, क्यों कि इन शतकों का रचयिता कोई बौद्ध नहीं, प्रत्युत वेदान्तसम्प्रदाय का एक श्रद्धालु शिवोपासक है। बहुत सम्भव है कि इत्सिङ्ग ने इन शतकों के विषय में कुछ न सुना हो या जान-बूझकर इनकी उपेक्षा कर दी हो।

शैली—भर्तृहरि का प्रत्येक श्लोक लावण्यमयी एक तन्वी कविता है और इतनी सामग्री से पूर्ण है कि उससे इंग्लिश का एक चतुर्दश-पदी पद्य (Sonnet) बन सकता है। ऐसा अद्भुत कार्य कर के दिख-लाना कुछ असम्भव नहीं है, क्योंकि संस्कृत भाषा में गागर में सागर भरने की असाधारण योग्यता है और भर्तृहरि निस्सन्देह इस विषय में बड़ा ही निपुण है। उसके नीतिशतक में बड़ी सुन्दर एवं शिक्षाप्रद कविता है। देखिए महापुरुष का लक्षण बताते हुए क्या लिखा है:—

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ,
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्[1]॥

वैराग्यशतक में बिल्कुल ही कुछ और कहा है:—

आक्रान्तं मरणेन जन्म जरसा चात्युत्तमं यौवनं,
सन्तोषो धनलिप्सया शमसुखं प्रौढाङ्गना-विभ्रमैः।
लोकैर्मत्सरिभिर्गुणा वनभुवो व्यालैर्नृपा दुर्जनैः

---

१. विपत्ति में धैर्य, सम्पत्ति में क्षमा, सभा में वाक्चातुर्य, युद्ध में पराक्रम, यश के लिये अभिलाषा और श्रुति के अध्ययनादि का व्यसन-ये बातें महापुरुषों में स्वाभाविक होती हैं।

स्थैर्येण विभूतयोऽप्युपहता ग्रस्तं न किं केन वा ॥[1]

उसके प्रिय छन्द शार्दूलविक्रीडित और शिखरिणी हैं।

समय—यदि इन शतकों का रचयिता भर्तृहरि वाक्यपदीय का कर्त्ता भर्तृहरि ही न माना जाए तो इस भर्तृहरि के समय के विषय में कुछ मालूम नहीं। कुछ किंवदन्तियों के अनुसार वह प्रसिद्ध नृपति विक्रमादित्य का भाई था; परन्तु इतने से उसके काल का संशोधन करने में अधिक सहायता नहीं मिलती। कोई-कोई कहते हैं भट्टिकाव्य का प्रणेता भट्टि ही भर्तृहरि है; परन्तु इस कथन का पोषक भी पर्याप्त प्रमाण प्राप्य नहीं है।

(६७) अमरु (ईसा की ७ वीं श०)—इस कवि के अमरु और अमरुक दोनों नाम मिलते हैं। इसके काव्य अमरु-शतक के चार संस्करण मिलते हैं जिनमें ९० से लेकर ११५ तक श्लोक हैं। इन में से ५१ पद्य सब संस्करणों में एक से पाए जाते हैं; परन्तु क्रम में बड़ा भेद पाया जाता है। सूक्ति-संग्रहों में इसके नाम से संगृहीत श्लोकों का मेल किसी संस्करण से नहीं होता है। अतः निश्चय-के साथ असली ग्रन्थ के पाठ का पता लगाना असम्भव है। इसके टीकाकार अर्जुननाथ (१२१५ ई०) ने जो पाठ माना है संभव है, वही बहुत कुछ प्रमाणित पाठ हो।

टीकाएँ—किंवदन्ती है कि शङ्कराचार्य ने काश्मीर के राजा के मृतशरीर को अपनी आत्मा के प्रवेश द्वारा जीवित करके उसके रनवास

---

१. जीवन को मृत्यु ने, उत्तम यौवन को बुढ़ापे ने, सन्तोष को धन की तृष्णा ने, शान्ति-सुख को पूर्ण युवतियों के हाव-भावों ने गुणों को द्वेषपूर्ण लोगों ने, वनस्थलियों को सर्पों (या हाथियों) ने, राजाओं को दुष्टों ने, अभिभूत कर रखा है; सम्पदाओं को भी क्षणभङ्गुरता ने खराब कर दिया है। किस ने किसको नहीं निगल रक्खा है।

की सौ रानियों के साथ प्रेम-केलि करते हुए जो कुछ अनुभव किया था वही इन श्लोकों में वर्णित है; परन्तु यह किंवदन्ती निरी किंवदन्ती ही है। इसके एक टीकाकार रविचन्द्र ने इन पद्यों की वेदान्तपरक व्याख्या की है। वेमपाल ने (१४ वीं श०) इन में नायिका-वर्णन पाया है। किन्हीं-किन्हीं की दृष्टि में ये विविध अलङ्कारों के उदाहरण हैं। सारे को देखते हुए कहा जा सकता है कि यह शतक प्रेम के विभिन्न वर्ण-चित्रों का एक ऐल्बम है। अमरु का दृष्टिकोण भर्तृहरि के दृष्टि-कोण से बिल्कुल भिन्न है। भर्तृहरि ने तो प्रेम और स्त्री को मनुष्य जीवन के निर्माण में अपेक्षित उपादान तत्त्व मानकर उनके सामान्य रूपों का वर्णन किया है; परन्तु अमरु ने प्रणयियों के अन्योन्य सम्बन्ध का विश्लेषण करना अपना लक्ष्य रक्खा है।

शैली—अमरु वैदर्भी रीति का पक्षपाती है। सो इसने दीर्घ या क्लिष्ट समास अपनी रचना में नहीं आने दिये हैं। इसकी भाषा विशुद्ध और शैली शोभाशालिनी है। इसके श्लोकों में वीर्य और चमत्कार है जो पाठक पर अपना प्रभाव अवश्य डालते हैं। प्रेम के स्वरूप के विषय में इसका क्या मत है? इस प्रश्न का उत्तर है कि आमोद-प्रमोद ही प्रेम है। छोटी सी कलह के पश्चात् मुस्कराते हुए प्रणयियों को देखकर यह बड़ा प्रसन्न होता है। देखिए प्राणों को गुद्गुदा देने वाली एक कथा को कवि ने किस कौशल से संक्षेप में एक ही श्लोक में व्यक्त कर दिया है—

बाले ? नाथ ? विमुञ्च मानिनि ? रुषं; रोषान्मया किं कृतम् ?
खेदोऽस्मासु, न मेऽपराध्यति भवान् सर्वेऽपराधा मयि !
तत् किं रोदिषि गद्गदेन वचसा ? कस्याग्रतो रुद्यते ?
नन्वेतन्मम, का तवास्मि ? दयिता, नास्मीत्यतो रुद्यते[1] !!

---

१. 'प्रिये !', 'स्वामिन् !' 'मानिनि ! मान छोड़ दे।' 'मान करके मैंने आपकी क्या हानि की है' ? 'हमारे हृदय में खेद पैदा कर दिया है'। 'हाँ, आप तो कभी मेरा कोई अपराध करते ही नहीं ? सारे अप-

इस कवि का प्रिय छन्द शार्दूलविक्रीडित है ।

समय—(क) आनन्दवर्धन ने (८५० ई०) अमरुशतक को एक बड़ा ख्याति-प्राप्त ग्रन्थ माना है ।

(ख) वामन (८०० ई०) ने इसमें से तीन श्लोक उद्धृत किए हैं । निश्चय से तो कुछ नहीं कहा जा सकता, परन्तु ईसा की सातवीं शताब्दी अमरु का बहुत-कुछ ठीक समय समझा जा सकता है ।

(६८) मयूर (७ वीं श०) मयूर हर्षवर्धन के दर्बारी कवि बाण का ससुर था, यह प्रसिद्ध है । इसका सूर्यशतक प्रसिद्ध है । इस काव्य की रचना का कारण बतलाने वाली एक प्रमाणापेत प्रसिद्धि है । कहा जाता है कि मयूर ने अपनी ही कन्या के सौंदर्य का बड़ा सूक्ष्म वर्णन किया था इस पर कुपित होकर कन्या ने शाप दे दिया और वह कोढ़ी हो गया । तब उसने सूर्यदेवता की स्तुति में सौ श्लोक बनाए, इससे उसका कोढ़ नष्ट हो गया ।

(६९) मातंगदिवाकर (७ वीं श०)—यह भर्तृहरि और मयूर का समकालीन था । इसने अपने समय में अच्छा नाम पाया था । इसके थोड़े से श्लोक सुरक्षित चले आ रहे हैं ।

(७०) मोहमुद्गर—रूप-रंग और विषय दोनों के विचार से इसकी तुलना भर्तृहरि के वैराग्यशतक से की जा सकती है । इसका कोई कोई श्लोक वस्तुतः बड़ा सुन्दर है । यह शङ्कर की रचना कही जाती है, परन्तु इसका प्रमाण कुछ नहीं है ।

(७१) शिल्हण का शान्तिशतक—इस ग्रन्थ में कुछ बौद्ध मनोवृत्ति पाई जाती है । इसका समय अनिश्चित है । काव्य की दृष्टि से यह भर्तृहरि की रचना से घटिया है और अधिक लोकप्रिय भी नहीं है ।

राध मुझ में ही है'!! 'तब फिर गद्गद् कण्ठ से रोती क्यों हो'? 'किसके सामने रोती हूं ?' 'हूं' यह मेरे सामने रो रही हो या नहीं ?' 'तुम्हारी क्या लगती हूँ' ? 'प्यारी'। 'प्यारी नहीं हूं, इसीलिए तो रोना आ रहा है।'

अनुभूति की गहराई में यह भर्तृहरि के ग्रन्थ से निस्सन्देह बढ़कर है।

(७२) विल्हण को चौरपंचाशिका (११ वीं० श०)—इस ग्रन्थ के नाम 'चौरपंचाशिका' के कई अर्थ लगाए जाते हैं। एक कहते हैं :—'चौर रचित पचास पद्य'। दूसरे कहते हैं—'चौर्यरत पर पचास पद्य'। तीसरी श्रेणी के लोग कहते हैं :—"चौर नामक कवि के बनाए हुए पचास पद्य", इत्यादि। किन्हीं-किन्हीं हस्तलिखित प्रतियों में इसे विल्हण-काव्य' लिखा है, इससे प्रतीत होता है इसका रचयिता विल्हण था, वह विल्हण जो विक्रमांकदेवचरित[1] का ख्यातनामा प्रणेता है। इस ग्रन्थ के काश्मीरी और दक्षिण भारतीय दोनों संस्करण कवि की किंवदन्ती-प्रसिद्ध प्रेयसी राजकुमारी का वर्णन भिन्न-भिन्न देते हैं। सम्भवतया कवि ने किसी राजपुत्री के साथ किसी चोर के अनुराग का वर्णन किया हो।

इसमें सुखमय प्रेम के तथा-कथित अनिर्वचनीय दृश्यों का बड़ा मनोरञ्जक सूक्ष्म और विस्तृत वर्णन है। आदि से अन्त तक शैली सरल, सुन्दर और अवसरानुरूप है। वर्णित भावों में पर्याप्त विविध-विधता पाई जाती है। प्रत्येक पद्य का प्रारम्भ 'अद्याऽपि' (आज भी, अभी तक) से होता है और प्रत्येक पद्य तीव्र अनुभूतियों तथा गहन मनोवेगों से भरा हुआ है। एक उदाहरण लीजिए :—

अद्यापि तां प्रणयिनीं मृगशावकाक्षीं,
पीयूषवर्णकुचकुम्भयुगं वहन्तीम्।
पश्याम्यहं यदि पुनर्दिवसावसाने,
स्वर्गापवर्ग वरराज्यसुखं त्यजामि॥

सारे के सारे ग्रन्थ में वसन्ततिलका छन्द है॥

(७३) जयदेव—जयदेव बङ्गाल के राजा लक्ष्मणसेन के दर्बार के पाँच रत्नों में था। इसके गीतगोविन्द का स्थान संस्कृत साहित्य के

---

१. विक्रमांकचरित पर टिप्पणी के लिए खण्ड ७२ देखना चाहिए।

श्रेष्ठ काव्यों की श्रेणी में है! लोकप्रियता में इससे बढ़ कर किसी और सङ्गीत काव्य का नाम नहीं लिया जा सकता। शताब्दियों तक इसके रचयिता की प्रतिष्ठार्थ इसकी जन्म-वसती में प्रतिवर्ष मनाए जानेवाले उत्सव में रात्रि को गीतगोविन्द के गीत गाए जाते रहे हैं। इसका अपने आपको कविराज कहना बिल्कुल यथार्थ है। सर विलियम जोन्स (Sir William Jones) द्वारा तैयार किए हुए इसके एक विकृत संस्करण को ही देखकर गेटे (Goethe) ने इसकी बड़ाई करते हुए कहा था— "यदि उत्कृष्ट काव्य का यही लक्षण है कि उसका अनुवाद करना असम्भव है तो जयदेव का काव्य वस्तुतः ऐसा ही है"।[१]

बाह्याकृति—गीतगोविन्द की बाह्याकृति के बारे में अनेक मत हैं। भिन्न-भिन्न कला-कोविदों ने इसके भिन्न-भिन्न नाम रक्खे हैं; जैसे— सङ्गीत काव्यात्मक रूपक (Lyric drama) (लासेन Eassen), मधुररूपक (Melodrama) (पिशल Pischel), परिष्कृत यात्रा (Refined Yatra) (वॉन श्रॉडर Von Schrodder), पशुचार-कीय रूपक (Pastoral drama) (जोन्स Jones), गीत और रूपक का मध्यवर्ती काव्य (Between Song and drama) (लैवि Levi)। परन्तु यह ग्रन्थ मुख्यतया काव्य श्रेणी से सम्बन्ध रखता है। यह बात ध्यान रखने की है कि ग्रन्थकर्ता ने स्वयं इसे सर्गों में विभक्त किया है अंकों में नहीं। गीत उत्सवों में मन्दिरों में गाने के उद्देश्य से रचे गए हैं, इसीलिए उनके ऊपर राग और ताल का नाम दिया गया है। सच तो यह है कि साहित्य में यह ग्रन्थ अपने ढंग का आप ही है और कवि की यथार्थ उपज्ञा है। उच्चारणीय पाठ और गीत, कथा, वर्णन और भाषण सबके सब बड़े विचार के साथ परस्पर गूंथे गए हैं।

वर्ण्यविषय—इस सारे ग्रन्थ में १२ सर्ग हैं जो २४ प्रबन्धों

---

१. प्रो० ए. बी. कीथ (Keith) कृत 'ए हिस्टरी आव् संस्कृत लिट-रेचर' (१९२८) पृष्ठ १९५।

(खण्डों) में विभक्त हैं। प्रबन्धों का उपविभाग पदों या गीतों में किया गया है। प्रत्येक पद या गीत में आठ पद्य हैं। गीतों के वक्ता कृष्ण, राधा या राधा की सखी हैं। अत्यन्त नैराश्य और निरवधि वियोग को छोड़कर बचे हुए भारतीय-प्रेम के अभिलाष, ईर्ष्या, प्रत्याशा, नैराश्य, कोप, पुनर्मिलन और फलवत्ता इत्यादि सारे रूपों का बड़ी योग्यता के साथ वर्णन किया गया है। वर्णन इतना बढ़िया है कि ऐसा मालूम होता है मानो कवि काम-शास्त्र को कविता के रूप में परिणत कर रहा है। मानवीय रागांश के चित्रण में प्रकृति को बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, सो हमें इस काव्य में ऋतुराज, ज्योत्स्ना और सुरभि समीर का वर्णन देखने को मिलता है। और तो और पक्षी तक प्रेम देव की सर्वशक्तिमत्ता की महिमा गाते नजर आते हैं।

रूपकातिशयोक्ति या अप्रस्तुत प्रशंसा (Allegory) ।

कुछ विद्वानों ने इस सारे काव्य को अप्रस्तुतप्रशंसा (Allegory) मानकर वाच्य अर्थ में छुपे व्यङ्ग्यार्थ को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। उनके मत से कृष्ण मनुष्यात्मा के प्रतिनिधि हैं, गोपियों की क्रीड़ा अनेक प्रकार का वह प्रपञ्च है जिसमें मनुष्यात्मा अज्ञानावस्था में फंसा रहता है, और राधा ब्रह्मानन्द है। कृष्ण ही कवि का उपास्य देव था, इस बात से इनकार नहीं हो सकता।

शैली—जयदेव वैदर्भी रीति का अनुगामी है। उसने कभी-कभी दीर्घ समासों का भी प्रयोग किया अवश्य है किन्तु उसकी रचना में दुर्बोधता का या क्लिष्टान्वयता का दोष नहीं आया है। सच तो यह है कि ये गीत सर्वसाधारण के सामने विशेष-विशेष उत्सवों में गाने के लिए लिखे गए थे [अतः उनको सुबोध रखना आवश्यक था]। कवि की प्रतिभा ने उसे साहित्य में एक बिल्कुल नई चीज पैदा करने के योग्य बना दिया। इन गीतों में असाधारण अकृत्रिमता और अनुपम माधुर्य है। सौन्दर्य में, सङ्गीतमय वचनोपन्यास में और रचना के सौष्ठव में

इसकी शैली की उपमा नहीं मिलती है। कभी लघुपदों की वेगवती धारा द्वारा और कभी चातुर्य के साथ रचित दीर्घसमासों की लयपूर्ण गति द्वारा अपने पाठक या श्रोता पर यथेच्छ प्रभाव डालने की इसमें अद्भुत योग्यता है। यह नाना छन्दों के प्रयोग में ही कृतहस्त नहीं है किन्तु यह चरण के मध्य और अन्त दोनों तक में एक-सी तुक लाने में भी अद्वितीय है। उदाहरण देखिए :—

हरिरभिसरति वहति मधुपवने,
किमपरमधिक सुखं सखि भवने।

इस तुकान्त रचना को देखकर किसी-किसी ने कह डाला है कि शायद गीतगोविन्द का निर्माण अपभ्रंश के किसी नमूने के आधार पर हुआ होगा; परन्तु यह अनुमान ठीक नहीं है क्योंकि ऐसी रचना का आधार अन्त्यानुप्रास है जो संस्कृत में जयदेव के काल से बहुत पहले से प्रसिद्ध चला आ रहा है। तात्पर्य यह है कि जयदेव की शैली की जितनी प्रशंसा की जाए थोड़ी है। इसने मानवीय रागात्मक भाव के साथ प्रकृति-सौन्दर्य का सम्मिश्रण तो बड़ी योग्यता से किया ही है, भावानुरूप ध्वनि का भी इस रीति से प्रयोग किया है कि इसकी कृति का अनुवाद हो ही नहीं सकता है। इस तथ्य को विशद करने के लिए एक उदाहरण नीचे दिया जाता है। राधा कहती है (सर्ग ८)—

कथितसमयेऽपि हरिरहह न ययौ वनम्,
मम विफलमिदममलरूपमपि यौवनम्।
यामि हे कमिह शरणं सखीजनवचनवञ्चिता,
मम मरणमेव वरमिति वितथ केतना।
किमिति विषहामि विरहानलमचेतना॥ यामि हे...

तीसरे सर्ग में नदी-तट के कुञ्जगृह में बैठे-बैठे माधव कहते हैं—

मामियं चालिता विलोक्य वृतं वधूनिचयेन,

सापराधतया मयापि न वारिताऽतिभयेन।
हरि हरि हतादरतया गता सा कुपितेव॥
किं करिष्यति किं वदिष्यति सा चिरं विरहेण।
किं धनेन जनेन किं मम जीवितेन गृहेण॥ हरि हरि....

इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं और अनेक कवियों ने इसके अनुकरण पर लिखने का प्रयत्न किया है[1]।

(७४) शीलाभट्टारिका—यद्यपि सूक्ति-संग्रहों में और भी अनेक सङ्गीत (खण्ड) काव्य-प्रणेताओं के उल्लेख मिलते हैं तथापि वे लगभग इस योग्य नहीं हैं कि यहां उनका परिचय दिया जाय। हां, शीलाभट्टारिका का नामोल्लेख करना अनुचित न होगा क्योंकि इसके कई पद्य वस्तुतः परम रमणीय हैं। बानगी का एक पद्य देखिएः—

दूति ! त्वं तरुणी, युवा स चपलः, श्यामास्तपोभिर्दिशः,
सन्देशः सरहस्य एष विपिने संकेतकाऽऽवासकः।
भूयो भूय इमे वसन्तमरुतश्चेतो नयन्त्यन्यथा,
गच्छ क्षेमसमागमाय निपुणं रक्षन्तु ते देवताः॥

इसकी भाषा नैसर्गिक और शैली सौष्ठवशालिनी है। इसका प्रिय छन्द शार्दूल-विक्रीड़ित है।

(७५) सूक्ति-सन्दर्भ

सूक्तिसन्दर्भ वे ग्रन्थ हैं जिनमें पृथक्-पृथक् काव्य-कलाकारों की कृतियों में से चुने हुए पद्य संगृहीत हैं। काल-दृष्टि से वे अधिक पुराने नहीं हैं, पर उनमें सामग्री पर्याप्त पुरानी सुरक्षित है। जिन खण्डकाव्यकारों और नीतिकाव्यकारों के केवल नाममात्र सुनने में आते हैं उनके उदाहरण इन सूक्ति-सन्दर्भों में सुरक्षित हैं। परन्तु इन पर

१. जयदेव के सम्बन्ध में मूल्य की केवल एक ही चीज और है और वह है हिन्दी में हरिगोविन्द की प्रशस्ति, यह सिक्खों के 'आदि ग्रन्थ' में सुरक्षित है।

पूर्ण विश्वास नहीं किया जा सकता क्योंकि उनमें परस्पर बहुत भेद देखा जाता है। एक सूक्ति-सन्दर्भ में एक पद्य एक कवि के नाम से दिया हुआ है तो दूसरे में वही पद्य दूसरे कवि के नाम से। इससे प्रकट होता है कि कवियों के इतिहास की कोई यथार्थ परम्परा न होने के कारण पुराने समय में भी संग्रहकारों को पद्यों के रचयिताओं के नाम निर्धारित करने में बड़ी कठिनता पड़ती थी। संस्कृति में अनेक सूक्ति-सन्दर्भ हैं; परन्तु यहां केवल अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का ही परिचय दिया जाता है।

(१) कवीन्द्रवचन समुच्चय—अबतक प्रकाश में आए सूक्ति-ग्रन्थों में यह सबसे पुराना है। इसका सम्पादन डा० एफ० डब्ल्यू टॉमस (Thomas) ने बारहवीं शताब्दी की एक नेपाली हस्तलिखित प्रति से किया था। इसमें पृथक्-पृथक् कवियों के ५२५ श्लोक संगृहीत हैं, परन्तु उनमें से सब के सब १००० ई० से पहले के हैं।

(२) सदुक्तिकर्णामृत (या, सूक्तिकर्णामृत)—इसकी रचना १२०५ ई० में बङ्गाल के राजा लक्ष्मणसेन के एक सेवक श्रीधरदास ने की थी। इसमें ४४६ कवियों की रचनाएँ संगृहीत हैं। इन कवियों में से अधिकतर बङ्गाली ही हैं।

(३) सुभाषित मुक्तावली—इसका सम्पादक जल्हण है जिसका प्रादुर्भाव काल ईसा की १३ वीं शताब्दी है[१]। इससे पद्यों की स्थापना विषय-क्रम से की गई है। 'कवि और काव्य' पर इसका अध्याय बड़ा उपयोगी है। क्योंकि इससे कई कृतिकारों के बारे में अनेक निश्चित बातें मालूम होती हैं।

(४) शार्ङ्गधरपद्धति—इसे १३६३ ई० में शार्ङ्गधर ने लिखा था। १६३ खण्डों के अन्दर इसमें ४६८९ श्लोक हैं। कुछ श्लोक

---

१. 'मद्रास सूची-ग्रन्थ (Catalogue) के २०, ८११ के अनुसार इसे १२७५ ई० में वैद्यभानु पण्डित ने जल्हण के लिए लिखा था।

शार्ङ्गधर के अपने बनाए हुए भी हैं। सूक्तिसन्दर्भों में यह सब से अधिक महत्त्वशाली है।

(५) सुभाषितावली—इसका सम्पादन १५वीं शताब्दी में वल्लभदेव ने किया था। इसमें १०१ खण्डों में ३५० कवियों के ३५२७ पद्य सङ्कलित हैं। एक सुभाषितावली और है। उसका संग्रहकर्ता श्रीवर है जो जोनराज का पुत्र या शिष्य था। ये जोनराज और श्रीवर वही जोनराज और श्रीवर हैं जिन्होंने कल्हण के बाद उसकी राजतरंगिणी के लिखने का काम आरम्भ रक्खा था। यह दूसरी सुभाषितावली १५ वीं शताब्दी की है और इसमें ३५० से भी अधिक कवियों के श्लोक संकलित हैं।

(७६) औपदेशिक (नीतिपरक) काव्य

संस्कृत साहित्य में औपदेशिक काव्य के होने के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। इसके प्राचीनतम चिह्न ऋग्वेद में पाए जाते हैं। उसके पश्चात् ऐतरेय ब्राह्मण में शुनःशेप के उपाख्यान में इसके अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। उपनिषदों में, सूत्रग्रन्थों में, मन्वादि राजधर्म शास्त्रों में और महाभारत में नीति के अनेक वचन मिलते हैं। पंचतन्त्र और हितोपदेश तो ऐसे नीतिवचनों से भरे हुए हैं जो बिल्ली, चूहे, गधे, शेर इत्यादि के मुँह से सुनने पर बड़े विचित्र प्रतीत होते हैं। यह बात हम पहले ही कह आए हैं कि भर्तृहरि का नीतिशतक औपदेशिक (नीतिपरक) काव्य में बड़ा महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ है और यह भी संकेत किया जा चुका है कि सूक्ति-सन्दर्भ ऐसे उदाहरणों से भरे पड़े हैं। नीतिविषयक कुछ अन्य ग्रन्थों का परिचय नीचे दिया जाता है।

(१) चाणक्य नीतिशास्त्र—(जिसे राजनीतिसमुच्चय, चाणक्य राजनीति, वृद्ध चाणक्य इत्यादि कई नामों से पुकारते हैं) इसका रचयिता चन्द्रगुप्त का सचिव चाणक्य (जो अर्थ-शास्त्र के रचयिता के

नाम से प्रसिद्ध है) बतलाया जाता है। परन्तु इसका पर्याप्त प्रमाण नहीं मिलता। इसके कई संस्करण प्रचलित हैं जिनमें पर्याप्त भेद है। उदाहरण के लिए, एक संस्करण में कुल ३५० श्लोक हैं जो १७ अध्यायों में बराबर बराबर बैठे हुए हैं, परन्तु भोजराज-सम्पादित दूसरे में आठ अध्याय और ५७६ श्लोक हैं। इस ग्रन्थ में सब प्रकार के नीति-वचन मिलते हैं। उदाहरणार्थ :—

सकृज्जल्पन्ति राजानः सकृज्जल्पन्ति पण्डिताः।
सकृत् कन्याः प्रदीयंते त्रीण्येतानि सकृत् सकृत् ॥[१]

शैली सरल-सुबोध है और बहु-व्यापी छन्द अनुष्टुप है।

(२—४) नीति-रत्न, नीति-सार और नीति-प्रदीप छोटे-छोटे नीति-विषयक सन्दर्भ हैं। इनके निर्माण-काल का ठीक-ठीक पता नहीं। इनमें कोई-कोई पद्य वस्तुतः स्मरणीय हैं।

(५—७) समय-मातृका, चारु-चर्या और कला-विलास का रचयिता (११वीं शताब्दी का) महाग्रंथकार क्षेमेन्द्र प्रसिद्ध है। दूसरे ग्रन्थों की अपेक्षा इन ग्रन्थों से लेखक की कुशलता अधिक अच्छी तरह प्रकट होती है।

दूसरे लेखकों के और छोटे-छोटे कई ग्रंथ हैं; परन्तु वे यहाँ उल्लेख के अधिकारी नहीं हैं।

---

१. राजा लोग एक ही बार आज्ञा करते हैं, पंडित लोग एक ही बार बात कहते हैं, कन्याओं का दान एक ही बार किया जाता है। ये तीनों चीजें एक ही बार होती हैं।

अध्याय ११

ऐतिहासिक काव्य

नौवें अध्याय में हम काव्य-ग्रन्थों का साधारणरूप से वर्णन कर चुके हैं। इस अध्याय में उन ऐतिहासिक काव्यों का वर्णन किया जायगा जो संस्कृत में उपलभ्यमान हैं। वाङ्मय के इस विभाग में भारत ने कुछ अच्छा काम करके नहीं दिखाया है।[1] संस्कृत में इतिहास का सब से बड़ा लेखक कल्हण है। इसमें विवेचनात्मक विचार करने की शक्ति है और इसने नाना साधनों से आसन्न भूतकाल के इतिहास का ज्ञान प्राप्त किया था, जिसकी घटनाओं के बारे में यह निष्पक्ष सम्मति प्रकट कर सकता है। इतना होने पर भी, आजकल के ऐतिहासिकों की समानता करने की बात तो एक ओर रही, यह हीरोडोटस की भी समानता नहीं कर सकता। संस्कृत के दूसरे इतिहासकारों की तो स्वयं कल्हण के साथ जरा भी तुलना तक नहीं हो सकती।

(७७) भारत में इतिहास का प्रारम्भ

(१) भारत के पुरातन इतिहास के स्रोत के रूप में पुराणों का जो मूल्य है उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है[2]।

(२) पुराणों के बाद पश्चात्कालीन वैदिक ग्रन्थों में पाई जाने वाली गुरुओं और शिष्यों की नामावली का उल्लेख किया जा सकता है।

---

१. इसके कारणों के लिए गत खण्ड ३ देखिये।

२. देखिये खण्ड २, घ भाग।

यद्यपि मौखिक परम्परा ने उसे सुरक्षित रक्खा है, तथापि हम यह नहीं कह सकते कि उनमें प्रक्षेप और अत्युक्ति बिल्कुल नहीं है।

(३) तीसरे नम्बर पर बौद्धग्रन्थ हैं जिनमें बुद्ध के सम्बन्ध में अनेक उपाख्यान हैं परन्तु सब को मिला-जुलाकर देखें तो उनमें ऐतिहासिकता का अभाव दिखाई देता है। ध्यान देने की बात यह है कि महानाम का महावंश तक अशोक के जीवन के सम्बन्ध में ऐतिहासिक विवरण नहीं देता।

(४) इतिहास नाम के योग्य ऐतिहासिक ग्रन्थ जैन-साहित्य में भी नहीं पाए जाते। पट्टावलियों में जैनाचार्यों के सूचीपत्रों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

(५) शिलालेखों की प्रशस्तियाँ[1] भारत में वास्तविक इतिहास की ओर प्रथम प्रयास है।

(६) वाक्पतिराज के गउडवह[2] को इतिहास के पास पहुँचने वाला ग्रन्थ कह सकते हैं। इसमें उसके आश्रयदाता कन्नौज के अधीश्वर यशोवर्मा (४७० ई० के आस पास) के द्वारा गौड देश के किसी राजा के वध का वर्णन है और भारतीय ग्रामीण-जीवन के कुछ विशद चित्र हैं; परन्तु इसमें इतिहासत्व की अपेक्षा काव्यत्व अधिक है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि गौड़ देश के राजा तक का नाम नहीं दिया गया है।

अब हम ऐतिहासिक-काव्य जगत् के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की ओर आते हैं।

---

१. ये प्रशस्तियाँ समकाल-भव राजाओं अथवा दानियों की, काव्य-शैली में लिखी, स्तुतियाँ हैं। इनका प्रारम्भ ईसा की दूसरी शताब्दी से होता है।

२. देखिये पीछे खंड ३९।

(७८) बाण का हर्षचरित ।

बाण का हर्षचरित सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में लिखा गया था। इसमें आठ अध्याय हैं जिन्हें उच्छ्वास कहते हैं। कवि कृत कादम्बरी के समान यह भी अपूर्ण है। कदाचित् मृत्यु ने कवि को बीच में ही उठा लिया हो। इस ग्रन्थ से हमें हर्ष के अपने जीवन तथा उसके कतिपय निकटतम पूर्वजों के सम्बन्ध में थोड़ी-सी बातें मालूम होती हैं। किन्तु इसमें कई महत्वपूर्ण घटनाओं को (जैसे; हर्ष के भाई की तथा हर्ष के बहनोई गृहवर्मा की मृत्यु के बारे में बताने योग्य आवश्यक बातों को) अन्धकार में ही छोड़ दिया गया है। ऐतिहासिक अंश को छोड़कर सारा ग्रन्थ एक कल्पनामय कहानी है और इस का प्रारम्भ कवि के वंश की पौराणिक शैली की उत्पत्ति से होता है। उपोद्घात में प्रसङ्गवश भूतकालीन कुछ प्रसिद्ध कवियों के नामों का उल्लेख किया गया है—जैसे, वासवदत्ताकार, भट्टारहरिचन्द्र, सातवाहन, प्रवरसेन, भास, कालिदास, बृहत्कथाकार; अतः साहित्यिक इतिहास की दृष्टि से यह ग्रन्थ विशेष महत्व रखता है। कथा और आख्यायिका में भेद दिखलाने के लिए आलङ्कारिकों ने इस ग्रन्थ को आदर्श आख्यायिका का नाम दिया है[1]।

'ओजः समासभूयस्त्वम् एतद् गद्यस्य जीवितम्'[2] को मानने वाले

---

१. आलङ्कारिक कृत कथा-आख्यायिका भेद केवल बालकोपयोगी है। उदाहरणार्थ, आख्यायिका के पद्य वक्त्र और अपरवक्त्र छन्दों में होते हैं परन्तु कथा में आर्या आदि छन्दों में। आख्यायिका के अध्यायों को उच्छ्वास और कथा के अध्यायों को लम्भ कहते हैं! "जातिरेका संज्ञाद्वयांकिता, कहकर दण्डी ने इस परम्परा प्राप्त भेद को मिटाने की रुचि दिखलाई है। शायद यह कहना उचित होगा कि आख्यायिका में ऐतिहासिक तथ्य होता है और कथा प्रायः कल्पनाप्रचुर होती है।

२. समास बाहुल्य में ही ओज रहता है। यही गद्य का प्राण है (काव्यादर्श १, ४०)।

भारतीय अलंकार-शास्त्रियों के मत से बाण संस्कृत में गद्य का एक सर्वोत्कृष्ट लेखक है। कहा जाता है कि यह पंचाली वृत्ति का, जिसमें शब्द और अर्थ दोनों का महत्व एक जैसा है, सब से बड़ा भक्त है। कविराज ने इसे [और सुबन्धु] को वक्रोक्ति (श्लेष) की रचना में निरुपम कहा है। ध्वनि (व्यंजनापूर्ण कृति) की दृष्टि से यह सर्वोत्तम माना जाता है। प्रभावशाली वर्णनों का तो यह कृतितम कृतिकार है। इसके वाक्य कभी कभी बड़े लम्बे होते हैं; उदाहरण के लिए आठवें उच्छ्वास में एक वाक्य छापे के पांच पृष्ठों तक और एक और वाक्य तीन पृष्ठों तक चला गया है। जब तक अन्त तक नहीं पहुंच जाता, पाठक को अर्थ का निश्चय नहीं होता। ऐसी शैली आधुनिक पाश्चात्यों को आकर्षक नहीं लग सकती। वैबर ने कहा भी है—"बाण का गद्य एक ऐसा भारतीय जंगल है जिसमें आगे बढ़ने के लिए छोटी-छोटी झाड़ियों को काट डालना आवश्यक है; इस जंगल में अप्रसिद्ध शब्दों के रूप में जंगली जानवर पथिक की घात में बैठे रहते हैं।" कीथ भी कहता है कि शैलीकार की दृष्टि से बाण के दोषों पर अफ़सोस होता है।

इसमें सन्देह नहीं कि बाण का पुराणाध्ययन बहुत बढ़ा चढ़ा था और इसकी कल्पना की उड़ान भी बहुत ऊँची थी। इसे श्लेष का बड़ा शौक था और इसकी रचना में दूरविलम्बी परामर्शों (Allusions) की भरमार[1] है। इसके वर्णन विशद, स्वच्छ चित्रोपम हैं जो पाठक के हृदय में एक दम जा चिपकते हैं। किसी उदाहरण के उल्लेख के तौर पर हम पाठक को प्रभाकरवर्धन की मृत्यु का वर्णन देखने के लिए कहेंगे।

(७९) पद्मगुप्त (या, परिमल) १००५ ई० का नवसाहसांक चरित।

---

१. यह बात इसकी दूसरी रचना अर्थात् कादम्बरी में अधिक देखने में आती है।

बाद में बनने वाले ऐतिहासिक काव्य-ग्रन्थों के समान यह भी काव्य-पद्धति पर लिखा गया है। इस में १८ सर्ग हैं। लेखक धारा नगरी के राजा वाक्पतिराज और सिन्धुराज के आश्रय में रहा करता था और उन्हीं के उत्साह दिलाने पर इसने इस ग्रन्थ का निर्माण किया था। इसमें राजकुमारी शशिप्रभा को प्राप्त करने का वर्णन है, किन्तु साथ ही मालवे के महाराज नवसाहसांक के इतिहास की ओर संकेत करना भी अभीष्ट है।

(८०) बिल्हण[1] (ईसा की ११ वीं शताब्दी)

हम इसे इसके अर्द्धैतिहासिक नाटक कर्णसुन्दरी तथा (पूर्वोक्त चौरपंचाशिका के अतिरिक्त) इसके अधिक प्रसिद्ध ऐतिहासिक काव्य विक्रमांकदेव चरित के नाते जानते हैं। कर्णसुन्दरी नाटक में कवि किसी चालुक्य वंशीय-राजा के किसी विद्याधर-पति की कन्या के साथ विवाह का वर्णन करता है। साथ ही साथ इसके द्वारा कवि को अपने आश्रयदाता नृप का, एक राजकुमारी के साथ हुआ विवाह भी विवक्षित है। इसके कई पद्य वस्तुतः रमणीय हैं और कवि की प्रसादगुणपूर्ण चित्रण-शक्ति का परिचय देते हैं।

विक्रमांकदेव चरित के प्रारम्भ में कवि ने चालुक्य वंश का उद्गम पुराणोक्त कथाओं में दिखाया है, उसके बाद इसने अपने आश्रयदाता नृपति के पिता महाराज आहवमल्ल का (१०४०—६९) वैयक्तिक वर्णन बड़े विस्तार के साथ दिया है। तदनन्तर इसने स्वपालक कल्याणेश्वर चालुक्यराज महाराज विक्रमादित्य षष्ठ (१०७६—११२७) का यशोगान किया है। यह यशोगान अपूर्ण और संक्षिप्त जीवन-परिचय-सा है। जैसे बाण की रचना में, वैसे ही इसकी रचना में भी ऐतिहासिक काल-दृष्टि का सर्वथा अभाव है। कदाचित् जो बातें राजा के पक्ष में ठीक नहीं बैठती थीं, उनके परिहारार्थ तीन बार शिव का पल्ला

---

१ इसकी गीति-रचना चौरपंचाशिका के लिए खण्ड ६४ देखिये।

पकड़ा गया है। अत्युक्तियों का भी अभाव नहीं है; उदाहरणार्थ हम इसकी तथाकथित गौड-विजयों का उल्लेख कर सकते हैं; । स्वयम्वर का वर्णन कालिदास की शैली का है और सुन्दर है; किन्तु यह वास्तविक और ऐतिहासिक प्रतीत नहीं होता। छोटे-छोटे व्यक्तियों का नाम प्रायः छोड़ दिया गया है। सारी कविता का स्वरूप इतिहास-जैसा कम, काव्य-जैसा अधिक है। इसीलिए इसमें वसन्त का, जल-विहार का, वर्षानिलों के आगमन का और शरद् के आमोद-प्रमोदों का विस्तृत वर्णन है। आहवमल्ल और विक्रमादित्य दोनों नायक सौन्दर्य के उच्चतम आदर्श और शेष सब बुरे हैं। इसमें १८ सर्ग हैं। अन्तिम सर्ग में कवि ने स्वजन्म-भूमि काश्मीर के राजाओं का कुछ वर्णन और आत्मपरिचय दिया है जिसमें अपने आपको इसने घुमक्कड़ पंडित लिखा है। यह व्याकरण के अनुभवी विद्वान् ज्येष्ठकलश का पुत्र था। यह स्वयं वेद का विद्वान् और महाभाष्य तथा अलंकार-ग्रन्थों का अध्येता था। यह एक देश से दूसरे देश में घूमता-घामता विक्रमादित्य षष्ठ के दरबार में पहुंचा और वहीं रहने लगा। यहाँ यह विद्यापति की उपाधि से विभूषित किया गया।

बिल्हण की गिनती इतिहास के गम्भीर सेवकों में की जा सकती है। इसके उक्त ग्रंथ का काल १०८८ ई० से पहले माना जाना उचित है, कारण कि—

(१) यह विक्रमादित्य के दक्षिण पर आक्रमण के सम्बन्ध में, जो १०८८ में हुआ बिल्कुल चुप है।

(२) क्योंकि इसमें काश्मीर का हर्षदेव युवराज कहा गया है, महाराज नहीं। वह महाराज १०८८ ई० में बना था।

शैली—बिल्हण की शैली वैदर्भी है और वह प्रसादगुण पूर्ण चित्रण का उत्कृष्ट लेखक है। उदाहरण के लिए देखिये आहवमल्ल के अन्तिम क्षणों का वर्णन :—

जानामि करिकर्णान्तचंचलं हतजीवितम् ।
मम नान्यत्र विश्वासः पार्वतीजीवितेश्वरात् ।।
उत्संगे तुङ्गभद्रायास्तदेप शिवचिंतया ।
वाञ्छाम्यहं निराकर्तुं देहग्रहविडम्बनाम्[1] ।।

यह लम्बे समासों का प्रयोग नहीं करता और न अनुप्रास तथा श्लोक की ही भरमार करता है। इसका वचन-विन्यास साधारणतया यथार्थ है।

कहीं-कहीं इसकी रचना में कृत्रिमता आजाने के कारण अर्थ-मान्द्य हो जाता है; किंतु प्रायः इसकी रचना विशदता और प्रसाद का आदर्श है। इसने इंद्रवज्रा (छः सर्गों में) और वंशस्थ (तीन सर्गों में) वृत्त का प्रयोग सब से अधिक किया है।

(८१) कल्हण की राजतरंगिणी (११४९-५० ई०)

इसमें सन्देह नहीं कि कल्हण[2] संस्कृत साहित्य में सब से बड़ा इतिहासकार है। सौभाग्य से हमें इसकी अपनी लेखनी से इसके जीवन के सम्बन्ध में बहुत सी बातें मालूम हैं। इसका जन्म काश्मीर में ११०० ई० के आस-पास हुआ था। इसका पिता चम्पक काश्मीराधिपति महाराजा हर्ष (१०८९-११०१) का सच्ची भक्ति से भरा हुआ सेवक था। षड्यंत्र द्वारा महाराजा का वध हो जाने पर कल्हण के परिवार को राज-दरबार का आश्रय छोड़ना पड़ा था। यह घटना उस निष्पक्ष तथा सम

---

१. मैं जानता हूँ कि यह अभागा जीवन हाथी के कान के किनारे के तुल्य चंचल हैं। पार्वती के जीवनधन (शिव) को छोड़ कर किसी अन्य में मेरी आस्था नहीं है। इसलिए मैं चाहता हूँ कि शरीरधारण के इस साँग को शिव का ध्यान करते हुए तुङ्गभद्रा नदी को गोदी में समाप्त कर दूँ।

२ मङ्ख ने इसे कल्याण का अधिक सुन्दर नाम देकर इसका नामोल्लेख किया है।

दृष्टि का पता देती है, जिसके द्वारा कल्हण अपने पात्रों का चरित्र चित्रित कर सकता था। यह पक्का शैव-सम्प्रदायी था किंतु शैव-दर्शन की तांत्रिक प्रक्रियाओं की ओर इसकी अभिरुचि नहीं थी। यह सहिष्णु प्रकृति का था और बौद्ध धर्म[1] तथा इसके अहिंसा सिद्धान्त का बड़ा आदर करता था।

कल्हण ऐतिहासिक महाकाव्यों (रामायण, महाभारत) का महा-विद्वान् था। इसने महाकाव्यों और बाण के हर्षचरित जैसे ग्रन्थों का विस्तृत अध्ययन किया था। इसका बिल्हण से घनिष्ठ परिचय था और फलित ज्योतिष[2] के ग्रन्थों का इसे अच्छा ज्ञान था। इसमें सन्देह नहीं कि काश्मीर का विस्तृत इतिहास लिखने का जो काम इसने हाथ में लिया था वह बड़ा कठिन काम था। इसके मार्ग में दुर्लङ्घ्य बाधाएं थीं। इसके समय के पहले ही राजवंश के पुराने तिथि-पत्र या तो नष्ट हो चुके थे, या इनमें अविश्वसनीय बातें और अशुद्ध तिथियाँ उपलब्ध होती थीं। कल्हण में ऐतिहासिक रुचि और बुद्धि थी, और इसने प्राप्त सारे साधनों से पूरा-पूरा लाभ उठाया। किन्तु पुराने इतिहास की इसकी दी हुई तिथियाँ सही नहीं हैं। उदाहरण के लिए, राजतरङ्गिणी में अशोक की तिथि आजकल की प्रख्यात तिथि से एक हजार साल पहले की मिलती है। कल्हण स्वयं कहता है कि मैंने ग्यारह पुराने ग्रन्थों (जो सब अब लुप्त हो चुके हैं) और नीलमत पुराण को देखकर यह ग्रन्थ लिखा है। इसने जनश्रुति-विश्रुत प्राचीनतर नृपों की संख्या बावन बताकर नीलमत के आधार पर पहले चार का नामोल्लेख किया है।

---

१. सच तो यह है कि इससे बहुत पहले ही बौद्धधर्म ने हिन्दू-धर्म के साथ मेल कर लिया था। क्षेमेन्द्र ने बुद्ध को विष्णु का एक अवतार मान कर उसकी स्तुति की थी, और कल्हण के समय से पहले ही लोग 'विवाहित' महन्तों को जानते थे।

२. वराहमिहिर कृत बृहत्संहिता के विषय में किये हुए इसके उल्लेखों को देखिए।

इसके बाद यह पैंतीस के बारे में बिल्कुल मौन साध कर पद्ममिहिर[1] के आधार पर अगले आठ राजाओं के वर्ग का प्रारम्भ लव से करता है। अन्तिम पाँच राजाओं का पता इसे छविल्लाकर से लगा था। तात्कालिक इतिहास के विषय में कल्हण की दी हुई बातें विश्वसनीय और मूल्यवान् हैं। सब प्रकार के उपलभ्य शिलालेखों का, भूदान लेखों का, प्रशस्तियों का और महलों, मन्दिरों और स्मारकों के निर्माण के वर्णन से पूर्ण लेख-पत्रों का निरीक्षण इसने अपने आप किया था। इतना ही नहीं, इसने सिक्कों का अध्ययन और ऐतिहासिक भवनों का पर्यवेक्षण किया। काश्मीर की उपत्यका और अधित्यका का इसे पूरा-पूरा भौगोलिक ज्ञान था। इसी के साथ-साथ, इसने पृथक्-वंशों के अपने ऐतिहासिक सन्दर्भों तथा सब प्रकार की स्थानिक दन्तकथाओं से भी काम लिया। अपने समय की तथा अपने समय से पचास साल पहले की घटनाओं का विस्तृत ज्ञान इसने अपने पिता तथा अन्य लोगों से पूछ-पूछ कर प्राप्त किया था।

कल्हण बड़ा उत्साही और संयत जगद्दर्शी था। इसका पात्रों का चित्रण वास्तविक और पक्षपातशून्य है। इसका दिया हुआ अपने समय के शासक महाराज जयसिंह का वर्णक विरुदाख्यान से सर्वथा मुक्त है। इसके रचित अपने देश-निवासियों के गुणावगुण के शब्द-चित्र विशद, यथार्थ और रोचक हैं। इसका कथन है कि काश्मीरी लोग सुन्दर, झूठे और अस्थिर होते हैं। सैन्य अव्यवस्थ तथा भीरु हैं—अफ़वाह सुनकर भागने को तैयार हैं। राजपुत्रों में साहस और स्वामि-भक्ति है। राज-कर्मचारी लोभी, अत्याचारी और अस्वामि-भक्त हैं, किन्तु रिल्हण और अलंकार जैसे राजमन्त्रियों की यह सच्ची प्रशंसा करता है।

पात्रों का चरित्र अंकित करने में कल्हण अपने पुरस्सर बाण,

---

१. पद्ममिहिर का आधार कोई हेलाराज पाशुपत था, जिसका ग्रन्थ कोई वृहद्ग्रन्थ होगा मगर वह कल्हण से पहले ही लुप्त हो चुका था।

पद्मगुप्त या बिल्हण तक से बहुत बढ़ा-चढ़ा है। विनोदी उक्तियों के अवसर पर यह उनके कहने में नहीं चूकता। "वंशानुचरित सम्बन्धी इसकी सूचनाएं दर्शनीय हैं, और पार्वत्य प्रदेश का वर्णन इसे शायद देखे बिना ही युद्ध-क्षेत्रों का वर्णन करने वाले लैवि जैसे इतिहासकार से अत्यन्त ऊँचा उठा देता है[1]।"

परन्तु कुछ बन्धन कल्हण को हानि पहुँचाए बिना न रहे। काश्मीर की भौगोलिक एकान्त-स्थिति ने इसकी दृष्टि को संकुचित बना दिया था। हमें इसमें बाह्य जगत् के साथ काश्मीर के सम्बन्धका अभिप्रशंसन (Appreciation) नहीं मिलता। इसने जीवन को निस्सन्देह भारतीय दृष्टिकोण से देखा है। यही कारण है कि महत्त्वपूर्ण घटनाओं के चक्र में भाग्य मुख्य विधाता है और किसी असाध्य रोग के समान ही जन्तर-मन्तर भी मृत्यु का एक कारण है। इसमें आधुनिक युग की वैज्ञानिक मनोवृत्ति का भी अभाव है। यह अपने अधिकारियों के अन्योन्य मतभेद के विषय में हमें कुछ नहीं बताता।

इसमें सन्देह नहीं कि भारवि और माघ की-सी सूक्ष्म कवि-कल्पनाएँ इसमें देखने को नहीं मिलतीं। किन्तु अनुमान होता है कि अपने आगे इस महत् कार्य को देख कर ही यह ऐसी बातों के चक्र में नहीं पड़ा। इसीलिए इसकी रचना में प्रासङ्गिक वर्णन[2] थोड़े और मर्यादापूर्ण हैं। किन्तु इस बात को यह मानता था कि कवि की केवल प्रतिभा ही पाठक के सामने अतीत का चित्र खड़ा कर सकती है। साहित्य-शास्त्र की आज्ञा का पालन करने के लिए काव्य में किसी एक रस का प्राधान्य होना आवश्यक है और इसकी रचना में वैराग्य की प्रधानता

---

१. ए बी० कीथ का संस्कृत साहित्य का इतिहास। (इंग्लिश), पृष्ठ १६९।

२. जैसे, ऋतुओं के, सूर्योदय के, चन्द्रोदय के, जल-विहार के विस्तृत वर्णन इत्यादि।

है। इसकी औपदेशिक मनोवृत्ति की ओर भी दृष्टि जाए बिना नहीं रहती। पात्रों के विविध कार्यों के उचितानुचित होने का विचार धर्म-शास्त्रोक्त सिद्धान्तों के आधार पर एक विविक्त नैतिक मनोवृत्ति के अनुसार किया गया है। काश्मीर पर शासन करने की कला के विषय में अपने विचारों को, जो प्रायः कौटिलीय अर्थ-शास्त्र पर अवलम्बित हैं, इसने ललितादित्य के मुंह से कहलवाया है।

शैली -- हम पहले कह चुके हैं कि कल्हण की राजतरंगिणी की रचना काव्य की उच्चतर शैली में नहीं हुई है। इसे छंदोबद्ध गद्य कहना चाहिए, जिसकी तुलना यूरोप के मध्यकालीन इतिहासों से की जा सकती है। भाषा में सादगी और सुन्दरता दोनों हैं। साथ ही इसमें धारा का समप्रवाह भी है जो इस ग्रन्थ की एक मुख्य विशेषता है। कभी कभी कवि हमें अपनी सच्ची कवित्व-शक्ति का भी परिचय देता है। यह शक्ति शब्द-चित्रों में खूब प्रस्फुटित हुई है। उदाहरण के लिए हर्ष के निर्जनवास और विपत्ति की करुण कहानी देखी जा सकती है। सम्भाषण के प्रयोग से इस काव्य में चटपटापन और नाटकीय आस्वाद पैदा हो गया है। दूसरी तरफ 'द्वार' (निरीक्षणार्थ सीमा पर बड़ी चौकी), 'पादाग्र' (मालगुजारी का बड़ा दफ्तर) इत्यादि पारिभाषिक शब्दों के लक्षण दिए बिना ही उनका प्रयोग करने से कहीं-कहीं इसमें दुरूहता आ गई है। लोष्ठक, लोठक और लोठकन और लोठन जैसे एक ही नाम के भिन्न-भिन्न रूपों के प्रयोग ने इस दुरूहता में और भी वृद्धि कर दी है।

हर मौके पर उपमाओं का प्रयोग करने का इसे बड़ा शौक है; इसके लिए पर्वत, नदी, सूर्य, और चन्द्रमा से अधिक काम लिया गया है। इसकी रचना में देखने में आने वाली एक और विशेष बात यह है कि इसमें श्लेष और विरोधाभास अलंकारों की अधिकता है। श्लोक छन्द की अखण्ड सादगी को सौभाग्य से बीच-बीच में आने वाले अलंकृत पद्यों ने खण्ड-खण्ड कर दिया है। जटिलता के स्थलों

में भी इसकी भाषा में एक असामान्य चमत्कार है। देखिए—राजा के चाटुकारों के सम्बन्ध में लिखता हुआ कहता है—

ये केचिन्ननु शाठ्यमौग्ध्यनिधयस्ते भूभृतां रंजका'।[१]

भ्रमरवासिनी देवी के एक रमणीय वर्णन में कहा गया है :—

भास्वद्बिम्बाधरा कृष्ण केशी सितकरानना।
हरिमध्या शिवाकारा सर्वदेवमयीव सा[२] ॥

(८२) छोटे-छोटे ग्रन्थ

(१) कुमारपालचरित या, द्व्याश्रय काव्य। इसे जैनमुनि हेमचन्द्र (१०८८–११७२) ने ११६३ ई० के आस-पास लिखा था। इसमें चालुक्य नृपति कुमारपाल और उसके बिल्कुल पूर्वगामियों का इतिवृत्त वर्णित है। इसमें (२० संस्कृत और ८ प्राकृत में) कुल २८ सर्ग हैं। इसका मुख्य लक्ष्य अपने व्याकरण में दिये संस्कृत और प्राकृत के व्याकरणों के नियमों के उदाहरण देना है। यह जैनधर्म का एक स्पर्धावान् प्रचारक था और इसके वचन पक्षपात से शून्य नहीं हैं। सोलहवें से बीसवें तक के सर्गों में कुमारपाल को जैनधर्म की हितकारिणी नीति पर चलने वाला कहा गया है।

(२) पृथ्वीराजविजय में पृथ्वीराज चाहमान (चौहान) की विजयों का वर्णन दिया गया है। यह कृति ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े काम की है; किन्तु इसकी एक ही खण्डित और त्रुटिपूर्ण हस्तलिखित प्रति मिली

---

१. जो शठता और मूर्खता के निधान हैं, वही राजाओं को खुश रखने वाले हैं।

२. उसका निचला होठ बिम्बाफल जैसा चमकदार (सूर्य-युक्त) था, उसके बाल काले (कृष्ण-युक्त) थे, उसका मुख चन्द्रमा जैसा (चन्द्रमा-युक्त) था, उसकी कमर सिंह की कमर के समान (विष्णु-युक्त) थी, उसका मुख कल्याणकारी (शिव-युक्त) था। इस प्रकार मानो वह देवताओं को लेकर बनाई गई थी।

है। इसके रचयिता के नाम का पता नहीं। शैली बिल्हण की-सी है। इसका उल्लेख जयरथ ने अपनी अलंकार विमर्शिनी में (१२००) किया है। और इस पर काश्मीर के जोनराज की (१४४८) टीका है। सम्भव है इसका लेखक काश्मीरी ही हो।

(३) सन्ध्याकर नन्दी के रामपालचरित्र में बंगाल के रामपाल के (१०८४-११३०) कौशलों का वर्णन है।

(४) (काश्मीरी) कल्हण का सोमपाल विलास सुस्सल द्वारा पराजित किये हुए नृप सोमपाल विलास की कथा सुनाता है। मङ्ख ने इस कवि को काश्मीर के नृप अलंकार की सभा का सदस्य लिखा है।

(५) शम्भुकृत राजेन्द्रकर्णपूर काश्मीर भूपाल हर्षदेव की प्रशस्ति है।

(६-९) सोमेश्वरदत्त द्वारा (११७९-१२६२) रचित कीर्तिकौमुदी और सुरथोत्सव, अरिसिंह द्वारा (१३ वीं शताब्दी) रचित सुकृत-संकीर्तन और सर्वानन्द द्वारा (१३ वीं शताब्दी) रचित जगदुचरित न्यूनाधिक प्रशस्तियाँ ही हैं जो यहाँ विस्तृत परिचय देने के योग्य नहीं हैं।

(१०) अन्त में यहाँ काश्मीर के उन लोगों के नामों का उल्लेख करना उचित प्रतित होता है जिन्होंने राजतरंगिणी को पूरा करने का काम जारी रक्खा। जोनराज ने (मृत्यु १४५९), उसके शिष्य श्रीवर ने और शिवर के शिष्य शुक ने राजतरंगिणी की कथा को काश्मीर को अकबर द्वारा अपने राज्य में मिलाए जाने तक आगे बढ़ाया, किन्तु इनकी रचना में मौलिकता और काव्य-गुण दोनों का अभाव है।

अध्याय ११

गद्य-काव्य (कहानी) और चम्पू

(८३) गद्य-काव्य का आविर्भाव

महाकाव्य के आविर्भाव के समान गद्य-काव्य का भी आविर्भाव रहस्य से आवृत्त है। हमें दण्डी, सुबन्धु और बाण जैसे यशस्वी लेखकों के ही ग्रन्थ मिलते हैं। इनसे पहले के नमूनों के बारे में हमें कुछ पता नहीं है। बाण ने अपने हर्षचरित की भूमिका में कीर्तिमान् गद्य-लेखक के रूप में भट्टार हरिचन्द्र का नाम अवश्य लिखा है, पर प्रसिद्ध लेखक के विषय में इससे अधिक और कुछ मालूम नहीं है। सम्भव होने पर भी इसका निश्चय नहीं कि यह लेखक दण्डी से प्राचीन है।

गद्य-काव्य और सर्वसाधारण की कहानी में भेद है। पहले की आत्मा श्रम-निष्पादित वर्णन और दूसरे की आत्मा वेगवान् और सुगम कथा-कथन है। इस प्रकार यह फलित होता है कि गद्य-काव्य की रचना रमणीय काव्य-शैली के आधार पर होती है। अतः शैली की दृष्टि से इसके प्रादुर्भाव का काल जानने के लिए हमें साधारण कथा-कथन को छोड़ कर रुद्रदामा के शिलालेख और हरिषेणकृत समुद्रगुप्त की प्रशस्ति की ओर पीछे मुड़ना होगा। गद्य-काव्य के विकास पर पड़ा हुआ वास्तविक काव्य का यह प्रभाव कई शताब्दियों तक रहा होगा।

पीटरसन ने अपना मत प्रकट करते हुए कहा था कि भारतीय गद्य-काव्य यूनानी गद्य-काव्य का ऋणी है। दोनों में अनेक समानताएँ हैं;

उदाहरण के लिए स्त्रैण-सौन्दर्य का और पशु एवं लता-पादपों में दाम्पत्य-प्रेम का वर्णन इत्यादि बातें बताई जा सकती हैं। इसमें युक्ति यह दी जाती है कि जैसे यूनानी फलित ज्योतिष का प्रभाव भारतीय फलित ज्योतिष पर बहुत पड़ा है, वैसे ही गद्य-काव्य (कथा आख्यायिका) के क्षेत्र में भी यूनान ने भारत पर अपना प्रभाव डाला होगा। एम० लैकोटे ने यूनानी गद्य-काव्य और गुणाढ्यकृत बृहत्कथा में कुछ समानताएँ दिखाई हैं, निदर्शनार्थ, दोनों में वायव्य प्राणियों की जाति का वर्णन, नायक और नायिका के कष्ट तथा अन्त में उनकी विजय, उनका वियोग और पुनर्मिलन, और उनके वीरोचित पराक्रमों का वर्णन तथा ऐसी ही और भी कई बातें पाई जाती हैं[1]। इससे उसने यह परिणाम निकाला कि बृहत्कथा यूनानी गद्य-काव्य की ऋणी है। बाद में उसने अपनी सम्मति बदल दी और कहा कि यूनानी गद्य-काव्य भारतीय साहित्य का ऋणी है। किन्तु ये सब परिणाम अपर्याप्त आधार पर आश्रित हैं। भारतीय और यूनानी आख्यायिकाओं में साम्य की अपेक्षा वैषम्य अधिक विचार करने योग्य

---

१. यूनानी कहानी और सुबन्धुकृत वासवदत्ता की कथा में घटना-साम्य की कुछ और बातें ये हैं—

स्वप्न द्वारा परस्पर प्रेम का प्रादुर्भाव, स्वयंवर, पत्र-व्यवहार, मूर्च्छा, विशाल अनुशोचन, आत्मघात की इच्छा।

निम्नलिखित साहित्यिक रचना-भागों का साम्य भी दर्शनीय है :—

कथा में कथा तथा उपकथा, प्रकृति-वर्णन, विस्तृत-व्यक्ति-वर्णन, कथादि के विद्वत्तापूर्ण संकेत, प्राचीन दृष्टान्तों का सुनाना, अनुप्रास इत्यादि (देखिये, ग्रे सम्पादित वासवदत्ता, पृष्ठ ३५–६। अन्त में ग्रे महाशय परिणाम निकालते हुए कहते हैं—"तो भी ये तथा अन्य और साम्य जो दिखलाए जा सकते हैं मुझे कुछ भी सिद्ध करते प्रतीत नहीं होते।")

है। "एकद्रुतपाठ से यह बात जानी जा सकती है कि दोनों जातियों का आख्यायिका साहित्य बाह्यरूप और अन्तरात्मा दोनों की दृष्टि से एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है[1]।" संस्कृत के गद्य-काव्य (आख्यायिका-साहित्य) में श्रम-निष्पादित वर्णन पर बल दिया जाता है तो यूनानी गद्य-काव्य में सारा ध्यान कहानी की ओर लगा दिया जाता है। इस प्रकरण को समाप्त करते हुए हम कह सकते हैं कि भारतीय और यूनानी गद्य-काव्यों का जन्म परस्पर बिल्कुल निरपेक्षरूप से होकर दोनों का पालन-पोषण भी अपनी अपनी सभ्यता तथा साहित्यिक रूढ़ियों के बीच में हुआ।

(८४) दण्डी

इसके ग्रन्थ—परम्परा के अनुसार दण्डी तीन ग्रन्थों का रचयिता माना जाता है[2]।

दशकुमारचरित (गद्य में कहानी) और काव्यादर्श (अलङ्कार का ग्रन्थ) निस्सन्देह इसी के हैं। उपरोक्त ग्रन्थ में इसने जिन नियमों का प्रतिपादन किया है पूर्वोक्त ग्रन्थ में उन्हीं का स्वयं उल्लङ्घन भी कर डाला है। शायद यह इसलिए हुआ है कि 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे, जे आचारहिं ते नर न घनेरे'। इसके तीसरे ग्रन्थ के बारे में लोगों ने अनेक कच्ची कच्ची धारणाएँ की हैं। मृच्छकटिक और काव्यादर्श दोनों में समानरूप से आए एक पद्य के आधार पर पिस्चल ने कह डाला कि दण्डी का तीसरा ग्रन्थ मृच्छकटिक होगा, किन्तु भास के ग्रन्थों की उपलब्धि होने पर मालूम हुआ कि वही पद्य चारुदत्त में भी आया है, अतः दण्डी ने वह पद्य चारुदत्त से ही लिया होगा। यह भी कहा जाता

---

१. देखिये ग्रे (Cray) सम्पादित वासवदत्ता, पृष्ठ ३७।

२. देखिये राजशेखर का निम्नलिखित पद्य—

त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयोगुणाः।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः॥

कहा जाता है कि शायद इसका तीसरा ग्रन्थ छन्दोविचित हो, जिसका उल्लेख इसने अपने काव्यादर्श में किया है; किन्तु इसका कुछ निश्चय नहीं कि यह शब्द किसी विशिष्ट ग्रन्थ का परामर्श करता है या अलङ्कार के सामान्य शास्त्र का। इसी प्रकार काव्यादर्श में कलापरिच्छेद का भी उल्लेख आता है। यदि यह ग्रन्थ दण्डी का ही होता तो एक पृथक ग्रन्थ न होकर यह काव्यादर्श का ही एक पिछला अध्याय होता। यह तो निश्चय है कि दण्डी अवन्तिसुन्दरीकथा का, जिसकी यत्नायात शैली सुबन्धु और बाण के ग्रन्थों की शैली की स्पर्धा करती है, रचयिता नहीं है।

वैयक्तिक जीवन—दण्डी के वैयक्तिक जीवन के बारे में खास करके कुछ मालूम नहीं है। दशकुमारचरित के प्रारम्भिक पद्यों से किसी किसी ने यह धारणा की है कि शायद यह वैष्णव[1] था; किन्तु इस धारणा में इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया गया कि पूर्वपीठिका (दशकुमार की भूमिका), जिसमें यह पद्य आता है; विद्वानों की सम्मति में दण्डी की रचना नहीं है। हाँ, इतना सम्भव प्रतीत होता है कि यह दाक्षिणात्य और विदर्भ देश का निवासी था। यह वैदर्भी रीति की प्रशंसा करता है; महाराष्ट्री भाषा को उत्तम बतलाता है; कलिङ्ग, आन्ध्र, चोल देशों और दक्षिण भारत की नदियों का नाम लेता है, और मध्यभारत के रीति-रिवाजों से खूब परिचित है। उदाहरण के लिए दशकुमार चरित में विश्रुत की कथा में विन्ध्यवासिनी देवी का वर्णन देखा जा सकता है।

काल—दण्डी का काल भी बड़ा विवादास्पद विषय चला आ रहा है। दशकुमार चरित की अन्तिम कथा में, जिसे विश्रुत ने सुनाया है, भोज वंश का नाम आया है। इस आभ्यन्तरिक साक्ष्य पर विश्वास करके

---

१ देखिये, एम० आर० काले द्वारा सम्पादित दशकुमारचरित, पृष्ठ ४४ (इंग्लिश भूमिका)।

प्रो० विल्सन ने परिणाम निकाला है कि दण्डी महाराज भोज के किसी आसन्नतम उत्तराधिकारी के शासनकाल में जीवित रहा होगा। इसका तात्पर्य यह है कि दण्डी ईसा की ११ वीं शताब्दी में हुआ, परन्तु कुछ अन्य विचार इससे बहुत ही पहले का सिद्ध करते हैं।

डा० पीटरसन ने जिन आधारों पर इसे ईसा की ८ वीं शताब्दी में रक्खा है, वे ये हैं:—(१) काव्यादर्श २, २५८-९ में आलङ्कारिक वामन (८ वीं श०) की ओर संकेत प्रतीत होता है, और (२) काव्यादर्श २, १९७ वाला पद्य[1] कादम्बरी के उसी वर्णन से बहुत समानता रखता है। स्वर्गवासी विष्णुकृष्णचिपलूणकर ने दशकुमारचरित के मन्त्रगुप्त की तथा भवभूति के मालतीमाधव नाटक के पञ्चम अङ्क की कथा में अनेक समानताएँ दिखलाकर यह परिणाम निकाला था कि दण्डी सम्भवतया भवभूति का समकालीन था। बाण ने अपने हर्षचरित की भूमिका में दण्डी का नाम नहीं लिया, परन्तु इससे भी कुछ परिणाम नहीं निकाला जा सकता, क्योंकि उसने तो भारवि जैसे महाकवियों तक का भी नामोल्लेख नहीं किया है।

शैली का साक्ष्य बतलाता है कि दशकुमारचरित सुबन्धु और बाण के गद्य-काव्यों की अपेक्षा पञ्चतन्त्र या कथासरित्सागर से अधिक मिलता जुलता है। यद्यपि अपने काव्यादर्श में दण्डी कहता है कि "ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्" (समासबाहुल्य से परिपूर्ण ओज गुण ही गद्य का प्राण है), तथापि इसका अपना दशकुमारचरित वासवदत्ता या कादम्बरी के सामने बिल्कुल सरल है।

---

१ दण्डी—अरत्नालोक संहार्यमवार्यं सूर्यरश्मिभिः।
दृष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः॥
बाण—केवलं च निसर्गत एवाभानुभेद्यमरत्नालोकोच्छेद्यम-
प्रदीपप्रभापनेयमतिगहनं तमो यौवनप्रभवम्।

बाण और सुबन्धु से मिलाकर देखें तो दण्डी न तो उतना कठिन है और न उतना कृत्रिमता से पूर्ण। भारतीय प्रायोवाद (Tradition) के अनुसार दण्डी पदलालित्य[१] के लिए प्रसिद्ध है। इस पदलालित्य का अभिप्राय है शब्दों के सुन्दर चुनाव पर आश्रित विच्छित्ति-शालिनी और परिष्कृत शैली जिसमें आकर्षण और प्रभाव दोनों हैं। इसके अतिरिक्त दण्डी कथा-सूत्र को नहीं भूलता और न सुबन्धु तथा बाण के समान अयास-भव वर्णनों में अटकता है। ये बातें इसका काल ६०० ई० के आस-पास सूचित करती हैं, इसी काल का समर्थन दश-कुमार चरित में पाई जाने वाली भौगोलिक[२] परिस्थितियों से भी है।

आभ्यन्तरिक साक्ष्य के आधार पर सिद्ध होता है कि दण्डी महा-राज भोज के अनन्तरभावी नृप के शासन काल में विद्यमान था; इस विचार के साथ इसके छठी शताब्दी में होने की बात बिलकुल ठीक बैठ जाती है। कर्नल टाड ने किसी जैन इतिहास-व्याकरणोभयान्वित सूचीपत्र के आधार पर भोज नाम के तीन राजाओं का उल्लेख किया है, जो मालवे में क्रमशः ५७५, ६६५, और १०४२ ई० में शासन करते थे। अतः बहुत कुछ निश्चय के साथ इसी परिणाम पर पहुँच सकते हैं कि दण्डी ईसा की छठी शताब्दी के अन्त के आस-पास जीवित था[3]।

---

१ उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थ—गौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥

२ देखिए 'रघुवंश और दशकुमारचरित की भौगोलिक बातें', (इङ्गलिश) कौलिन्स (१९०७), पृष्ठ ४६।

३ दक्खन में विज्जिका नाम के एक कवि ने दण्डी का नाम लेते हुए कहा है—"वृथैव दण्डिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती" यदि यह विज्जिका पुलकेशी द्वितीय के ज्येष्ठ पुत्र चन्द्रादित्य की रानी विजय-भट्टारिका ही है तो वह ६६० ई० के आस-पास जीवित थी। इससे दण्डी का ६०० ई० के समीप विद्यमान होना सिद्ध हो जाएगा।

(८५) दशकुमार चरित

ग्रन्थ के नाम से सूचित होता है कि इसमें दस राजकुमारों की कहानी है। मुख्य ग्रन्थ का प्रारम्भ सहसा कथा के नायक राजकुमार राजवाहन की कथा से होता है। इस ग्रन्थ में आठ अध्याय हैं जिन्हें उच्छ्वास कहते हैं।

पूर्वपीठिका नाम से प्रसिद्ध भूमिका-भाग में पाँच उच्छ्वास हैं। इसमें सारी कथा का ढाँचा और दोनों राजकुमारों की कहानी आ गई है। इस प्रकार कुमारों की संख्या दस हो जाती है। उत्तरपीठिका नाम

भामह और दण्डी का अन्योन्य सम्बन्ध ध्यान में रखकर दण्डी का काल-निर्णय करने में बड़ा जबरदस्त विवाद चलता रहा है; किन्तु कुछ कारणों से भामह की अपेक्षा दण्डी प्राचीन प्रतीत होता है—(१) रुद्रट के कव्यालङ्कार में आता है—'ननु दण्डीपमेधाविरुद्रभामहादिकृतानि सन्त्येवालङ्कारशास्त्राणि'। ऐसी ही बात नमिसाधु भी कहता है। ऐसा अनुमान होता है कि ये नाम काल-क्रमानुसार रक्खे गए हैं, जैसा कि हम मेधाविरुद्र के बारे में भामह के ग्रन्थ में भी उल्लेख पाते हैं। (२) दण्डी की निरूपणशैली अमसृण और अवैज्ञानिक है। इसकी अपेक्षा भामह अधिक मसृण तथा वैज्ञानिक होने के साथ साथ वस्तु के अवधारण, तर्क की तीक्ष्णता और विचार की विशदता में भी इससे बढ़कर है। (३) कभी कभी भामह 'अपरे, अन्ये' इत्यादि कहकर जिन मतों को उद्धृत करता है वे दण्डी में पाए जाते हैं।

यह भी प्रायः निश्चित ही है कि दण्डी का काव्यादर्श भट्टिकाव्य के बाद का है। भट्टि में प्रायः उन्हीं अलङ्कारों के उदाहरण हैं जिनके लक्षण दण्डी ने दिए हैं, किन्तु भट्टि का क्रम तथा भेदोपभेदादि कथन पर्याप्त भिन्न है। यदि उसने दण्डी का अनुसरण किया होता, तो ऐसा क्यों होता; परन्तु इतने से भी हम दण्डी के ठीक-ठीक समय को नहीं जान सकते, क्योंकि भट्टि और भामह के काल भी अनिश्चित हैं।

से प्रसिद्ध परिशिष्ट भाग में अन्तिम राजकुमार विश्रुत की कहानी पूरी की गई है। शैली के विचार को एक ओर रखकर देखें तो कथा की रूप-रेखा और अन्तरात्मा दोनों की दृष्टि से भी पूर्वपीठिका तथा उत्तर-पीठिका दोनों ही दण्डी के मुख्य ग्रन्थ से अलग प्रतीत होती हैं। कहीं कहीं तो विवरणों में भी परस्पर विरोध है। उदाहरण के लिए, पूर्व-पीठिका में अर्थपाल तारावली का और प्रमति एक और मन्त्री सुमति का पुत्र कहा गया है, परन्तु मुख्य ग्रन्थ में अर्थपाल और प्रमति दोनों कामपाल के पुत्र कहे गये हैं जिनकी माता क्रमशः क्रान्तिमती और तारावली हैं। पूर्वपीठिका और उत्तरपीठिका दोनों ही पृथक् पृथक् संस्करणों में इतने पाठान्तरों के साथ उपलब्ध होती हैं कि उन्हें देख कर यही मानना पड़ता है कि सचमुच ये दण्डी के ग्रन्थ के भाग नहीं हैं। शैली की दृष्टि से पूर्वपीठिका का पंचम उच्छ्वास शेष उच्छ्वासों से उत्कृष्ट है, इससे प्रतीत होता है कि पूर्वपीठिका में भी दो लेखकों का हाथ है।

कथा का नायक राजवाहन है। उसका पिता राजहंस मगध का राजा था जो मालवाधीश से परास्त होकर वन में इधर उधर अपने दिन व्यतीत कर रह था। नायक के नौ साथी भूतपूर्व मंत्रियों या सामन्तों के पुत्र हैं जो एक एक करके वन में लाए गए थे। जवान होने पर वे सब के सब श्रीकाम होकर दिग्विजय के लिए निकले। राजकुमार राजवाहन एक काम से अपने साथियों से बिछुड़ कर पाताल में जा पहुँचा, और उसके नौ साथी उसे ढूंढ़ने के लिए निकल पड़े। उधर पाताल से लौटने पर जब राजवाहन ने अपने साथियों को न देखा तब वह भी उनकी खोज में चल दिया। अन्त में वे सब मिल गए और प्रत्येक ने अपनी अपनी पर्यटन-कथा बारी बारी सुनानी प्रारम्भ की। जाये कथाएँ अद्भुत, पराक्रमपूर्ण और विविध-जातिक हैं। इनके क्षेत्र के विस्तार से मालूम होता है कि कवि की कल्पना-शक्ति बहुत भारी है। यह समझना भूल है कि इस कथा में किसी प्रकार भी तत्कालीन हिन्दू-

समाज का चित्र अंकित है। कवि का असली उद्देश्य मनोरंजन की सामग्री उपस्थित करना है न कि सामाजिक अवस्था का चित्र उतारना। आन्तरिक स्वरूप की दृष्टि से ये कथाएँ गुणाढ्य की बृहत्कथा में पाई जाने वाली कुछ कथाओं से मिलती जुलती हैं। इनसे सिद्ध होता है कि जादू-टोना, मन्तर-जन्तर, अन्ध-विश्वास और चमत्कार ही उस समय के धार्मिक जीवन का एक अंग थे। इन कथाओं में हम पढ़ते हैं कि एक आदमी आकाश से गिरता है और उसे कोई राहगीर अपने हाथों में सँभाल लेता है परन्तु चोट किसी के नहीं लगती है। मार्कण्डेय मुनि के शाप से सुरतमंजरी नाम की एक अप्सरा चाँदी की ज़ंजीर होगई थी, उसने नायक राजवाहन को बाँध लिया, और वह फिर अप्सरा की अप्सरा होगई। लोग जुआ खेलने में, चोरी करने में, सेंध लगाने में तथा ऐसे ही और दूसरे काम करने में सिद्धहस्त हैं। प्रेम-चित्रों में ज़रा-ज़रा-सी बातों को दिखलाने का प्रयत्न किया गया है जो आजकल के पाठक में अरुचि उत्पन्न कर देती हैं। ऐसी बातों का क्रम यहां तक बढ़ गया है कि इस ग्रन्थ को पाठ्य-पुस्तकों में रखने के लिए उन बातों में से कुछ-एक को ग्रन्थ से निकाल देना पड़ेगा।

शैली—परम्परानुसार प्रसिद्ध दण्डी के पदलालित्य का उल्लेख[1] हम पहले कर चुके हैं और कह चुके हैं कि सुबन्धु और बाण जैसी कृत्रिमता इसमें नहीं है।

चरित्र-चित्रण की विशेष योग्यता के लिए भी दण्डी प्रसिद्ध है। केवल राजकुमारों का ही नहीं छोटे छोटे पात्रों का चरित्र भी बड़ी सफ़ाई के साथ चित्रित किया गया है। उनमें से प्रत्येक एक विशिष्ट व्यक्ति भासित होने लगा है और उनके चित्र-चित्रण दण्डी[2] के आम

---

१. देखिए खंड ७७। २ दण्डी यशस्वी कवि के रूप में प्रसिद्ध है। इसका काव्यादर्श सारे का सारा पद्य-बद्ध है और दशकुमारचरित भी आन्तरिक स्वरूप में काव्य ही है (देखिए—वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।) दण्डी के किसी पुराने प्रशंसक ने कहा है :—

जोश, पैनी नज़र तथा ज़िन्दादिली के मिले हुए रंग से बने हैं।

प्रकृति के या वर्णन के कवि की हैसियत में दण्डी कालिदास, भारवि या माघ की तुलना न करता सही, फिर भी इसकी रचना में वसन्त, सूर्यास्त, राजवाहन और अवन्तिसुन्दरी का मिलन, प्रमतिकृत अपरिचित राजकुमारी का वृत्तान्त, और कन्दुकावती का गेंद खेलना ऐसे सुन्दर ढंग से वर्णित हुए हैं कि इन्हें हम किसी बड़े कवि के नाम के अनुरूप उसकी उत्तम रचना के उदाहरणों के रूप में सम्मुख रख सकते हैं।

भाषा पर दण्डी का पूर्ण अधिकार प्रशंसनीय है। सम्पूर्ण सातवें उच्छ्वास में एक भी ओष्ठ्य वर्ण नहीं आने पाया, कारण, मन्त्रगुप्त की प्रेयसी ने उसके ओष्ठ में काट लिया था, तब उसने मुँह पर हाथ रखकर ओष्ठ्य वर्ण का परिहार करते हुये अपनी कथा कही। वैदर्भी रीति का समर्थक होने के कारण दण्डी ने अपना लक्ष्य सुबोधता, भावों का यथार्थ प्रकाशन, पदों का माधुर्य, वचन-विन्यास की मनोरमता रक्खा है और इसलिये इसने श्रुतिकटु तथा विशालकाय शब्दों के प्रयोग से परहेज़ किया है। गद्य तक में इसने दुर्बोधदीर्घ समास वाले पदों का प्रयोग नहीं किया है। यह निपुण वैयाकरण था, और इसने राजकुमारों की अपनी कथा सुनाने में उनके मुँह से लिट् लकार का प्रयोग नहीं करवाया। हाँ, इसने लुङ् का पर्याप्त प्रयोग किया है।

दण्डी में हँसा देने की भी शक्ति है। राजकुमारों के जंगलों में घूमते फिरते रहने का तथा अपना-प्रयोजन पूर्ण करने के उनके अद्भुत उपायों की कथाओं से कवि की पाठक का मनोविनोद करने वाली भारी योग्यताओं का परिचय मिलता है। रानी वसुन्धरा ने नगर के भद्र लोगों को एक गुप्त अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिये निमन्त्रित किया और उनसे वस्तुतः गुप्त रखने का वचन लेकर एक झूठी अफवाह फैला

जाते जगति वाल्मीकि कविरित्यभिधाऽभवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि॥

दी—सचमुच इस काम को करने का यह एक अत्युत्तम उपाय था।

पूर्वपीठिका का प्रारम्भिक अनुच्छेद (Paragraph) बाण की श्रमभव शैली के अनुकरण पर लिखा गया है। इस अनुच्छेद में दुर्बोध दीर्घ समासों के लम्बे-लम्बे वाक्य हैं। पूर्वपीठिका के लेखक ने यमकालङ्कार का अत्यधिक प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए एक वाक्य देखिए—

कुमारा माराभिरामा रामाद्यपौरुषा रुषा भस्मीकृतारयो रयोपहसितसमीरणा रणाभियानेन यानेनाभ्युदयाशंसं राजानमकार्षुः[१]।

[उच्छ्वास २, अनुच्छेद १]

(८६) सुबन्धु

सुबन्धु को हम वासवदत्ता के कीर्तिमान् कर्त्ता के रूप में जानते हैं। वासवदत्ता का प्राचीनतम उल्लेख बाण के हर्षचरित की भूमिका के ग्यारहवें पद्य में प्राप्त होता है—

कवीनामगलद् दर्पो नूनं वासवदत्तया।
शक्त्येव पाण्डुपुत्राणां गतया कर्णगोचरम्॥[२]

कादम्बरी की भूमिका के बीसवें पद्य में बाण अपनी कृति को 'इयम् अतिद्वियी कथा' कह कर विशेषित करता है। टीकाकार कहता है कि 'द्वयी' से यहाँ बृहत्कथा और वासवदत्ता अभिप्रेत हैं।

साहित्य संसार में सुबन्धुविषयक कुछ उल्लेख निस्सन्देह बाण के

---

१. जो कामदेव के समान सुन्दर थे, राम इत्यादि के समान पौरुष वाले थे, जिन्होंने क्रोध में भरकर शत्रुओं को राख कर डाला था, जो वेग में वायु का भी उपहास उड़ाते थे, उन कुमारों ने दिग्विजय के लिए प्रस्थान करते हुए राजा को अभ्युदय की आशा से भर दिया।

२. सचमुच जैसे इन्द्र की दी हुई शक्ति के कर्ण के हाथ में पहुँचने पर पाण्डवों का गर्व जाता रहा था वैसे ही वासवदत्ता को सुन लेने पर कवियों का गर्व जाता रहा।

बाद के भी मिलते हैं। वाक्पतिराज ने अपने गउडवह में सुबन्धु का नाम भास और रघुवंश के कर्त्ता के साथ लिया है। राघवपाण्डवीय के रचयिता कविराज के अनुसार सुबन्धु, बाणभट्ट, और कविराज (वह स्वयं) वक्रोक्ति में निरूपम हैं। मङ्ख ने प्रशंसा करते हुए सुबन्धु को मेण्ठ और भारवि की श्रेणी में रक्खा है। सुभाषित संग्रहों में इसका नाम और भी कई स्थलों पर आया है। बल्लालकृत भोजप्रबन्ध में (१६वीं श०) इसकी गणना धारा के शासक भोज के तेरह रत्नों में की गई है। ११६८ ई० के कनारी भाषा के एक शिलालेख में इसका नाम काव्य-जगत् के एक गण्यमान्य व्यक्ति के रूप में आया है। इसका अर्थ हुआ कि बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक इसका यश दक्षिण में फैल चुका था।[1]

सुबन्धु के जीवनकाल के विषय में अभी तक निश्चितरूप से कुछ पता नहीं है। यद्यपि इसके ग्रन्थ में रामायण, महाभारत, पुराण, उपनिषद्, मीमांसा, न्याय, बृहत्कथा और कामसूत्र से सम्बद्ध अनेक उल्लेखों के साथ साथ बौद्धों और जैनों के साथ विरोध को सूचित करने वाले भी कई उल्लेख आए हैं; किन्तु इन सब से कवि के काल पर बहुत ही मन्द प्रकाश पड़ता है। वासवदत्ता में छन्दोविच्छिति का

---

१ दण्डी के दशकुमार चरित में वासवदत्ता विषयक वक्ष्यमाण उल्लेख मिलता है:—"अनुरूपभर्तृगामिनीनां च वासवदत्तादीनां वर्णनेन ग्राहयाऽनुशयम्" (अपने योग्य पति को प्राप्त होने वाली वासवदत्ता इत्यादि स्त्रियों के वर्णन से उसके मन में पश्चात्ताप का उदय कीजिये)। अधिक सम्भावना यह है कि इस उल्लेख में वासवदत्ता शब्द भासरचित स्वप्नवासवदत्ता का परामर्श करता है, सुबन्धु के ग्रन्थ की वासवदत्ता का नहीं। पाणिनि-अष्टाध्यायी के चौथे अध्याय के तीसरे पाद के सतासीवें सूत्र पर पठित वार्त्तिक में (लगभग ई० पू० तीसरा श०) "वासवदत्ताम् अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः" इस प्रकार आने वाला शब्द विस्पष्टरूप से भास के ग्रन्थ का परामर्श करता है।

दो बार उल्लेख[1] मिलता है। यदि यह छन्दोविचिति दण्डी का ही ग्रन्थ है; जिसके होने में सम्भावना कम और सन्देह अधिक है, तो सुबन्धु दण्डी के बाद हुआ। यह ग्रन्थ नृप विक्रमादित्य के बाद गद्दी पर बैठने वाले सब से पहले राजा के राज्य में लिखा गया था, इसके कुछ प्रमाण उपलब्ध हैं:—(क) वासवदत्ता की भूमिका के दसवें पद्य में आया है, "गतवति भुवि विक्रमादित्ये" (ख) वासवदत्ता का एक तिलककार नरसिंह वैद्य कहता है, "कविरयं विक्रमादित्यसभ्यः। तस्मिन् राज्ञि लोकान्तरं प्राप्ते एतं निबन्धं कृतवान्" (यह कवि विक्रमादित्य का सभासद् था। महाराज विक्रमादित्य के स्वर्गवासी होने पर इसने यह ग्रन्थ लिखा); (ग) महाशय हाल को उपलब्ध होने वाली वासवदत्ता की हस्त-लिखित प्रति बतलाती है कि सुबन्धु वररुचि का भानजा था। यह वररुचि भी विक्रमादित्य के दरबार का एक रत्न कहा जाता है। परन्तु केवल इसी आधार पर किसी बात का पक्का निश्चय नहीं हो सकता।

सुबन्धु का 'न्यायस्थितिमिवोद्योत्करस्वरूपां बौद्धसङ्गतिमिवालङ्कार-दूषिताम्" कथन बड़े काम का है; क्योंकि इसमें उद्योत्कर तथा बौद्ध-सङ्गत्यलङ्कारकार धर्मकीर्त्ति का नाम आया है। उद्योत्कर और धर्मकीर्त्ति दोनों ही ईसा की छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए हैं। अतः हम सुबन्धु को छठी शताब्दी के अन्तिम भाग के समीप रख सकते हैं। यह तो निश्चित ही है कि वासवदत्ता हर्षचरित से पहले लिखी गई है।

कथावस्तु—इस कथा का नायक चिन्तामणि का गुणी पुत्र कन्दर्प-केतु था। एक प्राभातिक स्वप्न में किसी षोडशी सुन्दर कन्या को देख-कर वह अपने सुहृद् मकरन्द को साथ ले उसकी तलाश में निकल पड़ा। घूमते हुए वे विन्ध्यपर्वत में जा पहुँचे। वहाँ एक रात कन्दर्पकेतु

---

१ छन्दोविचितिरिव मालिनी सनाथा, और छन्दोविचितिं भ्राज-मानतनुमध्याम् ['हल' द्वारा सम्पादित संस्करण, ११९, २३५]।

ने रात में देर से वृक्ष पर लौट कर आए हुए शुक को धमकाती हुई शारिका को सुना । फिर शुक ने अपने विलम्ब का कारण बताते हुए शारिका को एक कथा सुनाई । इस कथा से कन्दर्पकेतु को अपनी प्रेयसी का कुछ पता मिल गया । वह कुसुमपुर के अधिपति नृप शृङ्गार-शेखर की इकलौती बेटी थी । उसका नाम वासवदत्ता था । उसने भी कन्दर्पकेतु के समान सुन्दर एक तरुण को स्वप्न में देखकर उसकी तलाश में अपनी अनुचरी तमालिका को भेजा था । कुसुमपुर में रागा-नुग युगल के सम्मिलन का प्रबन्ध हो गया । बिल्कुल अगले ही दिन वासवदत्ता का विवाह विद्याधर राजकुमार पुष्पकेतु के साथ हो जाने का निश्चय हो चुका था । अतः कन्दर्पकेतु और वासवदत्ता दोनों के दोनों तत्काल एक जादू के घोड़े पर सवार हो उड़कर विन्ध्यपर्वत में जा पहुँचे । प्रातः कन्दर्पकेतु ने वासवदत्ता को अनुपस्थित पाया तो उसने प्रेम से पागल होकर आत्मघात करने का निश्चय कर लिया, किन्तु उसी क्षण एक आकाशवाणी ने प्रेयसी के साथ पुनः मिलाप होने की आशा दिलाकर उसे आत्मघात करने से रोक दिया । कुछ महीने के बाद एक दिन कन्दर्पकेतु ने वासवदत्ता को पाषाण की मूर्ति बनी पाया जो उसके छूते ही जीवित हो उठी । पूछने पर वासवदत्ता ने बताया कि जब अपने अपने स्वामी के लिए मुझे प्राप्त करने के उद्देश्य से दो सेनाएँ आपस में युद्ध करने में व्यग्र थीं, तब मैं अनजाने उस तरफ चली गई जिस तरफ स्त्रियों के जाने की मनाही थी । वहाँ मुनि ने मुझे शाप देकर पाषाणी बना दिया । इसके पश्चात् कन्दर्पकेतु उसे लेकर अपनी राजधानी को लौट आया और वहाँ वे दोनों सुख से रहने लगे ।

वासवदत्ता की गिनती, आख्यायिकाओं में नहीं, कथाओं में की जानी चाहिए; इसका प्रतिपाद्य अर्थ हर्षचरित की अपेक्षा कादम्बरी से अधिक मेल खाता है । हमें इसमें स्वप्नों में विश्वास, पक्षियों का वार्तालाप, जादू का घोड़ा, शरीराकृति का परिवर्तन, शाप का प्रभाव इत्यादि कथानुकूल सामग्री उपलब्ध होती है ।

शैली—सुबन्धु का लक्ष्य ऐसा ग्रन्थ प्रस्तुत करना है जिसके प्रत्येक वर्ण में श्लेष हो।[1] कवि के साफल्य की प्रशंसा करनी पड़ती है और कहना पड़ता है कि कवि की गर्वोक्ति यथार्थ है। किन्तु आधुनिक तुला पर तोलने से ग्रन्थ निर्दोष सिद्ध नहीं होता। कथावस्तु के निर्माण में शिथिलता है और चमत्कारपूर्ण चकाचौंध पैदा करने वाला वर्णन ही सर्व-प्रधान पदार्थ समझ लिया गया है। नायिका का सौन्दर्य, नायक की वीरता, वसन्त वन-पर्वत का वर्णन बड़े मनोरमरूप से हुआ है। कथा की रोचकता को शैली की कृत्रिमता ने लगभग दबा लिया है; और यह शैली पाठक को बहुधा अरुचिकर एवं व्यामोहजनक प्रतीत होने लगती है। रीति पूर्ण गौडी है; इसीलिए इसमें बोझली बनावट के लम्बे-लम्बे समास और भारी भरकम शब्द हैं, अनुप्रास तथा अन्य शब्दालङ्कारों की भरमार है। कवि को अर्थ की अपेक्षा शब्द से पाठक पर प्रभाव डालना अभिप्रेत प्रतीत होता है। श्लेष के बाद अधिक संख्या में पाया जाने वाला अलङ्कार विरोधाभास है, जिसमें अर्थ का स्व-विरोध भासित होता है किन्तु वस्तुतः वह (अर्थ) स्वाविरोधवान् और अधिक उर्जस्वित् होता है। उदाहरण के लिए, नृप चिन्तामणि का वर्णन करते हुए कहा गया है—"विद्याधरोऽपि सुमनाः; धृतराष्ट्रोऽपि गुणप्रियः, क्षमानुगतोऽपि सुधर्माश्रितः"[2]। मालादीपक का एक उदाहरण

१. भूमिका के तेरहवें पद्य में इसने अपने आपको "प्रत्यक्षरश्लेष-मयप्रबन्धविन्यास वैदग्ध्यनिधिः" कहा है।

२. पहला अर्थ—यद्यपि वह विद्याधर (निम्न-श्रेणी का देव) तथापि वह सुमना (यथार्थ श्रेणी का देव था), यद्यपि वह धृतराष्ट्र था तथापि भीम का मित्र था, यद्यपि वह पृथिवी पर उतर आया था, तथापि वह देवसभा में आश्रय (निवास) रखता था। दूसरा अर्थ—वह विद्वान् होने पर भी उत्तम मन वाला, राष्ट्र का धर्त्ता होने पर भी गुणग्राही, धैर्य-शाली होने पर भी उत्तम शासन का आश्रय लेने वाला था।

देखिए—"नायकेन कीर्त्तिः, कीर्त्या सप्त सागराः, सागरैः कृतयुगादिराजचरितस्मरणम्..."[१]।

शरीरानुसार अवयवकल्पना एक प्रकार से शैली की नींव होती है। वासवदत्ता में इसका इतना अभाव है कि उसका उल्लेख किये बिना रहा नहीं जा सकता। चरम सीमा को पहुँचाए बिना कवि ने किसी भी प्रसङ्ग को नहीं जाने दिया है। निदर्शनार्थ, किसी घटना के वर्णन में प्रत्येक सम्भव विवरण दिया गया है, यदि इतना देना अपर्याप्त प्रतीत हुआ है तो इसकी पूंछ से उपमा के पीछे उपमा और श्लेष के पीछे श्लेष का तांता बाँध दिया गया है। कहीं उत्साह दिलाना अभीष्ट हुआ, तो एक ही बात अनेक रूप से बारबार दोहराई गई है। इस दोष का कारण कवि की मति की तीव्र स्फूर्त्ति तथा बहुज्ञता है। अन्य कहानियों के समान इसमें कथा के अन्दर कथा भरने की विशेषता है।

(८७) बाण की कादम्बरी

बाण की कादम्बरी हमें कई प्रकार से रुचिकरी प्रतीत होती है। एक तो हमें इसकी निश्चित तिथि मालूम है। अतः भारतीय साहित्य के और भारतीय दर्शन के इतिहास में यह एक सीमा का निर्देश कर सकती है। दूसरे यह हमारे लिए लौकिक संस्कृत के प्रमाणीभूत गद्योदाहरण का काम देती है। तीसरे यह भारतीय सर्वसाधारण का ज्ञान बढ़ानेवाली लोकप्रिय कहानी है।

बाण अपने अन्य ग्रन्थ के समान कादम्बरी को भी अपूर्ण छोड़ गया था। सौभाग्य से उसके पुत्र भूषण भट्ट ने इसे समाप्त कर दिया था। कथावस्तु कुछ जटिल-सी है। इसमें कथा के अन्दर कथा, उसके भी अन्दर और कथा पाई जाती है। कथा का प्रधान भाग एक तोते के मुँह से कहलवाया गया है। यही तोता अन्त में पुण्डरीक मुनि सिद्ध

---

१. नायक ने यश, यश ने सात समुद्र, सात समुद्रों ने सतयुग आदि में हुए राजाओं के चरित का स्मरण [प्राप्त] किया।

होता है जो कथा का उपनायक है। कथा की नायिका कादम्बरी का नाम तो हमें आधा ग्रन्थ पढ़ जाने के बाद मालूम होता है। कहानी का श्रोता नृप शूद्रक है जो एक अनावश्यक पात्र प्रतीत होता है और कथा में से जिसका नाम निकाल देने से कोई हानि पहुँचती प्रतीत नहीं होती; परन्तु अन्त में यही राजा कथा का मुख्य नायक चन्द्रापीड निकल पड़ता है जो शाप-वश उस जीवन में गया हुआ है। इस प्रकार बड़ी कुशलता से कथा की रोचकता अन्त तक अखण्ड रक्खी गई है। संक्षेप में कथा यों है :—

शूद्रक नामक एक राजा के दरबार में कोई चाण्डाल कन्या एक दिन एक तोता लाई। राजा के पूछने पर तोते ने अपनी दुःखभरी कथा उसे सुनाते हुए कहा—मेरी माता की मृत्यु मेरे जन्म के समय ही हो गई थी और कुछ ही समय पश्चात् मेरे पिता को शिकारियों ने पकड़ लिया। जाबालि मुनि के एक शिष्य ने मुझे एक निर्जन वन में पड़ा हुआ देखा तो दयार्द्र होकर उठा लिया और अपने गुरु के आश्रम में ले गया। शिष्यों के पूछने पर जाबालि मुनि ने मेरा पूर्वजन्म का वृत्तान्त उन्हें इस प्रकार सुनाया—

कभी उज्जैन में तारापीड नामक एक धर्मात्मा राजा राज्य करता था। उसकी रानी विलासवती राजा के सम्पूर्ण अन्तःपुर में सब से अधिक गुणशालिनी देवी थी। राजा का मन्त्री शुकनास बड़ा बुद्धिमान् था। बहुत समय बीतने पर महादेव की कृपा से राजा के एक पुत्र हुआ जिसका नाम चन्द्रापीड रक्खा गया। चन्द्रापीड का समवयस्क वैशम्पायन नामक मन्त्री का पुत्र था। दोनों कुमारों का पालन-पोषण साथ-साथ हुआ और वे ज्यों-ज्यों बढ़ते गए त्यों-त्यों उनका सौहार्द घनिष्ठ होता गया; यहाँ तक कि वे एक दूसरे के बिना एक पल भी नहीं रह सकते थे। उनकी शिक्षा के लिए एक गुरुकुल की स्थापना की गई, जहाँ उन्होंने सोलह वर्ष की आयु में ही सारी विद्याओं में पारङ्गतता प्राप्त कर ली। शिक्षा समाप्ति पर शुकनास ने राजकुमार को राजोपयोगी

एक सुन्दर उपदेश दिया। तब राजकुमार को युवराज पद देकर इन्द्रा-युध नाम का एक बड़ा अद्भुत घोड़ा और पत्रलेखा नाम की विश्वास-पात्र अनुचरी दी गई। अब राजकुमार दिग्विजय के लिए निकला और तीन वर्ष तक सब संग्रामों में विजयी होता हुआ आगे बढ़ता रहा। एक बार दो किन्नरों का पीछा करता हुआ वह जङ्गल में दूर निकल गया जहाँ उसने एक सुन्दर सरोवर के तट पर तपश्चर्या करती हुई महाश्वेता नामक एक परम रमणीयाङ्गी रमणी को देखा। रमणी ने राज-कुमार को बतलाया कि मेरा पुण्डरीक नामक एक तरुण पर और उसका मुझ पर अनुराग था; परन्तु हम अभी अपने पारस्परिक अनुराग को एक दूसरे पर प्रकट भी न कर पाए थे कि पुण्डरीक का लोकान्तर-गमन हो गया। मैंने उसकी चिता पर उसी के साथ सती होना चाहा; किन्तु एक दिव्य मूर्ति मुझे पुनर्मिलन की आशा दिलाकर उसके शव को ले गई। इस आत्म-कथा के अतिरिक्त महाश्वेता ने राजकुमार को अनुपम लावण्यवती अपनी प्रियसखी कादम्बरी के बारे में भी कई बातें बताईं।

इसके बाद चन्द्रापीड़ कादम्बरी से मिला। दोनों एक दूसरे पर मोहित हो गए। किन्तु अभी उन्होंने अपने अनुराग को एक दूसरे पर प्रकट भी नहीं किया था कि चन्द्रापीड़ को पिता की ओर से घर का बुलावा आ गया और उसे निराश हृदय के साथ घर लौटना पड़ा। इससे कादम्बरी का मन भी बड़ा उदास हो गया। उसने आत्महत्या करनी चाही; किन्तु उसे पत्रलेखा ने जिसे चन्द्रापीड़ पीछे छोड़ गया था, रोक दिया और फिर स्वयं चन्द्रापीड़ के पास आकर उसे कादम्बरी की प्रेम-विह्वलता की सारी कथा सुनाई[1]।

पत्रलेखा से कादम्बरी की विह्वलता की कथा सुनकर चन्द्रापीड़ उससे

---

१. बाणकृत ग्रन्थ यहीं है। कथा का शेष भाग उसके पुत्र भूषण भट्ट ने लिखा है।

मिलने जाने के लिए तैयार हुआ। दैवयोग से तभी एक दुर्घटना घटित हो गई। वैशम्पायन आग्रह करके उस सरोवर के तट पर पीछे ठहर गया था जिस पर महाश्वेता तप कर रही थी। चन्द्रापीड़ ने लौटकर उसे वहाँ न पाया तो वह अब उसकी तलाश करने लगा। महाश्वेता से मिलने पर उसे मालूम हुआ कि किसी ब्राह्मण युवक ने महाश्वेता से प्रणय की याचना की थी जिसे उसने स्वीकार नहीं किया। जब युवक ने अधिक आग्रह किया तब कुपित होकर महाश्वेता ने उसे तोते की योनि में चले जाने का शाप दे दिया। यह सुनते ही चन्द्रापीड़ निष्प्राण होकर पृथिवी पर गिर पड़ा। कादम्बरी वहाँ पहुँची तो महाश्वेता से भी अधिक दुःखित हुई। एक आकाशवाणी ने कहा कि तुम चन्द्रापीड़ का शव सुरक्षित रक्खो; क्योंकि एक शापवश इसके प्राण निकले हैं। अन्त में तुम दोनों को तुम्हारे प्रियतमों की प्राप्ति होगी। ज्यों ही इन्द्रायुध ने सरोवर में प्रवेश किया त्यों ही उसके स्थान पर पुण्डरीक का सुहृद् कपिञ्जल प्रकट हुआ और उसने बतलाया कि चन्द्रापीड़ चन्द्रमा का अवतार है तथा वैशम्पायन पुण्डरीक और इन्द्रायुध कपिञ्जल है।

मुनि से इस कथा को सुनकर मैंने अपने आपको पहचान लिया। मैं समझ गया कि मैं ही पुण्डरीक और वैशम्पायन दोनों हूँ। अब मैं चन्द्रापीड़ को ढूँढ़ने के लिए चल दिया; परन्तु दुर्भाग्य से मार्ग में मुझे चाण्डाल कन्या ने पकड़ लिया और यहाँ आपके पास ले आई।

कहानी के अगले भाग से हमें पता लगता है कि चाण्डाल कन्या पुण्डरीक की माता ही थी जिसने कष्टों से बचाने के लिए तोते को अपनी आँख के नीचे रख रक्खा था। शूद्रक में चन्द्रापीड़ का आत्मा था। अब शाप के समय का अन्त आ गया था। उसी क्षण शूद्रक का शरीरान्त हो गया। कादम्बरी की गोद में चन्द्रापीड़ यों पुनर्जीवित हो उठा मानो वह किसी गहरी नींद से जागा हो। शीघ्र ही पुण्डरीक भी उनसे आ मिला। दोनों प्रणयि-युगलों का विवाह हो गया और सर्वत्र

आनन्द ही आनन्द छा गया। उसके बाद उन प्रणयि-युगलों में से प्रत्येक एक पल के लिए भी एक दूसरे से पृथक् नहीं हुआ।

साहित्यिक विशेषता—साहित्यिक विशेषता की दृष्टि से कादम्बरी, जो एक कथा-ग्रन्थ है, बाण की अन्य रचना हर्षचरित से जो एक आख्यायिका-ग्रन्थ है, बढ़कर है। कादम्बरी और महाश्वेता के प्रणय की द्विवृत् कथा बड़े कौशल से परस्पर गूंथी गई है। सच तो यह है कि जगत् के साहित्य इतिहास में ऐसे ग्रन्थ बहुत ही कम हैं; संस्कृत में तो कोई है ही नहीं। यद्यपि यह ग्रन्थ गद्य में है, तथापि रस-पूर्ण[1] और अलङ्कार-युक्त होने के कारण भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने इसे काव्य का नाम दिया है। अङ्गी रस शृङ्गार है। इसका विकास बड़ी निपुणता से किया गया है। मृत्यु तक को सम्मिलित करते हुए काम की दसों दशाओं को दिखलाने में यह कवि जैसा सफल हुआ है वैसा इससे पहले या इसके बाद कोई दूसरा नहीं। अङ्ग रसों में अद्‌भुत[2] और करुण[3] उल्लेखनीय हैं। इनके उदाहरणों की ग्रन्थ में कमी नहीं है। अलङ्कारों में श्लेष बहुत अधिक पाया जाता है। दूसरे दर्जे पर छेक और वृत्त्यनुप्रास हैं। रसनोपमा का उदाहरण देते हुए कहा गया है, "कपिञ्जल पुण्डरीक के लिए ऐसा ही था जैसे सौन्दर्य को यौवन, यौवन को अनुराग और अनुराग को वसन्त" अन्य अलङ्कारों का वर्णन करने के लिए यहाँ अवकाश नहीं है। वस्तुतः बाण संस्कृत साहित्य के श्रेष्ठ कलाकारों में गिना जाता है। गोवर्धनाचार्य ने उसके विषय में कहा है :—

जाता शिखण्डिनी प्राग् यथा शिखण्डी तथावगच्छामि।
प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणी बाणो बभूवेति[4]॥

१. देखिये वाक्यं रसात्मकम् काव्यम्।

२. उदाहरणार्थ चन्द्रमा और पुण्डरीक के क्रमिक अवतार।

३. उदाहरणार्थ, प्राणियों के मृत्यु के बाद कादम्बरी और महाश्वेता की अवस्थाओं के तथा वैशम्पायन की मृत्यु पर चन्द्रापीड की अवस्था का वर्णन।

४. मेरा अनुमान है कि जैसे पहले समय में अधिक प्रागल्भ्य प्राप्त

धर्मदास नामक एक और समालोचक ने उसके साहित्यिक कृतित्व को और ही तरह से कहा है। वह कहता है :—

रुचिरस्वरवर्णपदा रसभाववती जगन्मनो हरति ।
तत् किं ? तरुणी ! नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य[1] ॥

जयदेव ने और भी आगे बढ़ कर कहा है :—"हृदयवसतिः पञ्च बाणस्तु बाणः" [कविता कामिनी के] हृदय में बसने वाला बाण मानो काम है। अन्य समालोचकों ने भी अपने अपने ढंग से बाण के साहित्यिक गुणों की पर्याप्त प्रशंसा की है।

बाण में वर्णन की, माननीय मनोवृत्तियों के तथा प्राकृतिक पदार्थों के सूक्ष्म पर्यवेक्षण की एवं काव्योपयोगिनी कल्पना की आश्चर्यजनक शक्ति है। केवल प्रधानपात्र ही नहीं, छोटे-छोटे पात्रों का भी विशद चरित्र-चित्रण किया गया है। नायिकाओं के रागात्मक तीव्र मनोभाव और कन्योचित् लज्जालुता के साथ प्राणियों के संवेदन और नायक-नायिका की अन्योन्य भक्ति का वर्णन बड़ी उत्तम रीति से किया गया है। एक सच्चा प्रणयी अपने प्रणयपात्र से पृथक् होने की अपेक्षा मरना अधिक पसन्द करता है। हिमालय पर्वत के सुन्दर दृश्यों, अच्छोद सरोवर और अन्य प्राकृतिक पदार्थों का सुन्दर वर्णन कवि की साहित्यिक सूझ का परिचय देता है। मुनियों के शान्तिमय और राजाओं

करने के लिये शिखण्डिनी शिखण्डी बन कर अवतीर्ण हुआ था वैसे ही अधिक प्रौढ़ि प्राप्त करने के लिए सरस्वती बाण बन कर अवतीर्ण हुई थी।

१. सुन्दर स्वर, सुन्दर वर्ण और सुन्दर पदों वाली तथा रसमयी तथा भावमयी जगत् का मन हरती है।

बताओ क्या है ?

तरुणी है।

न, न। मधुर प्रकृति वाले बाण की वाणी।

के आडम्बरपूर्ण जीवन का निपुण वर्णन तुलना की रीति पर बड़े ही उत्तम ढङ्ग से किया गया है।

सचमुच बाण की वर्णन-शक्ति बहुत भारी है, इसीलिये उसके विषय में कहा गया है कि "बाणोच्छिष्टं जगत् सर्वम्" बाण ने सारे जगत् को जूठा कर दिया है।

कादम्बरी के अध्ययन से यह भी मालूम होता है कि बाण का भाषा पर बड़ा विद्वत्तापूर्ण अधिकार था जिसके कारण उसने अप्रसिद्ध और कठिन शब्दों का भी प्रयोग कर डाला है। श्लेष के संयोग से तो उसका ग्रन्थ किसी योग्य टीका के बिना समझना ही कठिन हो गया है। आधुनिक बाटों से तोलने वाले पाश्चात्य आलोचकों ने इन त्रुटियों की बड़ी कटु आलोचना की है। जैसा पहले कहा जा चुका है "उसके गद्य को एक भारतीय जंगल कहा गया है जिसमें झाड़-झंकाड़ों के उग आने के कारण पथिक, जब तक मार्ग न बना ले, आगे नहीं बढ़ सकता, और जिसमें उसे अप्रसिद्ध शब्दों के रूप में भयावह जंगली जानवरों का सामना करना पड़ता है"।[1]

ग्रन्थ में समानुपातिक अंगोपचय का ध्यान नहीं रक्खा गया है; कदाचित् लेखक के पास किसी प्रसंग के वर्णन की जब तक कुछ भी सामग्री शेष रही है तब तक उसने उस प्रसङ्ग का पिंड नहीं छोड़ा है। उदाहरणार्थ, एक सीधी सादी बात थी कि एक उज्जैन नगर था। अब इसकी विशेषणमाला जो प्रारम्भ हुई है दो पृष्ठ तक चली गई है। कभी कभी समास-गुम्फित विशेषण एक सारी की सारी पंक्ति तक लम्बा हो गया है। चन्द्रापीड़ को दिया हुआ शुकनास का उपदेश सात पृष्ठ में आया है। जब तक प्रत्येक सम्भव रीति से बात तरुण राजकुमार के मन में बिठा नहीं दी गई, तब तक उपदेश समाप्त नहीं किया गया। किन्तु बाण की शैली का वास्तविक स्वरूप यह है कि

१. कादम्बरी के अपने संस्करण की भूमिका में डा० पीटरसन द्वारा उद्धृत वैबर की सम्मति।

वह प्रतिपाद्य अर्थ के अनुसार बदलती रहने वाली है। बहुत से प्रकरणों में बाण की भाषा पूर्ण सरल और अवक्र है।

कादम्बरी का मूल स्रोत—स्थूल रूप-रेखा में कादम्बरी की कथा सोमदेव (ईसा की ११ वीं श०) द्वारा लिखित कथासरित्सागर के नृप सुमना की कथा से बहुत मिलती जुलती है। कथासरित्सागर गुणाढ्य-कृत बृहत्कथा का संस्कृतानुवाद है। बृहत्कथा आजकल प्राप्य नहीं है, किन्तु यह बाण के समय में विद्यमान थी। इससे अनुमान होता है कि बाण ने बृहत्कथा से कथावस्तु लेकर कला की दृष्टि से उसे प्रभावशालिनी बनाने के लिए उसमें अनेक परिवर्तन कर दिये थे।

ऊर्ध्वकालीन कथात्मक काव्यों पर बाण का प्रभाव—बाण के कथा-बनाने काव्य के उच्च प्रमाण तक पहुँचना कोई सुगम कार्य नहीं था। बाण के बाद कथा-काव्य अधिक चमत्कारक नहीं हैं, किन्तु उनसे यह साफ झलकता है कि उन पर बाण का गहरा प्रभाव पड़ा। बाण के बाद के कथात्मक काव्यों में प्रथम उल्लेखनीय तिलकमंजरी है। इसका कर्ता धनपाल[१] (ईसा की १० वीं श०) धारा के महाराज के आश्रय में रहा करता था। इस ग्रन्थ में तिलकमंजरी और समरकेतु के प्रेम की कथा है। अन्तरात्मा (Spirit) और शैली दोनों की दृष्टि से यह ग्रन्थ कादम्बरी की नकल है। इस बात को स्वयं लेखक भी स्वीकार करता है।

बाण का ऋणी दूसरा ग्रन्थ गद्यचिन्तामणि है। इसका लेखक ओडयदेव नामक एक जैन था। इसी का उपनाम वादीभसिंह था। इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय जीवनधर का उपाख्यान है। यही उपाख्यान जीवनधर चम्पू[२] का भी विषय है। इसका काल अनिश्चित है।

---

१. इसके अन्य ग्रन्थ हैं—पैयलच्छी (प्राकृतभाषा का कोष, रचनाकाल ९७२-३ ई०) और ऋषभ पंचाशिका (प्राकृत भाषा में पचाश पद्य) जो किसी जैन मुनि की प्रशस्ति है।

२. साहित्य के और भी अंग हैं जिनमें गद्य-पद्य का मिश्रण रहता है; परन्तु उनमें पद्य या तो औपदेशिक होते हैं या वक्ष्यमाण कहानी का

(८८) चम्पू

चम्पू गद्य-पद्यमय काव्य को कहते हैं। इसकी वर्णनीय वस्तु कोई कथा होती है। 'कथा' के समान ही चम्पू भी साहित्यदर्पण में रचना का एक प्रकार स्वीकृत हुआ है और ईसा की १०वीं शताब्दी तक के पुराने चम्पू ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

आजकल जितने चम्पू-लेखकों का पता चलता है उनमें सबसे पुराना त्रिविक्रम भट्ट है। यही ९१५ ई० के राष्ट्रकूट नृप इन्द्र तृतीय के नौसारी वाले शिलालेख का भी लेखक है। इसके दो ग्रन्थ मिलते हैं—नलचम्पू (जिसे दमयन्ती कथा भी कहते हैं) और मदालसचम्पू। इनमें से नलचम्पू अपूर्ण है। दोनों ग्रन्थों में गौडी रीति का अनुसरण किया गया है। यही कारण है कि इन में दीर्घ समास, अनेक श्लेष, अनन्त विशेषण, दुरुह वाक्य रचना और अत्यधिक अनुप्रास हैं—श्रुति सुखदता के लिए अर्थ की बलि दे दी गई है। हां, कुछ पद्य रमणीय बनपड़े हैं। इस के नाम से सूक्तिसंग्रहों में संगृहीत किया हुआ एक पद्य देखिए—

अप्रगल्भपदन्यासा जननीरागहेतवः।
सन्त्येके बहुलालापा कवयो बालका इव[1] ॥

दशवीं शताब्दी में लिखा हुआ दूसरा कथा-काव्यग्रन्थ यशस्तिलक है। इसे सोमदेव जैन ने ९५९ ई० में लिखा था। साहित्यिक गुणों की

केन्द्रिक अभिप्राय देते हैं (जैसे; पञ्चतन्त्र) या बात को प्रभाव-शालिनी बनाते हैं या किसी बात पर बल देते हैं। चम्पू में पद्य गद्यवत् ही किसी घटना का वर्णन करते हैं।

१. अप्रौढ चाल वाले, माता को आनन्द देने वाले, और [मुख से चूती हुई] बहुत से पीने वाले बालकों के समान कुछ ऐसे भी कवि हैं जिनकी वाक्य रचना प्रौढ नहीं है जो जनता को आकृष्ट नहीं कर सकते और जो बोलते अधिक हैं।

दृष्टि से यह ग्रन्थ उपर्युक्त दोनों चम्पुओं से बहुत उत्कृष्ट है। कथा प्रायः साद्यन्त रोचक है। लेखक का उद्देश्य जैन सिद्धान्तों को लोक प्रिय रूप में रखकर उनका प्रचार करना प्रतीत होता है। यही कारण है कि इस ग्रन्थ में हम देखते हैं कि नृप मारिदत्त, कथा का नायक, जो कुल देवी 'चण्डमारी देवता' के सामने सम्पूर्ण सजीव पदार्थों के जोड़ों की, जिनमें एक बालक और बालिका भी सम्मिलित थीं, बलि देना चाहता था, अपनी प्रजा के साथ अन्त में जैनधर्म ग्रहण कर लेता है। इसके कुछ पद्य वस्तुतः सुन्दर हैं। जैसे—

अवक्ताऽपि स्वयं लोकः कामं काव्यपरीक्षकः।
रसपाकानभिज्ञोऽपि भोक्ता वेत्ति न किं रसम्[1]॥

कदाचित् उक्त शताब्दी का ही एक और जैन कथात्मक काव्य हरिचन्द्र[2] कृत जीवनधर चम्पू है। इसका आधार गुणभद्र का उत्तर पुराण है। इसकी कहानी में रस का नाम नहीं।

[भोज के नाम से प्रसिद्ध] रामायण चम्पू, अनन्तकृत भारतचम्पू, सोड्ढलकृत (१००० ई०) उदयसुन्दरीकथा इत्यादि और भी कुछ चम्पू ग्रन्थ हैं, परन्तु वे सब साधारण होने के कारण यहाँ परिचय कराने के अधिकारी नहीं हैं।

---

१. स्वयं अपने भावों का सम्यक् प्रकाश न कर सकने वाला व्यक्ति भी काव्य का परीक्षक हो सकता है, क्या स्वाद भोजन बनाने की क्रिया न जानने वाला भोक्ता भोजन के स्वाद को नहीं जानता।

२. इसका पक्का निश्चय नहीं कि यही (२१ सर्गात्मक) धर्म-शर्माभ्युदय नामक जैन काव्य का भी कर्ता है।

अध्याय १२

लोकप्रिय कथाग्रन्थ

(८९) गुणाढ्य की बृहत्कथा

भारतीय साहित्य में जिन लोकप्रिय कथाओं के उल्लेख मिलते हैं उनका सबसे पुराना ग्रन्थ गुणाढ्य की बृहत्कथा है। मूल ग्रन्थ पैशाची भाषा में था। वह अब लुप्त हो चुका है। परन्तु इसके अनुवाद या संक्षिप्त संस्करण के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों के आधार पर इस ग्रन्थ के और इसके रचयिता के सम्बन्ध में कुछ धारणाएँ की जा सकती हैं। इस सम्बन्ध में काश्मीर से उपलब्ध क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामञ्जरी और सोमदेव का कथासरित्सागर तथा नेपाल से प्राप्त बुद्धस्वामी का बृहत्कथाश्लोक संग्रह[1] मुख्य ग्रन्थ हैं।

(क) **कवि-जीवन**—काश्मीरी संस्करणों के अनुसार गुणाढ्य का जन्म गोदावरी के तट पर बसे प्रतिष्ठान नगर में हुआ था। वह थोड़ी-सी संस्कृत जानने वाले नृप सातवाहन का बड़ा कृपापात्र था। एक दिन जल-विहार के समय रानी ने राजा से कहा, 'मोदकैः'—उदकैः मा, अर्थात् जलों से न। सन्धिज्ञान से शून्य राजा ने इसका अर्थ समझा

---

१. ऐसी कथाएँ समाज के उच्च श्रेणी के लोगों की अपेक्षा साधारण श्रेणी के लोगों में अधिक प्रचलित हैं। इन दिनों भी रिवाज है कि शाम के समय बच्चे घर की बूढ़ी स्त्री के चारों ओर इकट्ठे हो जाते हैं और उससे अपनी मातृभाषा में रोचक कहानियां सुनते हैं।

'लड्डुओं से'। भूल मालूम होने पर राजा को खेद हुआ और उसने संस्कृत सीखने की इच्छा प्रकट की। गुणाढ्य ने कहा—मैं आपको छः वर्ष में संस्कृत पढ़ा सकता हूँ। इस पर हँसता हुआ (कातन्त्र व्याकरण का रचयिता) शर्ववर्मा बोला—मैं तो छः महीने में ही पढ़ा सकता हूँ। उसकी प्रतिज्ञा को असाध्य समझते हुए गुणाढ्य ने कहा—यदि तुम ऐसा कर दिखाओ, तो मैं संस्कृत, प्राकृत या प्रचलित अन्य कोई भी भाषा व्यवहार में नहीं लाऊँगा। शर्ववर्मा ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर दिखाई, तो गुणाढ्य विन्ध्य पर्वत के अन्दर चला गया और वहाँ उसने पिशाचों (भूतों) की भाषा में इस बृहत्काय ग्रन्थ का लिखना प्रारम्भ कर दिया। गुणाढ्य के शिष्य सात लाख श्लोकों के इस पोथे को नृप सातवाहन के पास ले गए; किन्तु उसने अवहेलना के साथ इसे अस्वीकृत कर दिया। गुणाढ्य बड़ा विषण्ण हुआ। उसने अपने चारों ओर के पशुओं और पक्षियों को सुनाते हुए ग्रन्थ को ऊँचे स्वर में पढ़ना प्रारम्भ किया और पठित भाग को जलाता चला गया। तब ग्रन्थ की कीर्ति राजा तक पहुँची और उसने उसका सातवाँ भाग (अर्थात् एक लाख पद्य-समूह) बचा लिया। यही भाग बृहत्कथा है।

नेपाली संस्करण के अनुसार गुणाढ्य का जन्म मथुरा में हुआ था; और वह उज्जैन के नृपति मदन का आश्रित था। अन्य विवरणों में भी कुछ-कुछ भेद है। उक्त दोनों देशों के संस्करणों के गम्भीर अध्ययन से नेपाली की अपेक्षा काश्मीरी की बात अधिक विश्वसनीय प्रतीत होती है। कदाचित् नेपाली-संस्करण के रचयिता का अभिप्राय गुणाढ्य को नेपाल के समीपवर्त्ती देश का निवासी सिद्ध करना हो।

(ख) साहित्य में उल्लेख—गुणाढ्य की बृहत्कथा का बहुत ही पुराना उल्लेख दण्डी के काव्यादर्श में मिलता है। अपनी वासवदत्ता में सुबन्धु ने भी गुणाढ्य का नाम लिया है। बाण भी हर्षचरित्र और कादम्बरी दोनों की भूमिकाओं में गुणाढ्य की कीर्ति का स्मरण करता है। बाद के साहित्य में तो उल्लेखों की भरमार है। बृहत्कथा का

नाम त्रिविक्रमभट्ट और सोमदेव के चम्पूओं में, गोवर्धन की सप्तशती में और ८७५ ई० के कम्बोदिया के शिलालेख में भी आता है।

(ग) **प्रतिपाद्यार्थ की रूप रेखा**—किसी-किसी का कहना है कि बृहत्कथा की कथावस्तु का आधार रामायण की कथा है। रामायण में राम सीता और लक्ष्मण को साथ लेकर बन में गए। वहाँ सीता चुराई गई लक्ष्मण की सहायता से रामने सीता को पुनः प्राप्त किया और अन्त में घर लौट कर वे अयोध्या के राजा बने। बृहत्कथा का नायक नरवाहनदत्त वेगवती और गोमुख को साथ लेकर घरसे निकलता है; वेगवती से वियुक्त होता है; अनेक पराक्रमयुक्त कार्य करने के बाद गोमुख की सहायता से (नायिका) मदनमञ्जुका को प्राप्त करके विद्याधरों के देश का राजा बनता है। जैसे रावण के हाथ में पड़ कर भी सीता का सतीत्व सुरक्षित रहा, वैसे ही मानस-वेग के वश में रह कर भी मदनमञ्जुका का नारीधर्म अखण्डित रहा। यह बात तो असन्दिग्ध ही है कि गुणाढ्य रामायणीय, महाभारतीय और बौद्ध उपाख्यानों से परिचित था। भासमान समानता केवल रूप-रेखा में हैं, विवरण की दृष्टि से बृहत्कथा और रामायण में बड़ा अन्तर है। नरवाहनदत्त और गोमुख के पराक्रम प्रायः कवि के समय की लोक-प्रचलित और पथिकों से सुनीसुनाई कहानियों पर आश्रित है। ये कहानियां श्रमिकों, नाविकों वणिकों और पथिकों को बड़ी प्रिय लगने वाली हैं। लेखक का उद्देश्य सर्वसाधारण के लिए पैशाची भाषा में एक सुगम साहित्यिक सन्दर्भ प्रस्तुत करना था, न कि समाज के उच्च श्रेणी के लोगों के लिए संस्कृत में किसी ऐतिहासिक अथवा औपाख्यानिक नृप की जीवनी या आचार-स्मृति सम्पादित करना। गुणाढ्य में मौलिकता की बहुलता थी। सच तो यह है कि उसका ग्रन्थ अपने ढंग का अनूठा ग्रन्थ है।

गुणाढ्य के पात्रों के चरित्र का अङ्कन बड़ा भव्य है। बड़ों में ही नहीं, छोटे पात्रों में भी व्यक्तित्व की खूब झलक है। नरवाहनदत्त अपने पिता उदयन से अधिक गुणशाली है। उसके शरीर पर तीस सहज

सौभाग्य-चिह्न हैं, जो उसके दूसरा सुगत अथवा एक सम्राट बनने के द्योतक हैं। यह न्याय का अवतार दिखाई देता है। गोमुख राष्ट्रनीति-कुशल, विद्वान् और चालाक है। उसकी तुलना यथार्थतया सचिव यौगन्धरायण के साथ की जा सकती है। नायिका मदनमञ्जुका की पूर्ण उपमा मृच्छकटिक की नायिका वसन्तसेना से दी जा सकती है।

(घ) रचना का रूप (गद्य अथवा पद्य)—'गुणाढ्य ने गद्य में लिखा या पद्य में? इस प्रश्न का सोलहों आने सही उत्तर देना सम्भव नहीं है। बृहत्कथा के उपलभ्यमान तीनों ही संस्करण पद्यबद्ध हैं और उनसे यही अनुमान होता है कि मूल ग्रन्थ भी पद्यात्मक ही होगा। काश्मीरी संस्करण में उपलब्ध बृहत्कथा के निर्माण-हेतु की कहानी कहती है कि गुणाढ्य ने वस्तुतः सात लाख पद्य लिखे थे, जिन में से नृप सातवाहन केवल एक लाख को नष्ट होने से बचा सका था। इसके विरुद्ध दण्डी कहता है कि 'कथा' गद्यात्मक काव्य को कहते हैं; जैसे—बृहत्कथा[1]। दण्डी के मत पर यूँ ही झटपट हड़ताल नहीं फेरी जा सकती; कारण, दण्डी पर्याप्त प्राचीन है और सम्भव है उसने किसी न किसी रूप में स्वयं बृहत्कथा को देखा हो। हेमचन्द्र ने बृहत्कथा में से एक गद्य-खण्ड उद्धृत किया है। इससे दण्डी के मत का समर्थन होता है। यह दूसरी बात है कि पर्याप्त ऊर्ध्वकालीन होने से हेमचन्द्र की बात पर अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता।

(ङ) पैशाची भाषा का जन्मदेश—यही सुना जाता है कि गुणाढ्य ने यह ग्रन्थ पैशाची भाषा में लिखा था। काश्मीरी संस्करण के अनुसार गुणाढ्य का जन्म-स्थान गोदावरी के तट अवस्थित प्रतिष्ठान नगर और बृहत्कथा का उत्पादन-स्थान विन्ध्यगिरि का गर्भ था। इससे

---

१. अपादः पदसन्तानो गद्यमाख्यायिका कथा,
इति तस्य प्रभेदो द्वौ..................॥ (काव्यादर्श १, २३)
भूतभाषामयीं प्राहुरद्भुतार्थां बृहत्कथाम् ॥ (काव्यादर्श १, ३८)

तो यही परिणाम निकाला जा सकता है कि पैशाची बोली का जन्म-प्रदेश विन्ध्य पर्वत है। दूसरी ओर, सर जार्ज ग्रियरसन ने पिशाची बोलियों के एक वर्ग का प्रचार-क्षेत्र भारत का उत्तर-पश्चिमीय प्रान्त बतलाया है। उसके मत से इन बोलियों का सीधा सम्बन्ध पुरातन पैशाची भाषा से है और इन दिनों ये काफिरिस्तान में चितराल गिलगित और स्वात के प्रदेशों में बोली जाती हैं। उत्तर-पश्चिम की इन पिशाच-बोलियों में 'द' के स्थान पर 'त' और इसी प्रकार अन्य कोमल व्यञ्जनों के स्थान पर भी उन्हीं-जैसे कठोर व्यञ्जन बोले जाते हैं। परन्तु यही प्रवृत्ति विन्ध्यपर्वत की भाषाओं में भी पाई जाती है। लैकोट का विचार है कि शायद गुणाढ्य ने पैशाची भाषा उत्तर-पश्चिम के किन्हीं यात्रियों से सीखी हो। किन्तु यह विचार दिल को कुछ लगता नहीं। फिर, और भी-कई कठिनाइयाँ हैं। पैशाची भाषा में केवल एक सकार-ध्वनि का सद्भाव पाया जाता है; परन्तु उत्तर-पश्चिम की पिशाच-बोलियों में अशोक के काल से लेकर भिन्न-भिन्न सकार-ध्वनियाँ विद्यमान चली आ रहीं हैं। इसका रत्तीभर प्रमाण नहीं मिलता कि गुणाढ्य कभी भी उत्तर-पश्चिमीय भारत में रहा हो। इसके अतिरिक्त राजशेखर हमें बतलाता है कि पैशाची भाषा देश के एक बड़े भाग में, जिसमें विन्ध्याचल श्रेणी भी सम्मिलित हैं, व्यवहृत होती थी। अतः प्रकरण को समाप्त करते हुए यही कहना पड़ता है कि प्रमाणों का अधिक भार पैशाची के विन्ध्यवासिनी होने के पक्ष में ही है।

(च) काल—यह निश्चय है कि बृहत्कथा ईसा की छठी शताब्दी से पहले ही लिखी गई थी; क्योंकि दण्डी ने अपने काव्यादर्श में इसका उल्लेख करते हुए इसे भूतभाषा में लिखी हुई कहा है। बाद में सुबन्धु और बाण ने भी अपने ग्रन्थों में इसका नाम लिया है। सम्भव है मृच्छकटिक के कर्ताने बृहत्कथा देखी हो और वसन्तसेना का चरित्र मदनमञ्जुका के चरित्र पर ही चित्रित किया हो; परन्तु दुर्भाग्य से

मृच्छकटिक का काल अनिश्चित है¹। लैकोट ने गुणाढ्य को सातवाहन का समकालभव होने के कारण ईसा की प्रथम शताब्दी में रक्खा है। इसके विरुद्ध मत वालों का कथन है कि सातवाहन केवल वंश-वाचक नाम है; अतः इससे कोई असन्दिग्ध परिणाम नहीं निकाला जा सकता है। कातन्त्र व्याकरण के कर्ता शर्वशर्मा के साथ नाम आने के कारण गुणाढ्य ईसा की प्रथम शताब्दी के बाद का मालूम होता है।

(छ) ग्रन्थ का महत्त्व—(१)—बृहत्कथा महान् महत्त्व का ग्रन्थ है। लोकप्रिय कहानियों का प्राचीनतम ग्रन्थ होने के अतिरिक्त यह भारतीय साहित्य-कला को सामग्री देने वाला विशाल भण्डार है।

(२) अपने से ऊर्ध्वकाल के संस्कृत-साहित्य पर प्रभाव डालने वाले ग्रन्थों में इसका स्थान रामायण और महाभारत केवल इन दो ग्रन्थों के बाद है। ऊर्ध्वकालीन लेखकों के लिए प्रतिपाद्य अर्थ तथा प्रकार दोनों की दृष्टि से यह अक्षय निधि सिद्ध हुआ है।

(३) बृहत्कथा की कहानियाँ एक ऐसे काल की ओर संकेत करती हैं, जो हमें भारत के इतिहास में ऐतिहासिक दृष्टि से अविस्पष्ट प्रतीत होता है इन कहानियों को जाँच-पड़ताल करने वाले की दृष्टि से देखा जाए, तो इनसे तत्कालीन भारतीय विचारों और रीति-रिवाजों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता प्रतीत होगा।

(४) बृहत्कथा भारतीय साहित्य के विकास में एक महत्त्वपूर्ण अवस्था की सीमा का निर्धारण करती है।

(९०) बुद्ध स्वामी का श्लोक संग्रह (८ वीं या ९ वीं श०)

बुद्धस्वामी के ग्रन्थ का पूरा नाम बृहत्कथा श्लोकसंग्रह है अतः जाना जाता है कि इस ग्रन्थ का उद्देश्य पद्यरूप में बृहत्कथा का संक्षेप देना है। यह ग्रन्थ केवल खण्डितरूप में उपलब्ध होता है और पता नहीं लेखक ने इसे पूरा लिखा था या अधूरा ही छोड़ दिया था। इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रतियाँ नेपाल से मिली हैं; अतः इसका नाम नेपाली संस्करण रक्खा गया है किन्तु इस ग्रन्थ या ग्रन्थकार का

नेपाल के साथ सम्बन्ध जोड़ने में कोई हेतु दिखाई नहीं देता। इसका समय ईसा की आठवीं या नवीं शताब्दी माना जाता है।

क्षयावशिष्ट खण्डित प्रति में २८ सर्ग और ४५३९ पद्य हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार ने किसी न किसी रूप में असली बृहत्कथा को पढ़ा था। पाठक उदयन की कथा से परिचित है, यह कल्पना करके वह एक एक करके नरवाहनदत्त की प्रेम-कथाओं को कहना प्रारम्भ कर देता है। काश्मीरी संस्करणों के साथ तुलना करने से प्रतीत होता है कि विवरण में महान् भेद है। दोनों देशों के संस्करणों में भेद केवल कथा के क्रम का ही नहीं, कथा के अन्तर आत्मा के स्वरूप का भी है। इसके अतिरिक्त काश्मीरी संस्करणों में प्रक्षेप भी पर्याप्त है। उदाहरण के लिए पंचतन्त्र के एक संस्करण की कुछ कथाएँ और समग्र वैतालपंच-विंशतिका को लिया जा सकता है। प्रारम्भ में यही समझा जाता था कि काश्मीरी संस्करणों का आधार अधिकतया असली बृहत्कथा ही है, किन्तु बुद्धस्वामी के ग्रन्थ की उपलब्धि ने इस विचार को बिलकुल बदल दिया है। तीनों संस्करणों के समान प्रकरणों की तुलना करने से जान पड़ता है कि शायद क्षेमेन्द्र और सोमदेव को बुद्धस्वामी के ग्रन्थ का पता था और उन्होंने उसका संक्षेप कर दिया है। कम से कम यह कहना तो बिलकुल सच है कि काश्मीरी संस्करण के कई उपाख्यान अप्रासङ्गिक प्रतीत होते हैं और श्लोकसंग्रह को पढ़े बिना उसका अभिप्राय समझ में नहीं आता है।

काश्मीरी संस्करणों में आए प्रक्षिप्तांशों के विषय में दो समाधान होते हैं—या तो बृहत्कथा की वह प्रति, जो काश्मीर में पहुँची, पहले ही उपबृंहित हो चुकी थी और उसमें पंचतन्त्र का एक संस्करण एवं समग्र वैतालपंचविंशतिका प्रविष्ट थी; या संक्षेप-कारकों ने अपने कर्तव्य को ठीक ठीक नहीं अनुभव किया और अपने क्षेत्र की सीमाओं के अन्दर ही अन्दर रहने की सावधानता नहीं वरती।

शैली—श्लोकसंग्रह की शैली सरल, स्पष्ट और विच्छित्तिशालिनी है। यदि शैली सरल न हो, तो ग्रन्थ लोकप्रिय साहित्य में स्थान नहीं पा सकता। पात्रों का निर्माण स्पष्ट और निर्मल है। रचना के प्रत्येक अवयव में स्वाभाविकता का रंग है। ऐसा भासित होता है कि वर्ण्यमान स्थानों को लेखक ने आप देखा था। मूल का नैतिक कण्ठ-स्वर इस ग्रन्थ में अत्यन्तर उदात्त है। भाषा में आए हुए प्राकृत के अनेक शब्दों ने एक विशेषता उत्पन्न कर दी है। लेखक संस्कृत का पण्डित है और उसे लुङ् लकार के प्रयोग करने का शौक है।

(९१) क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामञ्जरी (१०६३-६ ई०)।

जैसा नाम से प्रकट है बृहत्कथामञ्जरी बृहत्कथा का संक्षेप है। क्षेमेन्द्र की लिखी रामायणमञ्जरी और भारतमञ्जरी के देखने से विदित होता है कि वह एक सच्चा संक्षेप लेखक था। उसकी बृहत्कथामञ्जरी में कथासरित्सागर के २१३८८ पद्यों के मुकाबिले पर केवल ७५०० पद्य हैं। बहुधा संक्षेप-कला को एक सीमा तक खींच कर ले जाया गया है; इसीलिए मञ्जरी शुष्क, निरुच्छ्वास, अमनोरम, प्रायः दुर्बोध, और तिरोहितार्थ भी है और कथासरित्सागर को देखे बिना स्पष्टार्थ नहीं होती। कदाचित् ये मञ्जरियां पद्य-निर्माण-कला का अभ्यास करने के लिए लिखी गई थीं[1]। यदि यह ठीक है तो निसर्गतः बृहत्कथा-मञ्जरी का जन्म कवि के यौवन काल में हुआ होगा। क्षेमेन्द्र केवल संक्षेप-लेखक ही नहीं है। अवसर आने पर वह अपनी वर्णन-शक्ति दिखलाने में प्रशान्त होता है और घटनाओं को वस्तुतः आकर्षक और उत्कृष्ट शैली में वर्णन करता है। यह ग्रन्थ १०६३-६ में लिखा गया था।

प्रतिपाद्य अर्थ की दृष्टि से बृहत्कथामंजरी कथासरित्सागर से अत्यन्त मिलती-जुलती है; दोनों ग्रन्थ एक ही काल में एक ही देश

१. यह एक तथ्य है कि कवि का विश्वास था कि नवशिक्षित कवि को ऐसी रचना करके काव्य-कला का अभ्यास करना चाहिए।

में और एक ही आधार पर लिखे गए थे। ग्रन्थ के अठारह खण्ड हैं जिन्हें लम्भक, (संभवतया वीर्य-कर्मों के अथवा विजय के द्योतक) कहा गया है। कथापीठ नामक प्रथम लम्भक में गुणाढ्य की बृहत्कथा की उत्पत्ति की कथा है; द्वितीय और तृतीय लम्भक में उदयन का और इसके द्वारा पद्मावती की प्राप्ति का इतिहास है। चतुर्थ लम्भक में नरवाहनदत्त के जन्म का वर्णन है। अवशिष्ट लम्भकों में नरवाहनदत्त की अनेक प्रेम कहानियों का, मदन मंजुका के साथ संयोग होने का और विद्याधरों के देश का राज्य प्राप्त करने का वर्णन है। ग्रन्थ में उपाख्यानों का जाल फैला हुआ है, जिसमें मुख्य कथा का धागा प्रायः उलझ जाता है। हाँ, कुछ उपाख्यान वस्तुतः रोचक और आकर्षक हैं। छठे लम्भक में सूर्य-प्रभा का उपाख्यान है। इसमें कवि ने वैदिक उपाख्यानों को बौद्ध उपाख्यानों और लोक-प्रचलित विश्वासों के साथ मिलने का कौशल दिखलाया है। पन्द्रहवें लम्भक में महाभारत के एक उपाख्यान से मिलता-जुलता एक उपाख्यान आया है। इसमें नायक श्वेतद्वीप की विजय के लिए निकलता है। इस स्थल पर अलंकृत काव्य की शैली में नारायण से एक मर्म-स्पर्शिनी प्रार्थना की की गई है।

(९२) सोमदेव का कथासरित्सागर (१०८१-८३)

कथासरित्सागर का अर्थ है—कथा रूप नदियों का समुद्र। लैकोटे ने (बृहत्) कथा की (कहानी रूप) नदियों का समुद्र माना है। लैकोटे के अर्थ से यह अर्थ अधिक स्वाभाविक है। इसे काश्मीर के एक ब्राह्मण सोमदेव ने, क्षेमेन्द्र से शायद थोड़े ही वर्ष पश्चात्, लिखा था। यह आकार में क्षेमेद्र के ग्रन्थ से तिगुना एवं ईलियड और ओडिसी के संयुक्त आकार से लगभग दुगुना है। यह ग्रन्थ काश्मीर के अनन्त नामक प्रान्त की दुःखित रानी सूर्यमती के मनोविनोदार्थ लिखा गया था। राजा ने १०८१ ई० में आत्म-हत्या कर ली थी और रानी उसकी चिता पर सती हो गई थी।

सोमदेव का ग्रन्थ अठारह खण्डों में विभक्त है, जिन्हें क्षेमेन्द्र के ग्रन्थ के खण्डों के समान, लम्भक का नाम दिया गया है। इन अठारह खण्डों के चौबीस उपखण्ड हैं। इसका नाम है तरंग[1]। यह इस ग्रन्थ में एक नवीनता है। बाद में इसी को कल्हण ने भी अपना लिया है। पाँचवें खण्ड तक इस ग्रन्थ की रूपरेखा वही है, जो बृहत्कथा-मञ्जरी की; किन्तु आगे जाकर इसके प्रतिपाद्य अर्थ के क्रम में कवि ने जो परिवर्त्तन कर दिया है, उससे पढ़ते समय पाठक की अभिरुचि अक्षीयमाण रहती है और दो खण्डों की संधि स्वाभाविक दिखाई देने लगी है। सोमदेव की कहानियाँ निस्सन्देह रोचक और आकर्षक हैं। उनमें जीवन है और नवीनता है, तथा उसके स्वरूप में अनेक-विधता है। इसके अतिरिक्त वे हमें सरल, स्पष्ट और विच्छित्ति-शालिनी शैली में भेंट की गई हैं। सारे २१३८८ पद्यों में से केवल ७६१ पद्यों का ही छंद अनुष्टुप्[2] नहीं है। इसमें लम्बे-लम्बे समास, क्लिष्ट वाक्य-रचना और अलङ्कारों का प्रयोग बिलकुल नहीं पाया जाता। लेखक का उद्देश्य सीधी-सादी कथा के द्रुत-वेग को निर्बाध चलने देना है। वह इस कार्य में सफल भी खूब हुआ है।

ये कहानियाँ बड़ी ही रोचक हैं। इनमें से कई पञ्चतन्त्र के संस्क

---

१. बृहत्कथामंजरी के उपखंडों का नाम है गुच्छ।

२. परोपकार के महत्त्व का वर्णन करने वाला वक्ष्यमाण पद्य इसकी शैली का उत्तम नमूना पेश करता है—

> परार्थफलजन्मानो न स्युर्मार्गद्रुमा इव।
> तपच्छदो महान्तश्चेज् जीर्णारण्यं जगद् भवेत्॥

अर्थात् दूसरों को फल खिलाने वाले, धूप का निवारण करने वाले मार्ग में खड़े हुए बड़े-बड़े वृक्षों के तुल्य परोपकार करने वाले दूसरों का कष्ट निवारण करने वाले महा (पुरुष) न हों, तो जगत् पुराने जंगल (के समान निवास के अयोग्य) हो जाए।

रण से ली गई हैं और ईसा की पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल की हैं[1]। इन कहानियों में मूर्खों, धूर्तों और शठों की कहानियां बड़ी रोचक हैं। कुछ कहानियां स्त्रियों के प्रेम-पाश की भी दी गई हैं। इनमें से कुछ वस्तुतः चारित्र्य का निर्माण करने वाली हैं। प्रवञ्चक तापसी के 'भूतेन्द्रयानभिद्रोहो धर्मो हि परमो मतः[2]' उपदेश का देवस्मिता पर कोई असर नहीं हुआ। देवस्मिता के कौशल के सामने उसके भावी प्रेमियों की एक नहीं चली। वह उन्हें विष-घुली शराब पिला देती है; कुत्ते के आयसी पंजे से उनके माथे को दाग देती है; और उन्हें गन्दगी से भरी एक खाई में फेंक देती है। बाद में वह उन्हें चोर घोषित कर देती है। शठों के साथ यही व्यवहार सर्वथा उचित था। कुछ कहानियां बौद्ध-रंग में रंगी हुई देखी जाती हैं। उदाहरणार्थ हम उस राजा की कहानी ले सकते हैं; जिसने अपनी आंखें निकलवा डाली थीं। इसके अतिरिक्त पोत-भंग और कर्पूर-देश इत्यादि के वर्णन तथा समुद्र और स्थल-सम्बन्धी आश्चर्य-जनक घटनाओं की कुछ कहानियां भी हैं। प्रकृति वर्णन की भी उपेक्षा नहीं की गई है।

(९३) वेतालपञ्चविंशतिका

इस ग्रन्थ में पच्चीस कहानियां हैं। इनका वक्ता एक वेताल (राव में बसा हुआ भूत) और श्रोता नृप त्रिविक्रमसेन[3] है। आज कल यह ग्रन्थ हमें बृहत्कथामञ्जरी और कथासरित्सागर में सम्मिलित मिलता है; परन्तु सम्भव है मूलरूप में यह कभी एक स्वतन्त्र ग्रन्थ हो। बाद के इसके कई संस्करण उपलब्ध हैं। इसमें से एक, जो (१२वीं या और

---

१. ये कहानियां सङ्घसेनलिखित एक ग्रन्थ में पाई जाती हैं। इसका अनुवाद लेखक के ही शिष्य गुणवृद्धि ने ४९२ ई० में चीनी भाषा में किया था।

२. (पञ्च) भूतों से इन्द्रियों को सुखी करना ही सबसे बड़ा धर्म है।

३. बाद के संस्करणों में राजा का नाम विक्रमादित्य आया है।

भी बाद की शताब्दी के) शिवदास[1] की रचना समझी जाती है। यह गद्य में है; और जिसके रचयिता का पता नहीं है वह मुख्यतया क्षेमेन्द्र के ग्रन्थ के आधार पर लिखा गया प्रतीत होता है। जम्भलदत्त और वल्लभदास के संस्करण और भी बाद के हैं। ग्रन्थ की अत्यन्त लोकप्रियता का प्रमाण इसीसे मिलता है कि भारत की प्रायः सभी भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है।

ग्रन्थ की रूप-रेखा जटिल नहीं है। एक राजा किसी प्रकार किसी महात्मा से उपकृत हुआ। महात्मा ने कहा कि जाओ उस श्मशान में पेड़ पर उलटी लटकती हुई लाश को ले आओ। राजा ने आज्ञा शिरोधार्य की। परन्तु लाश में एक वेताल (प्रेतात्मा) का निवास था, जिसने राजा से प्रतिज्ञा करा ली कि—यदि तू चुप रहे तो मैं तेरे साथ चलनेको तैयार हूँ।

मार्ग में वेताल ने एक जटिल कहानी कहने के बाद राजा से उसका उत्तर पूछा। प्रतिभाशाली राजा ने तत्काल उत्तर दे दिया। राजा का उत्तर देना था कि वेताल तत्काल छू मन्तर हो गया। बिचारे राजा को फिर लाश को लाने जाना पड़ा। फिर पहली जैसी ही घटना हुई। इस प्रकार नाना-प्रकार की कहानियाँ कही गई हैं। उदाहरण के लिए, एक कन्या की कहानी आती है। वह एक राक्षस के पंजे में पड़ गई। उसकी जान बचाने के लिए उसके तीन प्रणयियों में से एक ने अपने कौशल से उस कन्या के गोपनार्थ एक स्थान बताया, दूसरे ने अपनी आश्चर्यजनक शक्ति से उसके लिए विमान का प्रबन्ध किया और तीसरे ने अपने पराक्रम से उस राक्षस को पराभूत किया। अब स्वयमेव

---

१. शालिवाहन कथा और कथार्णव इन दो कथा सन्दर्भों का कर्ता भी शिवदास ही प्रसिद्ध है। प्रथम सन्दर्भ में गद्य और पद्य दोनों अठारह सर्ग हैं और इसके उपजीव्य बृहत्कथामञ्जरी और कथासरित्सागर हैं। द्वितीय सन्दर्भ में मूर्ख, द्यूतव्यसनी, शठ, प्रवञ्चक इत्यादि की पैंतीस रोचक और शिक्षाप्रद कहानियां हैं।

प्रश्न उठता है कि तीनों में से कौन कन्या को प्राप्त करे। राजा ने तत्काल उत्तर दिया, 'जिसने पराक्रम किया'। पच्चीसवीं कहानी को सुनकर राजा उत्तर सोचने के लिए चुप हो गया। तब बेताल ने महात्मा रूप धारी साधु के कपट का भण्डा फोड़ते हुए राजा को वह सारा उपाय कह सुनाया, जिसके द्वारा साधु राजा को मारना चाहता था। इसके बाद वेताल ने राजा को बच निकलने का मार्ग भी बतला दिया।

शिवदास के लिखने की शैली सरल, स्वच्छ और आकर्षक है। भाषा सुगम और लावण्यमय है। श्लेष बहुत कम है। अनुप्रास का एक उदाहरण देखिए—

स धूर्जटिजटाजूटो जायतां विजयाय वः।
यत्रैकपलितभ्रान्तिं करोत्यद्यापि जाह्नवी[1] ॥

(९४) शुकसप्तति

शुकसप्तति में सत्तर कथाएँ संग्रहीत हैं। इनका वक्ता एक तोता[2] और श्रोत्री पति को सन्देह की दृष्टि से देखने वाली मैना है। किसी वणिक् का पुत्र मदनसेन परदेश जाते समय घर पर अपनी पत्नी की देख-रेख करने के लिए एक तोते और एक कव्वे को छोड़ गया। ये दोनों पक्षी के रूप में वस्तुतः दो गन्धर्व थे। मदनसेन की भार्या धर्म-च्युत होने को तय्यार हो गई। कव्वे ने धर्मपथ पर दृढ़ रहने की शिक्षा दी, तो उसे मौत की धमकी दी गई। चतुर तोते ने अपनी स्वामिनी की हाँ में हाँ मिलाते हुए उससे पूछा कि—क्या तुम इस मार्ग में आने

---

१. महादेव की जटाओं का वह जाल, जिस पर गंगा आज भी आधे भाग के पलित (बुढ़ापे से श्वेत) हो जाने का भ्रम पैदा करती है, आपको विजयदायी हो।

२. यह कोइ आश्चर्य की बात नहीं है। पुनर्जन्म-वाद में पशु-पक्षी भी मनुष्यों के समान ही यथार्थ जीवधारी माने जाते हैं। बाण की कादम्बरी में कथा का वक्ता तोता है, यह हम पहले ही देख चुके हैं।

वाले विघ्नों को दूर करने का भी उपाय जानती हो, जिन्हें अमुक-अमुक व्यक्ति काम में लाए थे। न जानती हो तो मैं तुम्हें कहानी द्वारा बतला सकता हूँ। वणिक की वधू ने तोते की बात को पसन्द करते हुए कहानी सुनने की इच्छा प्रकट की। तोते ने रात को कहानी सुनाई। कहानी के अन्त में विघ्न का वर्णन आने के बाद अमुक अमुक व्यक्ति द्वारा काम में लाया हुआ उसके दूर करने के उपाय का वर्णन आया। कहानियों को आपस में कुछ इस तरह गूँथा गया है कि तोता हर रात को नई से नई समस्या खड़ी कर देता है। जब तोता सत्तरवीं कहानी सुना चुका, तब तत्काल ही उसका स्वामी मदनसेन परदेश से लौट आया। तोते का उद्देश्य मदन सेन की पत्नी को पाप-पथ पर प्रवृत्त होने से रोके रखना था; वह पूरा हो गया। कहानियों में असती स्त्रियों की चालाकियों का ही वर्णन अधिक आया है।

सारे का विचार करके देखने से ग्रन्थ रोचक कहा जाएगा। यह सरल गद्य में लिखा हुआ है। बीच-बीच में कोई कोई औपदेशिक और कथा प्रतिपादक पद्य आ गया है। कुछ पद्य प्राकृत भाषा में हैं। इनके आधार पर यह धारणा की गई है कि मूल-ग्रन्थ प्राकृत भाषा में ही था, परन्तु इस धारणा के पोषक अन्य प्रमाण उपलब्ध नहीं होते हैं। इस ग्रन्थ के दो संस्करण मिलते हैं। एक का रचयिता कोई चिन्तामणि भट्ट और दूसरे का कोई अज्ञातनामा श्वेताम्बर जैन कहा जाता है। ग्रन्थ लोक-प्रिय है और इसने आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य पर कुछ प्रभाव भी डाला है। इसके समय का पता नहीं। सम्भवतया यह किसी न किसी रूप में जैन हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) को विदित था।

(९५) सिंहासनद्वात्रिंशिका

सिंहासनद्वात्रिंशिका में बत्तीस कथाएँ हैं। इनकी कहने वाली विक्रमादित्य के सिंहासन में लगी हुई पुतलियां हैं। कहा जाता है कि

विक्रमादित्य ने अपना सिंहासन इन्द्र से प्राप्त किया था। उसके स्वर्गवासी हो जाने पर यह सिंहासन भूमि में गाड़ दिया गया। बादमें इसका पता लगाने वाला धाराधिपति भोज (११ वीं श० में) हुआ। जब वह इस पर बैठने लगा तब पुतलियों ने ये कहानियाँ उसे सुनाईं। इस ग्रन्थ के उपलभ्यमान अनेक संस्करण इसकी लोक-प्रियता के परिचायक हैं। (इनमें से कुछ संस्करण कथा-सूचक पद्यों से मिश्रित गद्य में हैं, कुछ पद्य में हैं, जिनमें बीच-बीचमें औपदेशिक पद्य भी हैं, और कुछ केवल पद्य में हैं)। इसका अनुवाद आधुनिक भाषाओं में भी हो गया है। विक्रमादित्य के 'विक्रम-कर्म' संस्कृत कवियों को अपनी रचनाओंके प्रतिपाद्यार्थ के लिए कभी बड़े प्रिय थे। अतः इस ग्रन्थ की रोचकता में कोई न्यूनता नहीं आई। भाषा सरल है। ग्रन्थ के रचयिता के नाम और ग्रन्थ के निर्माण के काल का ठीक ठीक कुछ पता नहीं। बहुत कुछ निश्चय के साथ हम केवल यही कह सकते हैं कि यह वेतालपंचविंशतिका के बाद की रचना है।

(९६) बौद्ध साहित्य

अब तक हम लोक-प्रिय कथाओं का शुद्ध ब्राह्मणिक-साहित्य का ही वर्णन करते आए हैं। किन्तु लौकिक साहित्य की इस शाखा में बौद्ध और जैन साहित्य बड़े सम्पन्न हैं। इस तथा अगले खण्ड में हम इन्हीं साहित्यों पर विचार करेंगे। बौद्ध कहानियों का मुख्य उद्देश्य अपने धर्म का प्रचार करना है। उनमें मनुष्य के कर्मों के फल की व्याख्या है। बुद्ध की भक्ति से परलोक में आनन्द मिलता है। इससे पराङ्मुख रहने वालों को नरक की यातना भोगनी पड़ती है। यहाँ उल्लेख के योग्य प्राचीनतम ग्रन्थ अवदान हैं। इनमें वीर्य-कर्मों या गौरवशालिनी उपार्जनाओं (Achievements) का वर्णन है।

(क) अवदानशतक

प्राप्य अवदान सन्दर्भों में अवदानशतक सबसे पुराना सन्दर्भ समझा जाता है। ईसा की तीसरी शताब्दीके पूर्वार्ध में ही इसका अनुवाद चीनी

भाषा में हो चुका था, अतः इसका निर्माण-काल ईसाकी प्रथम या द्वितीय शताब्दी माना जा सकता है। इससे पुराना यह हो नहीं सकता; कारण, इसमें 'दीनार' शब्द पाया जाता है। इसका मुख्य आधार बौद्धों के सर्वास्तित्ववादिमतका विनयपिटक है। ग्रन्थ दस दर्शकोंमें विभक्त है। इसकी कहानियों का जितना महत्त्व उपदिश्यमान शिक्षाओं के कारण है, उतना साहित्यिक गुणोंके कारण नहीं। ग्रन्थमें कुछ गद्य है और कुछ पद्य। पद्य-भाग सरल काव्य के ढंग का है। कुछ उपाख्यान ऐतिहासिक भी हैं। उदाहरण के लिए बिम्बसार की रानी श्रीमती को ले सकते हैं। कहानी बतलाती है कि अजातशत्रु ने इसे बुद्ध के भस्मादि अवशेष को श्रद्धा-ञ्जलि भेंट करने से मना किया। आज्ञा भंग के अपराध पर राजा ने इसका वध करवा दिया तो यह सीधी स्वर्ग को चली गई।

(ग) दिव्यावदान—यह उपाख्यानों का संग्रह ग्रन्थ है। इन उपाख्यानों का मुख्य आधार सर्वास्तित्ववादियों का विनयपिटक ही है। इसके एक भाग में महायान सम्प्रदाय के और दूसरे में हीनयान के सिद्धान्तों का व्याख्यान है। इसके संग्रहकर्ता को अश्वघोष के बुद्धच-रित और सौन्दरानन्द का परिचय अवश्य था। इसकी साहित्यिक उपार्जनाएं (Achievements) उच्च श्रेणी की नहीं हैं। नन्द के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए अश्वघोष कहता है—'अतीत्य मर्त्यान् अनुपेत्य देवान्[1]' (सौन्दरा० ५) इसी बात को भद्दी करके यह गुप्त के पुत्र के सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ यूं कहता है—'अतिक्रान्तो मानुषवर्णम् असम्प्राप्तश्च दिव्यवर्णम्'[2]।

दिव्यावदान में शैली की एकता का अभाव है। शायद इसका यह कारण हो कि इसके उपजीव्य ग्रन्थ भिन्न भिन्न हैं। कभी कभी

---

१. मनुष्यों से ऊपर उठाकर, देवताओं तक न पहुँच कर।

२. मनुष्यों के रंग से बाजी ले गया था, देवताओं के रंग तक पहुंच नहीं पाया था।

इसमें कथाकथन पूर्ण पद्यों से मिश्रित गद्य आ जाता है; तो कभी कभी काव्य-पद्धति पर लिखे हुए पद्यों से प्रसाधित गद्य।

ग्रन्थ का संग्रह-काल ईसा की दूसरी शताब्दी के आस-पास माना जा सकता है। यह उपर्युक्त अवदानशतक से नवीन है और २६५ ई० से अच्छा खासा करके पुराना है; क्योंकि, इसी सन् में इसके शार्दूल कर्णावदान नामक एक मुख्य उपाख्यान का चीनी भाषा में अनुवाद हुआ था। कहानियां रोचक हैं और विभिन्न रसों की उत्पत्ति करती हैं। अशोक के पुत्र कुणाल की कहानी वस्तुतः करुणरसपूर्ण है। कुणाल की सौतेली माता ने अपने पति के पेट में घुसकर कुणाल की आंखें निकलवा ली थीं।

(ख) आर्यशूरकृत जातकमाला

जातकमाला का अभिप्राय है जन्म की कथाओं का हार। आर्यशूर की जातकमाला में बोधिसत्त्व[1] के गौरवशाली कृत्यों की कथाओं का संग्रह है, अर्थात् इसमें गौरवप्रद उन कार्यों का वर्णन है जो भावी बुद्ध ने पहले जन्मों में किये थे[2]। आर्यशूर की जातकमाला जैसे वर्ण्य वस्तु के लिए अश्वघोष के काव्यों की ऋणी है। यह ग्रन्थ और बोधिसत्त्वावदानमाला[3] दोनों एक ही माने जाते हैं। ये ईसाइयों की औपदेशिक कहानियों से अधिक मिलती हैं, अतः ये ईसाइयों की उपदेश की छोटी छोटी पुस्तकों के समान बुद्ध-धर्म के स्वीकृत सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए लिखी हुई मानी जाती हैं। ग्रन्थ में ग्रन्थोद्देश्य

---

१. जो व्यक्ति पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के मार्ग पर चल पड़ा है और सर्वोच्च बुद्ध की अवस्था प्राप्त करने तक जिसे कुछ थोड़े से ही जन्म धारण करने पड़ेंगे, वह बोधिसत्त्व कहलाता है।

२. यह विश्वास किया जाता है कि बुद्ध को अपने पूर्वजन्म की घटनाएँ याद थीं।

३. दोनों नामों की एकता का विचार सबसे पहले राजेन्द्रलालमित्र ने प्रकट किया था।

पाठक के मन में सद्धर्म की भावना उत्पन्न करना या प्रबल करना बताया गया है।

कहानियों की भाषा कुछ तो सुन्दर गद्य-मय और कुछ काव्य-श्रेणी की पद्यात्मक है। प्रत्येक कहानी का प्रारम्भ सरल गद्य-खण्ड से होता है और इसका उद्देश्य आचारपरक एक निश्चित शिक्षा देना है। दान का माहात्म्य दिखलाने के लिए बोधिसत्त्व के उस जन्म की कहानी दी गई है जिसमें वह शिविराजकुल में उत्पन्न हुआ था। उसने इतना दान दिया था कि भिक्षुओं को मांगने के लिए वस्तु शेष नहीं रही थी। एक बार किसी अन्धे वृद्ध ब्राह्मण ने[1] आकर उससे एक आँख माँगी तो उसने ब्राह्मण को अपनी दोनों आँखें दे-दीं। मंत्रियों ने बहुतेरा कहा कि आप इस अन्धे ब्राह्मण को कोई और चीज दान में दे दीजिये, परन्तु राजा ने एक न मानी। राजा का उत्तर बड़ा ही महत्त्वशाली है। वह कहता है—

यदेव याच्येत तदेव दद्यान्नानीप्सितं प्रीणयतीह दत्तम्।
किमुह्यमानस्य जलेन तोयैर्दास्याम्यतः प्रार्थितमर्थमस्मै[2] ॥

जब मन्त्रियों ने पुनः आग्रह किया तब राजा ने बड़ा ऊर्जस्वी विचार प्रकट करते हुए कहा—

नायं यत्नः सार्वभौमत्वामाप्तुं नैव स्वर्गं नापवर्गं न कीर्तिम्।
त्रातुं लोकानित्ययं त्वादरो मे, याञ्चाक्लेशो मा च भूदस्य मोघः[3] ॥

१. वस्तुतः यह इन्द्र था जो उसकी दानशीलता की परीक्षा लेने आया था।

२. याचित ही वस्तु देनी चाहिये। याचित से भिन्न वस्तु दी जाए तो वह याचक को प्रसन्न नहीं करती। जलधारा में बहते हुए को जल से क्या लाभ। इसलिए मैं तो इसे प्रार्थित ही पदार्थ दूंगा।

३. मेरा यह प्रयत्न न साम्राज्य प्राप्त करने के लिये है, न स्वर्ग, न मुक्ति और न कीर्त्ति। मेरी कामना तो लोक की रक्षा करना है। इसका माँगने का क्लेश निष्फल न रहे।

प्रायः हम यह पाते हैं कि यज्ञीय द्रव्य और यज्ञ-हेतु में कोई आनुपातिक भाग नहीं है। इसीलिए एक कहानी में हमें बताया गया है कि बोधिसत्त्व ने एक भूखी सिंहनी को खाने के लिए अपना शरीर दे दिया था।

आर्यशूर प्रकाण्ड पण्डित था और भगवान् ने इसे लिखने की विशेष योग्यता प्रदान की थी। इसकी भाषा अविदूषित और शब्दविन्यास शुद्ध है। इसकी शैली ईसा की दूसरी और तीसरी शताब्दी के शिलालेखों से मिलती है। इसके अतिरिक्त यह छन्द के प्रयोग में प्रवीण है और उत्पाद्य-मान रस के अनुरूप छन्द का प्रयोग करना जानता है। इसके छन्दों में से कुछेक अव्यवहृत भी हैं और कलाकार की निर्मित कविता की शोभा बढ़ाने वाले हैं। पद्यों में इसने भिन्न भिन्न अलङ्कारों का भी प्रयोग किया है। देखिए इन पंक्तियों में कितना सरल और सुन्दर अनुप्रास है—

ततश्चकम्पे सधराधरा धरा, व्यतीत्य वेलां प्रससार सागरः।[1]

(शिबिजातक, ३८)

गद्य में इसने दीर्घ समासों का प्रयोग किया है; किन्तु अर्थ में धुंधलापन कहीं कहीं ही आया है। इसके शानदार गद्य का एक आदर्शभूत उदाहरण देखिए—

अथ बोधिसत्त्वो विस्मयपूर्णमनोभिर्मन्दनिमेषप्रविकसितनयनैरमात्यैरनुयातः पौरैश्चाभिवीक्ष्यमाणो जयाशीर्वचनपुरःसरैश्च ब्राह्मणैरभिनन्द्यमानः पुरवरमुच्छ्रितध्वजविचित्रपताकं प्रवितन्यमानाभ्युदयशोभमभिगम्यपर्षदि निषण्णः सभाजनार्थमभिगतस्यामात्यप्रमुखस्य ब्राह्मणवृद्धपौरजानपदस्यैवमात्मोपनायिकं धर्मं देशयामास।

क्योंकि यह ग्रन्थ पालि-ग्रन्थों पर आश्रित है और बौद्ध-सम्प्रदाय

---

१. तब पर्वत और मैदान सभी हिल गए, समुद्र का पानी किनारों पर चढ़कर दूर तक फैल गया।

सम्बन्धी है; अतः इसमें कहीं-कहीं पाली के शब्दों का आ जाना विस्मय-जनक नहीं है।

काल—तारानाथ ने मामूली-सी वजह से आर्यशूर और अश्वघोष को एक व्यक्ति मानने का विचार प्रस्तुत किया है। उक्त महाशय ने अश्वघोष के कुछ और प्रचलित नाम भी दिए हैं; परन्तु इससे हम किसी निश्चित परिणाम पर नहीं पहुँच सकते हैं। अश्वघोष के काव्यों और जातकमाला में शैली की इतनी विषमता है कि उक्त विचार पर गम्भीरता से विचार करने का अवसर नहीं रहता।

जातकमाला १००० ई० के लगभग चीनी भाषा में अनूदित हो गई थी, और इसके रचयिता आर्यशूर का नाम तिब्बत में एक ख्यातनामा अध्यापक एवं कथा-लेखक के तौर पर प्रसिद्ध था। ७ वीं शताब्दी का चीनी यात्री इत्सिङ्ग इस ग्रन्थ से परिचित था। कर्मफलसूत्र, जिसका रचयिता यही आर्यशूर माना जाता है, ४३४ ई० में चीनी में अनूदित हो गया था; अतः आर्यशूर का काल ईसा की चौथी या तीसरी शताब्दी के समीप मान सकते हैं।

(६७) जैन साहित्य

बौद्ध कहानियों की तरह जैन कहानियाँ भी औपदेशिक ही हैं। उन का उद्देश्य पाठक-मनोरञ्जन नहीं, धर्म के सिद्धान्तों की शिक्षा देना है।

(क) सिद्धर्षि की उपमितिभव प्रपञ्च कथा (९०६ ई०)

उपमितिभव प्रपञ्च कथा में मनुष्य की आत्मा का वर्णन अलंकार के सांचे में ढाल कर[1] एक कथा के रूप में किया गया है। संस्कृत में अपने ढंग का सबसे पुराना ग्रन्थ होने के कारण यह महत्त्वशाली माना जाता है। इसे ९०६ ई० में सिद्धर्षि ने लिखा था। प्रस्तावना के अन्त में

---

१. इस प्रकार का दूसरा ग्रन्थ प्रबोध चन्द्रोदय नाटक है जो बाद में बना था।

लेखक ने इसे स्वयं विशदार्थ कर दिया है। अतः अलंकार का समझना कठिन नहीं है। ग्रन्थ के बीच में कहीं-कहीं आए हुए पद्यों को छोड़ कर सारा गद्य ही है। भाषा इतनी सरल है कि उसे बालक भी आसानी से समझ सकते हैं—कम से कम लेखक का उद्देश्य यही है। शैली रोचक है; परन्तु अलंकार के सांचे में ढला हुआ, तथा औपदेशिक प्रकार का होने के कारण ग्रन्थ रोचक नहीं है।

(ख) हेमचन्द्रकृत परिशिष्ट पर्व (१०८८–११७२ ई०)

हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व में प्राचीन काल के जैन साधुओं की कहानियां दी गई हैं। ये कहानियां सरल और लोकप्रिय हैं। लेखक के मन में अपने धर्म-प्रचार का भाव इतना उग्र है कि ऐतिहासिक नृप चन्द्रगुप्त भी जैनधर्मावलम्बी एक सच्चे भक्त के रूप में मरा बतलाया गया है। आश्चर्य है कि प्रसिद्ध इतिहासकार विन्सेंट स्मिथ ने इस कहानी पर विश्वास कर लिया। यह ग्रन्थ इसी लेखक के त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित नामक ग्रन्थ का पूरक है।

अध्याय १४

औपदेशिक जन्तु-कथा (Fable)

(९८) औपदेशिक जन्तु-कथा का स्वरूप

भारतीय साहित्य-शास्त्री बृहत्कथा जैसे और पञ्चतन्त्र जैसे ग्रन्थों में पारस्परिक कोई भेद नहीं मानते हैं। परन्तु इन दोनों का तुलनात्मक अध्ययन दोनों का भेद विस्पष्ट कर देता है। बाह्याकार, प्रतिपाद्य विषय और अन्तरात्मा एक दूसरे के समान नहीं हैं। बृहत्कथा का प्रयोजन पाठक का मनोरञ्जन करना और पञ्चतन्त्र का प्रयोजन धर्मनीति और राजनीति की शिक्षा देना है। पूर्वोक्त की रचना सरल गद्य में या वर्णन-कृत पद्य में या दोनों के संयोग में हुई है, परन्तु उपरोक्त में बीच-बीच में औपदेशिक पद्यों से संयुक्त शोभाशाली गद्य देखा जाता है। उपरोक्त में कथाओं के शीर्षक तक पद्य-बद्ध दिए गए हैं। लोकप्रिय कथा साहित्य में अन्धविश्वास, लोकप्रचलित दन्तकथायें, प्रणय और वीर्य-कर्मों (Adventures) की कहानियाँ, स्वप्न और प्रतिस्वप्न इत्यादि हुआ करते हैं, परन्तु पञ्चतन्त्र में हम प्रायः पशु-पक्षियों की कहानियाँ पाते हैं। ये पशु-पक्षी मानवीय संवेदनाओं से युक्त-प्रतीत होते हैं, तथा विद्वान् राजनीतिविद् एवं चतुर धर्मनीति व्याख्याता के रूप में प्रकट होते हैं। लोक-प्रिय कथा से इसका भेद दिखलाने के लिए पञ्च-तन्त्र को औपदेशिक जन्तु-कथा-साहित्य में सम्मिलित किया जाता है।

(६६) औपदेशिक जन्तु-कथा का उद्भव

वैदिक साहित्य में विशेष करके ऋग्वेद में, औपदेशिक जन्तु-कथाओं का ढूँढना व्यर्थ है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है पञ्चतन्त्र के स्वरूप के मुख्य तत्व पशु-पक्षियों की कथाएं तथा नीति-शिक्षाएँ हैं। ऋग्वेद में (८, १०३) केवल एक ऐसा सूक्त है जिससे प्रतीत होता है कि यज्ञ में मन्त्रोच्चारण करने वाले ब्राह्मणों की तुलना वर्षा के प्रारम्भ में टर्राते हुए मेंढकों से की गई है। इसके बाद कुछ उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् में मिलते हैं। उदाहरण के लिए हम देखते हैं कि सत्यकाम का प्रथम शिक्षादायी एक बैल, उसके बाद एक राजहंस और फिर एक और पक्षी है। महाभारत में जन्तु-कथाएँ प्रारम्भिक अवस्था में देखने को मिलती हैं। हम एक पुण्यात्मा बिल्ली की कहानी पढ़ते हैं, जिसने चूहों के जी में अपना विश्वास जमा कर उन्हें खा लिया। विदुर ने धृतराष्ट्र को समझाते हुऐ कहा था कि आप पाण्डवों को परेशान न करें, उनको परेशान करने से ऐसा न हो कि सोने का अण्डा देने वाला पक्षी आपके हाथ से जाता रहे। एक और अवसर पर एक चालाक गीदड़ की कथा आई है जिसने अपने मित्र व्याघ्र, भेड़िये इत्यादि की सहायता से खाने के लिए खूब माल पाया; परन्तु अपनी धूर्तता से उन्हें इसका जरासा भी भाग न दिया। कहानी से दुर्योधन को समझाया गया है कि उसे पाण्डवों के साथ किस तरह बरतना चाहिए।

बौद्धधर्म के प्रादुर्भाव ने औपदेशिक जन्तु-कथा साहित्य की उन्नति में सहायता की। पुनर्जन्मवाद में यह बात मानी जाती है कि मनुष्य शरीर में वास करने वाली आत्मा पाप-पुण्य के अनुसार तिर्यगादि की योनि में जाती रहती है। पुनर्जन्म के इस सिद्धान्त पर भारतीय धर्मों में बड़ा बल दिया गया है। जैसा हम उपर देख चुके हैं कि बौद्धों और जैनों ने अपने अपने धर्म के मन्तव्यों का प्रचार करने के लिए कहानी को एक अभ्रान्त साधन बना लिया था। बौद्ध जातकों में बोधिसत्त्व एवं दूसरे सन्तों के पूर्वजन्मों के चरित्र का वर्णन करने के लिए पशु-पक्षियों की

कथाएँ पाई जाती हैं। भर्हुत के स्थान पर बौद्ध जातकों का स्मारक साक्ष्य है, वह निश्चय रूप से बतलाता है कि ईसापूर्व दूसरी शताब्दी में जन्तु-कथाएँ बड़ी लोकप्रिय थीं। पतञ्जलिकृत महाभाष्य में आए लोकोक्ति-सम्बन्धी कुछ उल्लेखों से भी इसकी पुष्टि होती है।

दूसरे तत्त्व के—नीति-शिक्षा तत्त्व के—बारे में यह सविश्वास कहा जा सकता है कि पञ्चतन्त्र का रचयिता नीति-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र का अधमर्ण है। रचयिता का प्रतिज्ञात प्रयोजन राजा के निरक्षर कुमारों को अनायासतया नीति की[1]—राजनीति, व्यावहारिक ज्ञान और सदाचार की—शिक्षा देना है। यह बात असंशयित ही समझनी चाहिए कि पञ्चतन्त्रकार को चाणक्य के ग्रन्थ का एवं राजनीति विषयक कुछ अन्य सन्दर्भों[2] का पता था। साधारण जन्तु-कथाओं के साथ नीति-शास्त्र के सिद्धान्तों का चतुरता-पूर्वक मिश्रण करके औपदेशिक जन्तु कथा-साहित्य की सृष्टि की गई जैसा कि हम पञ्चतन्त्र में प्रत्यक्ष देखते हैं, जो संस्कृत साहित्य के इतिहास में निरुपम है। यह अपने प्रकार का आप ही है।

---

१. [पञ्चतन्त्र के एक संस्करणभूत] हितोपदेश का अधोलिखित पद्य देखिए—कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते (भूमिका पद्य ८)

अर्थात्—कथाओं के बहाने से बालकों को नीति सिखाने वाली बातें इस ग्रन्थ में लिखी जाती हैं।

भूमिका में स्वयं पञ्चतन्त्र को नीति-शास्त्र कहा गया है और कहा गया है कि जगत् के सारे अर्थ-शास्त्रों का सार देख चुकने के बाद यह ग्रन्थ लिखा जाता है।

२. भूमिका में लेखक ने नीति शास्त्र के नाना लेखकों के प्रमाण करते हुए कहा है :—

मनवे वाचस्पतये शुकाय पराशराय ससुताय।
चाणक्याय च विदुषे नमोऽस्तु नयशास्त्रकर्तृभ्यः॥

(१००) असली पञ्चतन्त्र

(१) असली ग्रन्थ का नाम—असली ग्रन्थ का नाम अवश्य पञ्चतन्त्र ही होगा। दक्षिण की प्रतियों में, नेपाल की प्रतियों में, हितोपदेश में और उन सम्पूर्ण संस्करणों में जिनमें कोई नाम दिया गया है, यही नाम आता है। उदाहरण के लिए हितोपदेश का कर्ता शुद्ध मन से कहता है :—

पञ्चतन्त्रात् तथाऽन्यस्माद् ग्रन्थादाकृष्य लिख्यते[1] (भूमिका पद्य९)।

पञ्चतन्त्र की भूमिका में लिखा है :—

एतत् पञ्चतन्त्रकं नाम नीतिशास्त्रं बालावबोधनार्थं भूतले प्रवृत्तम्।

नाम में आए हुए 'तन्त्र' शब्द का अर्थ है किसी ग्रन्थ का एक अध्याय या खण्ड। आभ्यन्तरिक साक्ष्य से भी इसका समर्थन होता है—

तन्त्रैः पञ्चभिरेतच्चकार सुमनोहरं शास्त्रम्।

इस प्रकार के नाम और भी मिलते हैं। यथा, अष्टाध्यायी (आठ अध्यायों की एक पुस्तक। पाणिनि के व्याकरण का नाम)। शायद 'तन्त्र' शब्द का अभिप्राय उस 'ग्रन्थ खण्ड से' है जिसमें 'तन्त्र' का अर्थात् राजनीति का और व्यवहारोपयोगी ज्ञान का निरूपण हो। प्रो० हर्टल ने 'तन्त्र' का अर्थ दाव-पेच किया है; परन्तु इसे बुद्धि स्वीकार नहीं करती।

(२) ग्रन्थ की जनप्रियता—इसकी जनप्रियता का प्रमाण इसी तथ्य में निहित है कि इसके दो सौ से अधिक संस्करण मिलते हैं, जो पचास से अधिक भाषाओं में हैं; और इन भाषाओं में तीन-चौथाई के लगभग भाषाएँ भारत से बाहर की हैं। ११०० ई० में इसका भाषान्तर हिब्रू में हुआ और १५७० ई० से पूर्व यह यूनानी, स्पेनिश, लैटिन, जर्मन, पुरानी स्लैवोनिक, ज़ैक और इंग्लिश में भी अनूदित हो चुका था। आजकल इसका पठन-पाठन जावा से लेकर आइसलैण्ड तक होता है।

---

१. पञ्चतन्त्र और दूसरे ग्रन्थों से आशय लेकर यह ग्रन्थ लिखा जाता है।

भारत में तो यह ग्रन्थ और भी अधिक लोकप्रिय चला आ रहा है। इसका उल्था[१] मध्यकालीन तथा वर्तमान भारतीय भाषाओं में होकर उसका उल्था फिर संस्कृत में हुआ। इसे पद्य का रूप देकर फिर उसे गद्य का रूप दिया गया। इसका प्रसारण भी हुआ और आकुञ्चन भी। इतना ही नहीं, इसकी कुछ कहानियों ने सर्वसाधारण में प्रचलित कहानियों का रूप धारण कर लिया और फिर उनका सङ्कलन मौखिक कहानियों के आधुनिक संग्रह में हो गया। यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि इसके समान जगत् का कोई अन्य ग्रन्थ लोक का प्रीतिभाजन नहीं हो सका।

(३) पञ्चतन्त्र के संस्करण—दुर्भाग्य से मौलिक पञ्चतन्त्र अलभ्य है। हाँ, इसके प्राप्य संस्करणों की सहायता से किसी सीमा तक उसका पुनर्निमाण हो सकना असम्भव नहीं है। इसके विविध संस्करणों के तुलनात्मक अध्ययन से यह विस्पष्ट है कि—

(क) उन सब संस्करणों की उत्पत्ति आदर्शभूत किसी एक ही साहित्यिक ग्रन्थ से हुई है (अन्यथा गद्य और पद्य दोनों में उपलभ्यमान अनेक शाब्दिक अभेद का कारण बताना असम्भव है)।

(ख) इन संस्करणों में घुसी हुई त्रुटियाँ मौलिक ग्रन्थ तक नहीं पहुँचती हैं।

मौलिक पञ्चतन्त्र के पुननिर्माण में वक्ष्यमाण संस्करण सहायक हो सकते हैं—

(१) क—तन्त्रख्यायिका॥

---

१. लोक-प्रिय कथाओं के ग्रन्थों ने (जैसे, पञ्चविंशतिका, शुकसप्तति और द्वात्रिंशतिकाने) पञ्चतन्त्र का स्वतंत्रता से उपयोग किया है और पञ्चतंत्र के अनुवाद ब्रजभाषा, हिंदी, पुरानी और आधुनिक गुजराती, पुरानी और आधुनिक मराठी, तामिल इत्यादि भाषाओं में पाये जाते हैं।

ख—(११०० ई० के आस-पास) किसी जैन द्वारा रचित संस्करण जिसे आजकल 'सरल ग्रन्थ (Textus Simplicior) का नाम दिया गया है।

ग—(११९९ ई० के आस-पास) पूर्णभद्र का प्रस्तुत किया हुआ संस्करण।

(२) क—दक्षिणी पञ्चतन्त्र।

ख—नैपाली पञ्चतन्त्र।

ग—हितोपदेश।

(३) क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामञ्जरी में और सोमदेव के कथा सरित्सागर में आया हुआ पञ्चतन्त्र का पाठ।

(४) पह्लवी संस्करण, जिसके आधार पर पाश्चात्य संस्करण बने।

ऐजर्टन ने (Edgerton) पञ्चतन्त्र के ऊपर बड़ा परिश्रम किया है। उसके मत से पञ्चतन्त्र परम्परा की चार स्वतन्त्र धाराएँ हैं (जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है)। प्रो० हर्टल के विचार में दो ही स्वतन्त्र धाराएँ हैं। दोनों के विचारों के भेद को नीचे दी हुई सारिणी से हम अच्छी तरह समझ सकते हैं--

हर्टल के मतानुसार वर्गीकरण
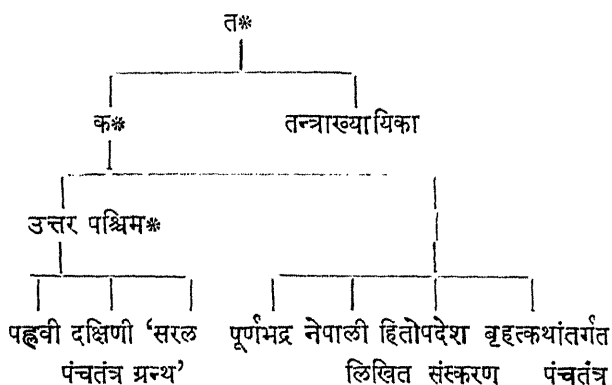
* यह चिह्न काल्पनिक संस्करण सूचित करता है।

ऐजर्टन (Edgerton) के मतानुसार वर्गीकरण
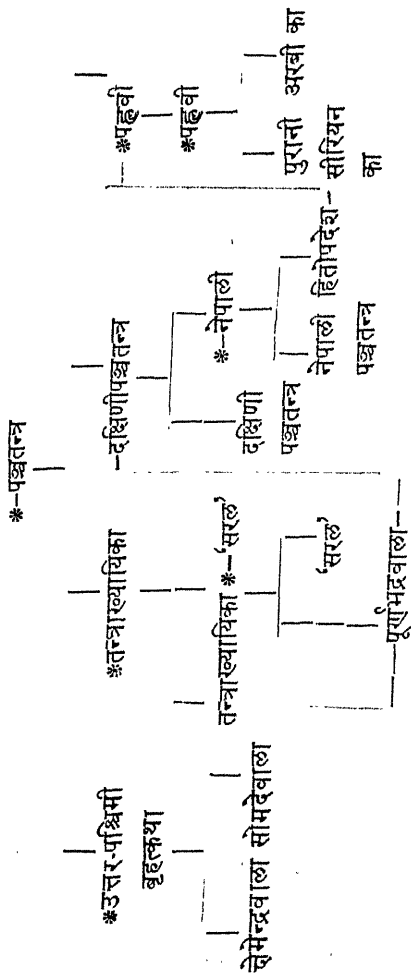
* यह चिह्न काल्पनिक संस्करण को सूचित करता है।

दोनों के मतों के भेद बड़े महत्त्व के हैं, क्योंकि मौलिक ग्रन्थ का पुनर्निर्माण इन्हीं पर आश्रित है।

(१) हर्टल की धारणा है कि सम्पूर्ण उपलभ्यमान संस्करणों का मूल एक दूषित आदर्शभूत ग्रन्थ (Prototype) है (जिसे सारणी में 'त' कहा गया है) ऐजर्टन के मतानुसार यह कोरी कल्पना है।

(२) हर्टल का अनुमान है कि तन्त्राख्यायिका को छोड़कर शेष सब संस्करणों का मूलाधार 'क' नामक मध्यस्थानस्थ एक आदर्शभूत ग्रन्थ है। ऐजर्टन कहता है यह भी तो एक कल्पनामात्र ही है। हर्टल के दृष्टिकोण से कोई पद्य या गद्य-खण्ड तभी असली माना जा सकता है जब कि वह तन्त्राख्यायिका में और कम से कम 'क' के एक प्रसव में मिले। दूसरी ओर एजर्टन का ख्याल है कि यदि कोई अंश दो स्वतन्त्र धाराओं में मिल जाए और चाहे तन्त्राख्यायिका में न भी मिले तो भी हम इस (अंश) को असली स्वीकार कर लेंगे।

(३) हर्टल की एक धारणा और है। वह कहता है कि उ० प० (उत्तर-पश्चिमीय) नामक, मध्यस्थानीय, एक आदर्शभूत संस्करण और है जिसके आधार पर दक्षिणी, पह्लवी एवं 'सरल' पञ्चतन्त्र बने हैं। किन्तु उसकी धारणा का साधक कोई प्रमाण नहीं है।

हर्टल के मत को मन नहीं मानता है। हर्टल कहता है कि पह्लवी दक्षिणी और 'सरल' पञ्चतन्त्र का आधार मध्यस्थानस्थ उ० प० संज्ञक कोई आदर्श-ग्रन्थ है; परन्तु इन ग्रन्थों के तुलनात्मक पाठ से दो बातों का पता लगता है। पहली, इन में परस्पर बड़े भेद हैं, और दूसरी, इनका प्रस्फुटन पञ्चतन्त्र-परम्परा की तीन स्वतन्त्र धाराओं से हुआ है। हर्टल का मत ठीक हो तो 'सरल' और तन्त्राख्यायिका में, या 'सरल' और पूर्णभद्रीय संस्करण में जितनी समानता हो उसकी अपेक्षा पह्लवी और 'सरल' में अधिक समानता होनी चाहिए। परन्तु अवस्था इससे बिल्कुल विपरीत है। इसी प्रकार यदि हर्टल का मत ठीक हो तो, हितोपदेश और दक्षिणी पञ्चतन्त्र में जितनी

समानता हो उसकी अपेक्षा हितोपदेश और पूर्णभद्रीय संस्करण में अधिक समानता होनी चाहिए। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है।

(४) **रचयिता**—उपोद्घात में आता है कि विष्णुशर्मा ने मिहिलारोप्य[1] नामक नगर के महाराज अमरशक्ति के तीन पुत्रों को छः महीने के अन्दर राजनीति पढ़ाने का भार अपने ऊपर लिया। उपोद्घात के तीसरे पद्य से शुद्ध रूप से प्रकट ही है कि यह इसका रचयिता विष्णुशर्मा ही था। यह मानने के लिए कोई कारण नहीं है कि यह नाम काल्पनिक है। हाँ, रचयिता के जीवन के विषय में कुछ मालूम नहीं है। इसने उपोद्धात के एक पद्य[2] में नाना देवताओं को नमस्कार किया है। इससे प्रतीत होता है कि यह कोई बौद्ध या जैन नहीं बल्कि एक उदार स्वभाव का ब्राह्मण था।

(५) **उत्पत्ति-स्थान**—असली पञ्चतन्त्र के उत्पत्ति-स्थान के बारे में निश्चित कुछ भी मालूम नहीं है। हर्टॅल का प्रस्तुत किया हुआ विचार यह है कि पञ्चतन्त्र का निर्माण काश्मीर में हुआ होगा, कारण असली पञ्चतन्त्र में शेर और हाथी का नाम नहीं आता है, ऊँट का नाम बहुत आता है। किन्तु यह युक्ति भी ठीक नहीं है। कुछ यात्राओं के नाम आते हैं, परन्तु उनसे भी कोई परिणाम निकालना कठिन है; क्योकि, ऐसे नाम सारे के सारे भारतवर्ष में प्रसिद्ध चले आ रहे हैं। यदि मिहिलारोप्य[2] नगर का राजा अमरशक्ति कोई वस्तुतः राजा हुआ है तो ग्रन्थकार कोई दाक्षिणात्य होगा। ग्रन्थ में ऋष्यमूक पर्वत

---

१. पाठान्तर महिलारोप्य है।

२. वह पद्य यह है—

ब्रह्मा रुद्रः कुमारो हरिवरुणयमा वह्निरिन्द्रः कुवेरश्,
चन्द्रादित्यौ सरस्वत्युदधी युगनगा वायुरूर्वी भुजङ्गाः।
सिद्धा नद्योऽश्विनौ श्रीर्दितिरदितिसुता मातरश्चण्डिकाद्या
वेदास्तीर्थानि यज्ञा गणवसुमुनयः पान्तु नित्यं ग्रहाश्च॥

का नाम आया है। यह पर्वत दक्षिण भारत में ही है। ग्रन्थकार को दाक्षिणात्य मान लेने पर इसका उल्लेख यथार्थ हो जाता है।

(६) काल—दीनार एक रोमन सिक्का है जिसका प्रचार कभी यूरोप से भारत तक हो गया था। एक पद्य[1] में इसका नाम आया है। समझा जाता है कि यह पद्य असली पञ्चतन्त्र का है। अतः असली ग्रन्थ ईसा के बाद का हुए बिना नहीं रह सकता। असली ग्रन्थ ५५० ई० से बहुत पहले लिखा जा चुका होगा; क्योंकि, ५५० ई० में बर्ज़ोई (Barzoe) द्वारा इसका अनुवाद पह्लवी में हो चुका था। वह संस्करण पह्लवी में अब अप्राप्य है, किन्तु इसका अनुवाद सन् ५७० ई० में बूद (Bud) ने पुरानी सीरियन भाषा में कर दिया था। अतः असली पञ्चतन्त्र का रचना-काल ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी में माना जा सकता है।

(७) भाषा—पुराविदों को इसमें प्रायः कोई विप्रतिपत्ति नहीं कि असली ग्रन्थ संस्कृत में ही लिखा गया था। यदि ऐसा न मानें तो नाना संस्करणों में जो एक-सी भाषा पाई जाती है, उसका क्या कारण बताया जा सकता है। इसके अतिरिक्त हम यह भी निश्चित रूप से जानते हैं कि ग्रन्थ क्षत्रिय-कुमारों के लिए लिखा गया था और इसका लेखक ब्राह्मण था। यह समझना कठिन है कि ऐसा ग्रन्थ कभी प्राकृत में क्यों लिखा जाता।

(१०१) पञ्चतन्त्र की वर्ण्यवस्तु

पञ्चतन्त्र में तन्त्र नामक पाँच अध्याय हैं। प्रत्येक की वर्ण्यवस्तु स्वतन्त्र है। प्रथम तन्त्र में उपोद्घात और सुहृद-भेद वर्णित है। चीनी

---

१. मालूम होता है डाक्टर हर्टल इस पद्य को कोई महत्त्व नहीं देते हैं। हर्टल का विश्वास है कि असली पञ्चतन्त्र ईसा से कोई २०० वर्ष पूर्व लिखा गया था। सच तो यह है कि अनेक कहानियां ईसा से २०० वर्ष पूर्व जैसे प्राचीन काल में भी बहुत पुराने काल से प्रचलित चली आ रही थीं।

जाल के ढंग पर एक में एक घुस कर कतिपय कहानियों की सहायता से दिखलाया गया है कि करटक और दमनक इन दो चालाक गीदड़ों ने चालाकी चल कर किस तरह सिंह पिङ्गलक और बृषभ सञ्जीवक इन दो सच्चे और सुखी मित्रों में फूट डलवा दी। पिङ्गलक को संजीवक की मृत्यु से शोक हुआ तो कुटिलमति दमनक ने उसे सान्त्वना दे दी और शनैः शनैः आप उसका प्रधानामात्य बन बैठा।

दूसरे तन्त्र का नाम है मित्र-सम्प्राप्ति। इसकी कहानी की स्थूल रूप-रेखा यही है कि कपोतराज चित्रग्रीव, मूषकेश्वर हिरण्यक, काकवर लघुपतनक, मृगाग्रणी चित्राङ्ग और कूर्मकुलतिलक मन्थर एक एक करके आपस में मित्र बन गए और फिर पारस्परिक सहयोग के बल से उन्होंने अनेक कठिनाइयों और विपत्तियों से त्राण पाया। कदाचित् यह तन्त्र पहले से अधिक रोचक है, और इसका मुख्यतया उपदिश्यमान पाठ है—

यानि कानि च मित्राणि कर्तव्यानि शतान्यपि—

मनुष्य को यथा सम्भव अधिक से अधिक मित्र बनने चाहिएँ।

तीसरे तन्त्र में कौए और उल्लू के वैर के दृष्टान्त से सन्धि-विग्रह का पाठ पढ़ाया गया है। कौओं का नेता उल्लू को पक्षिराज बनाने पर एतराज करता है। वह उल्लू को घृणास्पद कहता है और किसी नीच प्राणी को राजा बना लेने पर आने वाली विपत्तियों को बिल्ली और खरगोश की कहानी द्वारा विस्पष्ट करता है। नृप उल्लू कौओं से दुश्मनी निकालने का निश्चय करता है। कौओं का चतुर मन्त्री उल्लूओं में जाकर कहता है कि—मेरे हठी काकराज ने मुझे निकाल दिया है, मुझे शरण दीजिए। उल्लू उसे शीघ्र अपनी शरण में रख लेते हैं। यहां पर एक कहानी द्वारा शत्रु-वर्ग में भेद डालने के लाभ बतलाए गए हैं। अन्त में एक सुअवसर आने पर उल्लुओं के दुर्ग में आग लगा दी जाती है।

चौथे तन्त्र में लब्ध-प्रणाश का वर्णन है। एक बन्दर और एक नक्र में बड़ी घनिष्ट मित्रता थी। नक्र की पत्नी से यह बात सही न गई।

उसने बीमारी का दिखावा किया और कहा कि मुझे अगर आराम हो सकता है तो केवल बन्दर का कलेजा खाने से ही हो सकता है। विचारे नक्र को पत्नी की बात माननी पड़ी। उसने एक दिन बन्दर को अपने घर आने का निमन्त्रण दिया। जब नक्र बन्दर को जल के अन्दर अपने मकान को ले जा रहा था तो बन्दर को उसकी चलाकी का पता लग गया। उसने कहा—मित्र! तुमने पहले क्यों नहीं कहा? मैं अपना हृदय तो वृक्ष पर ही छोड़ आया हूँ। मूर्ख नक्र ने बन्दर की बात पर तत्क्षण विश्वास कर लिया और हृदय लिवा लाने के लिए वह बन्दर को पीठ पर चढ़ाए किनारे की तरफ मुड़ पड़ा। बन्दर ने वृक्ष पर चढ़ कर अपनी जान बचा ली। नक्र ने बन्दर से पुनः मित्रता जोड़ने और उसे घर बुलाने का प्रयत्न किया, पर बन्दर कब उसके चकमे में आने वाला था। बन्दर ने कहा—मैं गधा नहीं हूँ जो लौट पड़ूँ। बस अब गधे की कहानी प्रारम्भ हो जाती है। इसी तरह सिलसिला जारी रहता है।

पाँचवें तन्त्र में अविमृश्यकारिता की कहानियों का दिग्दर्शन है। कहानी में बतलाया गया है कि एक ब्राह्मण अपने शिशु की चौकसी करने के लिए एक नेवले को छोड़ गया और फिर किस तरह उसने अपने प्यारे उसी नेवले की हत्या कर डाली। नेवले का मुँह रुधिर से सना हुआ देखकर ब्राह्मण ने सोचा—इसने मेरे बच्चे को खा लिया है। वस्तुतः नेवले ने साँप को टुकड़े-टुकड़े करके शिशु की जान बचाई थी। तब ब्राह्मण की पत्नी को भी बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उसने एक नाई की कहानी सुनाई, जिसने सहकारी होकर अपनी स्त्री ही मार डाली थी। अन्त के दो तन्त्र बहुत ही छोटे हैं। पुराने कतिपय संस्करणों में उनका आकार घटाकर नहीं के बराबर-सा कर दिया गया है, जिससे वे पिछले तीन बड़े-बड़े तन्त्रों के परिशिष्ट से दिखाई देने लगे हैं[1]।

---

१. अधोऽङ्कित तालिका से प्रत्येक तन्त्र की काया का कुछ अनुमान हो सकता है—

(१०२) पञ्चतन्त्र की शैली

(१) ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है, उससे यह मालूम होगा कि पञ्चतन्त्र निश्चय ही औपदेशिक जन्तु-कथा की पुस्तक है, जिसका प्रतिज्ञात प्रयोजन मनोहर और आकर्षक रीति से राजनीति और व्यावहारिक ज्ञान की शिक्षा देना है। इसकी कहानियों में पाण्डित्य और हास्य रस दोनों हैं। तथा इनमें से अधिक में पात्र पशु हैं। कहानी और राजनीतिक उद्देश्य को ऐसे कौशल से एक जगह मिलाया गया है कि प्रत्येक कहानी स्वयं कहानी के रूप में भी रमणीय है और किसी-न-किसी धर्मनीतिक या राजनीतिक बात का सुन्दर दृष्टान्त भी है। उदाहरण के लिए प्रथम तन्त्र की प्रथम कथा ही लीजिए। इसमें एक बन्दर की मूर्खता का वर्णन है, जिसने आधे चिरे हुए दो तख्तों के ऊपर बैठकर उनमें फँसाए हुए खूँटे को बाहर खींचा, तो उसकी पूँछ तख्तों के बीच आ गई। इससे यही शिक्षा दी गई है कि किसी को दूसरे के काम में दखल नहीं देना चाहिए। प्रथम ही तन्त्र की इक्कीसवीं कहानी में महाभारत का प्रसिद्ध वाक्य 'शठं प्रति शाठ्यमाचरेत्'[1] विस्पष्ट किया

	नाम	पृष्ठ संख्या	श्लोक संख्या	कथा संख्या
	प्रस्तावना	३	१०	×
१म तन्त्र	मित्रभेद	९२	४६१	२२
२य तन्त्र	मित्रसंप्राप्ति	३९	१९९	६
३य तन्त्र	काकोलूकीय	४९	२५४	१६
४र्थ तन्त्र	लब्धप्रणाश	२६	८०	११
५म तन्त्र	अपरीक्षितकारिता	३७	९८	१४

ये अंक १९०२ में निर्णय-सागर प्रेस में मुद्रित संस्करण के अनुसार हैं।

१. इन कहानियों का उद्देश्य व्यावहारिक राजनीति की शिक्षा देना है, आचार की नहीं। अतः कुछ कहानियों में कूट-विद्या की शिक्षा भी

गया है। कोई आदमी परदेश जाते समय अपनी लोहे की वस्तुएँ अपने मित्र एक बनिये के पास धरोहर रख गया। परदेश से लौटने पर जब उन्हें माँगा, तो उत्तर मिला कि लोहे की चीजों को चूहे खा गये। आदमी होशियार था। वह बनिये के लड़के को साथ ले जाकर कहीं छुपा आया और आकर कहने लगा—मित्र ! दुःख है; तुम्हारे लड़के को श्येन लेकर उड़ गया। बनिये को लड़का वापिस लेने के लिए विवश हो उसकी सब चीजें देनी पड़ीं। पहले तन्त्र की अन्तिम कहानी बतलाती है कि मूर्ख मित्र से बुद्धिमान् शत्रु अच्छा है—एक स्वामी का सच्चा भक्त किन्तु मूर्ख सेवक था। एक दिन स्वामी सो रहा था। उसके मुँह पर बार-बार उड़ती हुई मक्खी को मारने के लिए सेवक ने तलवार चलाई, जिसने बेचारे स्वामी की जान ले ली। दूसरी ओर डाकुओं ने ब्राह्मणों की जान बचा दी।

(२) लेखक केवल मधुर कथावाचक और चतुर राजनीतिज्ञ ही नहीं, प्रत्युत वर्णन-कला का गुरु भी है। हम देखते हैं, प्रायशः वह मनोहारिणी सुन्दर कथा के कहने के आनन्द में मग्न हो जाता है। 'ग्रेट शार्ट स्टोरीज़ आव् दि वर्ल्ड' (Great Short Stories of the world) नामक आधुनिक कहानी-संग्रह में इन कहानियों को एक प्रधान स्थान दिया गया है।

(३) पात्रों द्वारा अन्त्यानुप्रास के पद्य बुलवाना इसकी रचना की एक और विशेषता है, देखिए, सिंह गीदड़ से कहता है—

न गोप्रदानं न महीप्रदानं न चान्नदानं हि तथा प्रधानम्।
यथा वदन्तीह बुधाः प्रदानं, सर्वप्रदानेष्वभयप्रदानम्[1] ॥ (१,३१३)

भरी है। प्रथम तन्त्र में कूट-विद्या-विशारद दो गीदड़ों की कथा आती है, जिन्होंने छल-कपट द्वारा सिंह और वृषभ दो घनिष्ठ मित्रों में फूट डलवा दी थी।

१. विद्वानों के विचार से विपद्यमान की रक्षा करना ही सबसे बड़ा

इन पद्यों की हासरसमयता, मधुरता और औचिती के कारण ही पञ्चतन्त्र सर्वोत्तम कथा-पुस्तकों की श्रेणी से बहुत ऊपर उठा हुआ है। यह कहना कठिन है कि इन सब पद्यों का रचयिता भी ग्रन्थकार ही है। कदाचित् उसने इनमें से बहुत से पद्य पुराने धार्मिक ग्रन्थों में से या अन्य प्रामाणिक पुस्तकों में से लिए होंगे[1]। ग्रन्थकार की बुद्धिमत्ता का परिचायक इन पद्यों का उचित निर्वाचन है।

(४) पंचतन्त्र की एक और विशेषता यह है कि प्रत्येक कथा का शीर्षक एक श्लोक में दिया गया है। इसी श्लोक में कथा से निकलने-वाली शिक्षा भी दे दी गयी है, और इसी में मुख्य-मुख्य कथा-पात्रों के नाम भी आ गये हैं। प्रथम तन्त्र की आठवीं कथा का शीर्षक देने वाला पद्य देखिए—

> बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्।
> वने सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः[2] ॥

पात्रों के नामों से युक्त पद्यों का एक उदाहरण लीजिए—

धर्म है। इस धर्म की बराबरी न गौ का दान कर सकता है, न पृथ्वी का और न अन्न का।

१. मालूम होता है कि लेखक को तीसरे तन्त्र की रूप-रेखा के लिए और व्याध का जाल लेकर उड़ जाने वाले कबूतरों की कथा के लिए संकेत महाभारत से (देखिए, १०, १ और ५, ६४) मिला होगा। महाभारत में पराजित कौरवों को समझाया गया है कि जैसे कौवों ने उल्लुओं पर रात में आक्रमण करके विजय प्राप्त की, वैसे ही तुम भी रात में पाण्डवों के डेरों पर छापा मार कर विजय प्राप्त कर लो। इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया गया मालूम होता है कि सूरज की रोशनी में देख सकने के कारण उल्लू बेवश होते हैं।

२. जिसमें बुद्धि है, उसमें बल भी समझो। मूर्ख के अन्दर बल कहाँ से आया। खरगोश ने वन में मद-मस्त शेर को मार डाला था।

अर्थस्योपार्जनं कृत्वा नैव भोगं समश्नुते ।
अरण्यं महदासाद्य मूढः सोमलिको यथा[1] ॥

(५) पञ्चतन्त्र में कथा वर्णन करने वाले कुछ उत्तम पद्य भी हैं। हरिण की कथा में एक पद्य आया है—

वात-वृक्ष-विधूतस्य मृगयूथस्य धावतः ।
पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि कदा तन्मे भविष्यति[2] ॥

ऐसे पद्यों की मौलिकता में सन्देह नहीं हो सकता। ऐसा मालूम होता है कि ये ग्रन्थ में स्वयं आ गए हैं; क्योंकि लेखक ने इस बात का बड़ा ध्यान रक्खा है कि वर्णन गद्य में ही दिया जाए (पद्य तो केवल औपदेशिक या शीर्षक सूचक ही हैं[3]) ।

(६) भाषा प्रायः सरल, शुद्ध और विशद है। यदि भाषा ऐसी न होती, तो तरुण राजकुमारों को नीति सिखाने का लेखक का प्रतिज्ञात उद्देश्य कैसे पूरा होता। पद्य प्रायः अनुष्टुप् छन्द में ही हैं। रामायण, महाभारत और स्मृतियों की शैली का अनुसरण करते हुए उनमें दीर्घ समास और क्लिष्टान्वयी वाक्य नहीं रक्खे गये हैं। कुछ उदाहरण देखिए—

आपत्काले तु सम्प्राप्ते यन्मित्रं मित्रमेव तत् ।
वृद्धिकाले तु संप्राप्ते दुर्जनोऽपि सुहृद् भवेत् ॥ (२, ११८)
उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।

---

१. धनसंग्रह करके भी मनुष्य उसका भोग नहीं कर सकता। मूर्ख सोमलिक घने जंगल में पहुँच कर उपार्जित धन को खो बैठा था।

२. ओह ! वह समय कब आएगा, जब मैं हवा और बारिस के झकोरे से सताए हुए, इधर-उधर दौड़ते हुए हरिणों की डार में पीछे-पीछे दौड़ता रहूँगा।

३. चम्पू में लेखक अपने सुभीते के अनुसार गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग करता है। अतः चम्पूओं में और जातकमालाओं में वर्णन-पूर्ण पद्य पर्याप्त देखे जाते हैं।

न हि सिंहस्य सुप्तस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥ (३, ३८८)
किं तया क्रियते धेन्वा या न सूते न दुग्धदा ।
कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान् न भक्तिमान् ॥ (उपोद्घात ७)

ये पद्य इतने सुगमार्थ हैं कि ये प्रायः प्रारम्भिक श्रेणी की पाठ्य-पुस्तकों में दिए जा सकते हैं।

कहीं-कहीं लेखक ने प्रयासापेक्षी पद्यों का भी प्रयोग किया है और उनमें दीर्घ समास भी रक्खे हैं। उदाहरणार्थ—

सिद्धिं प्रार्थयता जनेन विदुषा तेजो निगृह्य स्वकं,
सत्त्वोत्साहवताऽपि दैवविधिषु स्थैर्यं प्रकार्यं क्रमात्।
देवेन्द्रद्रविणेश्वरान्तकसमैरप्यन्वितो भ्रातृभिः,
किं क्लिष्टः सुचिरं त्रिदण्डमवहच्छ्रीमान् न धर्मात्मजः[1] ॥
(३, २३३)

परन्तु पञ्चतन्त्र के बाद के काव्य की शैली से इनकी शैली की तुलना करके देखा जाए तो ये पद्य बिलकुल ही सरल प्रतीत होंगे। अधोलिखित पद्य, जो राजा और मन्त्री के परस्पर सम्बन्ध का वर्णन करता है, मुद्राराक्षस नाटक में भी पाया जाता है—

अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि पार्थिवे च विष्टभ्य पादावुपतिष्ठते श्रीः।
सा स्त्रीस्वभावादसहा भरस्य तयोर्द्वयोरेकतरं जहाति[2] ॥

---

१. विधाता की गति [प्रबल] होने पर सिद्धि चाहने वाले समझदार आदमी को चाहे उसमें शक्ति और उत्साह भी हो, चाहिए कि धीरे-धीरे स्थिरता सम्पादित करे। क्या श्रीमान् धर्मनन्दन (युधिष्ठिर), इन्द्र, कुवेर और यम के तुल्य भाइयों वाला होकर भी देर तक त्रिदण्डधारी होकर कष्ट नहीं भोगता रहा ?

२. राजलक्ष्मी अत्युन्नत राजा और मन्त्री दोनों पर पैरों को जमाकर उनकी सेवार्थ उपस्थित होती है परन्तु स्त्री है, स्वभावतः बोझ बर्दाश्त नहीं कर सकती। अतऽ उनमें से किसी एक को छोड़ देती है।

गद्य की सरलता के बारे में क्या कहना। यह तो मानी हुई बात है कि उसमें दण्डी और बाण के गद्य की कठिनता का लेश मात्र भी नहीं है। सच तो यह है कि यह जातकमालाओं और चम्पुओं के गद्य से भी सुगम है। इसमें कृदन्त के प्रयोग प्रचुरता से पाए जाते हैं। भूतकाल के लिए प्रायः 'क्त' प्रत्ययान्त अथवा ऐतिहासिक लट् वाले पद का प्रयोग किया गया है। कर्तरि प्रयोग की अपेक्षा कर्मणि प्रयोग अधिक हुआ है।[1] कृदन्त अव्ययों और कृदन्त विशेषणों की बहुलता है। तिङन्त क्रियापदों के स्थान में कृदन्त क्रियापद व्यवहार में लाए गए हैं।

(१०३) तन्त्राख्यायिका

तन्त्राख्यायिका पंचतन्त्र का ही एक विकृत रूप है। इसकी केवल एक ही हस्ताङ्कित प्रति काश्मीर से शारदा-लिपि में लिखी मिली है। इसका पता वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में प्रो० हर्टल ने लगाया था। इसके दो उपरूप मिलते हैं। हर्टल ने उनके नाम अ (A) और ब (B) रक्खे हैं। हर्टल के मत से 'अ' अधिक मौलिक है, और ऐजर्टन के मत से 'ब'।

हर्टल ने तन्त्राख्यायिका के महत्त्व पर हद से ज्यादा ज़ोर दिया है[2]। हाँ, इससे इनकार नहीं हो सकता कि किसी और संस्करण की अपेक्षा तन्त्राख्यायिका में मूलांश अधिक है। इसमें मूल से जो जो भेद हैं वह मुख्यतया वृद्धि और विस्तार करने का अधिक है परित्याग

---

१. ऐसी शैली का अनुकरण करना सुगम है और इसीलिए विद्यार्थियों को सलाह दी जाती है कि वे ऐसी शैली को अपनाएँ।

२. हर्टल का विश्वास है कि तन्त्राख्यायिका ही एक ऐसा संस्करण है, जिसमें मूल पञ्चतन्त्र की भाषा असली रूप में विद्यमान है; यदि उसमें कहीं कोई परिवर्तन है भी, तो वह विचार से नहीं किया गया है। परन्तु इस मत के विरुद्ध जाने वाले और भी संस्करण हैं, जिनके बारे में भी बिलकुल यही राय प्रकट की जा सकती है।

और परिवर्तन का कम। इसमें बढ़ाई हुई कुछ कहानियाँ हैं—नील शृगाल (२,४) चतुर शृगाल (१,१३), तन्तुवाय सोमिलक (२,४), कुटिल कुट्टनी (३, ५), महाराज शिवि (३, ७), वृद्धसारस (३, ११), लशुन चोर (४, १), और बनावटी सिपाही (४, ३), इनमें से कुछ कहानियों में लुङ् लकार का पुनरुक्त प्रयोग पाया जाता है। इसीसे इनका प्रक्षिप्त होना सिद्ध होता है। इस ग्रन्थ के काल का निर्णय करना कठिन है।

(१०४) 'सरल' ग्रन्थ (The Textus Simplicior)

इस संस्करण के ग्रन्थ का पाठ रूप-रेखा और कार्य-वस्तु दोनों की दृष्टि से बहुत कुछ परिवर्तित पाया जाता है। पाँचों तन्त्रों का आकार प्रायः एक-जितना कर दिया गया है। असली पञ्चतन्त्र के तीसरे तन्त्र की कई कहानियां इसमें चौथे तन्त्र में रख दी गई हैं, और सभी तन्त्रों में कुछ नई बातें बढ़ा दी गई हैं। तीसरे, चौथे और पाँचवें तन्त्र के ढांचे परिवर्तन कर दिए गए हैं। उदाहरणार्थ, पाँचवें तन्त्र में मुख्यता नाई की कहानी को प्राप्त है, और इसी में एक दूसरी कथा डाल दी गई है। इन नई कहानियों में से कई वस्तुतः रोचक हैं। पहले तन्त्र की पांचवीं कथा में एक जुलाहा विष्णु बन बैठता है। परन्तु अपने आप को दिव्यांश का अवतार माननेवाले एक राजा की मूर्खता से उसकी कलई खुल जाती है। जब इस राजा ने अपने पड़ोसी राजाओं से लड़ाई प्रारम्भ कर दी और स्वयं पराजित होने के समीप आ गया, तब विष्णु को उसके यश के रक्षार्थ अवतार लेना पड़ा।

इसी संस्करण का पाठ तन्त्राख्यायिका के पाठ से बहुत मिलता है। इसमें असली पञ्चतन्त्र के लगभग एक तिहाई श्लोक आ गए हैं। इस संस्करण में ब्राह्मण, ऋषि-मुनियों के स्थान पर जैन साधुओं के उल्लेख हैं तथा दिगम्बर, नग्नक, क्षपणक, धर्म-देशना जैसे शब्दों का अधिक प्रयोग पाया जाता है। इससे अनुमान होता है कि इसका

निष्पादक कोई जैन था। सारे ग्रन्थ पर विचार करने से इसका निष्पादक अच्छी शैली का सिद्धहस्त लेखक प्रतीत होता है।

'सरल' ग्रन्थ में (The Textus Simplicior) माघ और रुद्रभट्ट के पद्य उद्धृत हैं। परन्तु यह पूर्णभद्र से (११९९ ई०) तो निस्सन्देह प्राचीन है। अतः इसका काल स्थूल रूप से ११०० ई० के आस-पास माना जा सकता है।

(१०५) पूर्णभद्र निष्पादित पञ्चतन्त्र

पूर्णभद्र का ग्रन्थ साधारणतः पञ्चाख्यानक[1] के नाम से प्रथित है। इसका निर्माण कुछ तन्त्राख्यायिका के और कुछ 'सरल' ग्रन्थ के आधार पर हुआ है। कुछ अंश किसी अप्राप्य ग्रन्थ से भी लिया प्रतीत होता है। इसमें कम से कम इक्कीस नई कहानियां हैं। इनमें से कुछ निस्सन्देह मनोहारिणी हैं। पहले तन्त्र की नौवीं कहानी में पशु की कृतज्ञता और मनुष्य की अकृतज्ञता का व्यतिरेक दिखलाया गया है। मालूम होता है लेखक नीति-शास्त्र में पूर्ण निष्णात था। इसकी शैली सुगम, सरल और शोभाशालिनी है। ग्रन्थ का निर्माण सोम नामक किसी मन्त्री को प्रसन्न करने के लिए सन् ११९९ ई० में किया गया था।

(१०६) दक्षिणीय पञ्चतन्त्र

दक्षिण में प्रचलित पञ्चतन्त्र पांच विविध रूपों में उपलब्ध होता है। इसका मुख्य आधार वह असली ग्रन्थ है, जो हितोपदेश का और नेपाली पञ्चतन्त्र का है। जैनों द्वारा निष्पादित उक्त दोनों संस्करणों की अपेक्षा इसमें मौलिक अंश—वस्तुतः अधिक है। एजर्टन के मत से इसमें आद्य पञ्चतन्त्र का तीन चौथाई गद्यांश और दो तिहाई पद्यांश सुरक्षित है। इसके पाँचों विविध रूपों में एक समुपबृंहित है,

---

१. कभी-कभी यही नाम उक्त 'सरल' ग्रन्थ के लिए भी आता है।

और उसमें छियानबे कथाएं हैं; शेष चारों न्यूनाधिक संक्षेपात्मक हैं और उनमें असली ग्रन्थ के महत्त्वशून्य भाग का बहुत-सा भाग सन्निविष्ट नहीं किया गया है। जैसे नेपाली में वैसे ही इसी दक्षिणीय में भी कालिदास का एक पद्य पाया जाता है और निस्संदेह यह कालिदास से बाद का है। इसमें भी अनेक प्रक्षिप्त कथाएँ हैं। उदाहरण के लिए गोपिका वाली कथा का नाम लिया जा सकता है।

(१०७) नेपाली संस्करण

नेपाली संस्करण की कई हस्ताङ्कित प्रतियां मिलती हैं। एक प्रति में केवल पद्य-भाग[1] ही है, परन्तु अन्य प्रतियों में पद्य के साथ-साथ संस्कृत या नेवारी भाषा में गद्य भी है। नेपाली संस्करण में दूसरे और तीसरे तन्त्र का क्रम-परिवर्तन हो गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने असली पञ्चतन्त्र का, जो हितोपदेश का आधार है, उपयोग अवश्य किया था। इस संस्करण का कोई निश्चित निर्माण-काल नहीं बतलाया जा सकता। इसमें कालिदास का एक पद्य उद्धृत है; अतः इतना ही निःशङ्क कहा जा सकता है कि यह कालिदास के बाद तैयार हुआ होगा।

(१०८) हितोपदेश

हितोपदेश पञ्चतन्त्र का वह विकृत रूप है, जिसका सम्बन्ध बङ्गाल से है। सच तो यह है कि इसने बङ्गाल में अन्य सब संस्करणों का प्रचार उन्मूलित कर दिया है। इसके लेखक का नाम नारायण[2]

---

१. इसमें एक गद्य-खण्ड भी है। वह अचानक अनवधानता से लिखा गया प्रतीत होता है।

२. देखिए, यावत् स्वर्णाचलोऽयं दवदहनसमों यस्य स्फुलिङ्गः।
तावन्नारायणेन प्रचरतु रचितः संग्रहोऽयंकथानाम् (४,१३८)

था। वह किन्हीं धवलचन्द्र[1] का कृपाभाजन था। लेखक ने भूमिका के प्रथम पद्य में धूर्जटि एवं १, १७२ में चन्द्रार्धचूड़ामणि ४, १३८ में चन्द्रमौलि को नमस्कार किया है। अतः अनुमान होता है कि यह शैव था। भूमिका के दूसरे और आठवें पद्य से जान पड़ता है कि इस ग्रन्थ के लिखने में लेखक का उद्देश्य बच्चों के समझाने योग्य सरल कथाओं का एक ऐसा सन्दर्भ तैयार करना था, जो संस्कृत भाषा की शिक्षा देने, वाक्चातुर्य सिखाने और राजनीतिक पाण्डित्य प्राप्त कराने में उपयोगी सिद्ध हो सके। लेखक ने कहा है : —

श्रुतो हितोपदेशोऽयं पाटवं संस्कृतोक्तिषु।
वाचां सर्वत्र वैचित्र्यं नीतिविद्यां ददाति च॥ (पद्य २)
यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्।
कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते॥

हितोपदेश का उपजीव्य पञ्चतन्त्र तथा एक कोई और ग्रन्थ है। लेखक ने भूमिका के नौवें पद्य में इस बात को स्वयं भी स्वीकार किया है। अनुसन्धान से अभी इस दूसरे ग्रन्थ का पता नहीं लगा सका है। कदाचित् यह कोई कथा-ग्रन्थ होगा, क्योंकि हितोपदेशकार कम से कम सतरह नई कथाएं देता है। इन सतरह में से केवल दो ही ऐसी हैं, जिनसे आचार की शिक्षा मिलती है। इससे एक तो यह सिद्ध होता है कि लेखक का उद्देश्य आचार की शिक्षा देना नहीं था; दूसरे यह कि उसने पञ्चतन्त्र की मूल रूप-रेखा का ही पूर्णतया अनुसरण किया है। शेष पन्द्रह कहानियों में से सात जन्तु-कथाएँ हैं—पांच प्रेम-पाश की और तीन वीर्य-कर्म की। चूहे की कहानी, जो क्रमशः बिल्ली, कुत्ता और चीता बन गया परन्तु ऋषि को मारने के कारण जिसे फिर चूहा बनना पड़ा, लेखक ने कदाचित् महाभारत से ली है। चतुर स्त्री

---

१. देखिए, श्रीमान् धवलचन्द्रोऽसौ जीयान् माण्डलिको रिपून्।
येनायं संग्रहो यत्नाल्लेखयित्वा प्रचारिताः॥ (४,१३९)

की (२, ६) कहानी शुक-सप्तति में और बीरबल की वेताल पञ्चविं-शतिका में आई है। नीति-शास्त्र के ग्रन्थों में से उसका मुख्य उपजीव्य कामन्दकीय नीतिसार था।

काल (१) हितोपदेश का नेपाली संस्करण १३७३ ई० का है; अतः यह इससे पूर्व ही बना होगा।

(२) इसने माघ और कामन्दकी से बहुत कुछ लिया है; अतः इसे इनके बाद का ही होना चाहिए।

(३) इसने 'भट्टारकवार' शब्द का प्रयोग किया है; अतः यह ९०० ई० के बाद का प्रतीत होता है।

(४) यह शुक-सप्तति और वेताल पञ्चविंशतिका का ऋणी है। किन्तु इससे काल का निश्चय करने में विशेष सहायता नहीं मिलती।

रूपरेखा—हितोपदेश चार भागों में विभक्त है, जिनके नाम हैं—मित्रलाभ, सुहृद्भेद, विग्रह और सन्धि। इनमें असली पञ्चतन्त्र के पहले और दूसरे तन्त्र का क्रम बदल दिया गया है, और तीसरे तथा पाँचवें तन्त्र को सन्धि और विग्रह नाम के दो भागों में कुछ नया रूप दे दिया गया है, चौथा तन्त्र बिल्कुल छोड़ दिया गया है। सन्धि अर्थात् चतुर्थ अध्याय में एक नई कहानी दी गई है और इसी अध्याय में असली पञ्चतन्त्र के पहले और तीसरे तन्त्र में से कई कहानियाँ सम्मिलित कर दी गई हैं। इस प्रकार बने हुए हितोपदेश में असली पञ्चतन्त्र के पद्य-भाग का लगभग एक तिहाई और गद्य-भाग का लगभग दो बटा पाँच भाग आ गया है।

शैली—लेखक का उद्देश्य है—बच्चों को संस्कृत भाषा और नीति सिखाना। इस उद्देश्य के अनुसार इसकी भाषा सरल, सुगम और रोचक है। कुछ उद्धृत पद्यों को छोड़ कर शेषांश में न तो दीर्घ समास हैं और न क्लिष्टान्वयी वाक्य। मूल पञ्चतन्त्र का पदे-पदे अनुसरण करने का प्रयत्न किया गया है, इसी लिए तिङन्त क्रियापदों

के स्थान पर कृदन्तीय क्रियापद और कर्तरि प्रयोग की जगह कर्मणि प्रयोग अधिक हैं। कुछ पद्य, लेखक के अपने बनाये प्रतीत होते हैं। इनसे लेखक की महती कवि-प्रतिभा का प्रमाण प्राप्त होता है। हितोपदेश का प्रचार केवल बंगाल में ही नहीं, सारे भारतवर्ष में है। यही कारण है कि इसका अनुवाद बँगला, हिन्दी और कई अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं में हो गया है। इसके पद्यों की सरसता का दिग्दर्शन करने के लिए देखिए—

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा॥ (भूमिका २५)
यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत्।

गद्य का भी उदाहरण लीजिये—

एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति॥ (भूमिका २०)

तद् भवतां विनोदाय काककूर्मादीनां विचित्रां कथां कथयामि। राजपुत्रैरुक्तम्—कथ्यताम्। विष्णुशर्मोवाच—श्रूयतां सम्प्रति मित्रलाभः; यस्यायमाद्यः श्लोकः।

(१०९) बृहत्कथा संस्करण अर्थात् उत्तरपश्चिमीय संस्करण।

बृहत्कथामञ्जरी में और कथासरित्सागर में आए हुए पञ्चतन्त्र के संस्करण सम्भवतः असली बृहत्कथा में नहीं होंगे, बल्कि वे कश्मीरियों द्वारा कभी बाद में बढ़ा दिए गए होंगे। पञ्चतन्त्र के इस संस्करण में अन्य संस्करणों से इतना भेद है कि इसमें न तो उपोद्घात है और न प्रथम तन्त्र की तीसरी कथा। ऐसा प्रतीत होता है कि इस संस्करण में प्रत्येक दो तन्त्रों के बीच में बाह्य तत्त्वों का समावेश करके उनका पार्थक्य प्रकट किया गया है। इस संस्करण के पाठ का ठीक ठीक निश्चय करना बड़ा कठिन है। क्षेमेन्द्र अत्यन्त संक्षेप कर जाता है, और सोमदेव तो असली कहानियाँ तक छोड़ जाता है।

(११०) पह्लवी संस्करण और कथा की पश्चिमी यात्रा

पञ्चतन्त्र का पहलवी संस्करण हकीम बार्ज़ोई के प्रयत्न से खुसरो अनोशेर्वा के शासन काल में (५३१–७९ ई०) प्रस्तुत हुआ। इसके इस जन्म का नाम कर्टक[1] और दमन[1] था। यह संस्करण तन्त्राख्यायिका से बहुत मिलता होगा। दुर्भाग्य से यह संस्करण लुप्त हो गया था, परन्तु इसका अनुवाद ५७० ई० में बूद नामक किसी विद्वान् ने पुरानी सीरियन भाषा में और ७५० ई० के लगभग अब्दुल्लाः इब्नुल मोक़फ्फ़ा ने अरबी में कर दिया था। सीरियन संस्करण का केवल एक अपूर्ण हस्तांकित प्रति प्राप्य है। अरबी संस्करण का नाम था कलीलः[2] दिम्नः। यह अरबी संस्करण महत्त्व का संस्करण है, क्योंकि यही सब पाश्चात्य संस्करणों का उपजीव्य है। दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी के आस-पास इसका अनुवाद पुरानी सीरियन से बाद की सीरियन भाषा में और १२५१ ई० में पुरानी स्पैनिश भाषा में हुआ। ये अनुवाद पर्याप्त उर्वर नहीं निकले। १०८० ई० के समीप अरबी अनुवाद का अनुवाद यूनानी भाषा में हुआ। यह यूनानी अनुवाद इटैलियन[3], एक जर्मन, दो लैटिन और कई स्लैवोनिक अनुवादों का उपजीव्य बना। अरबी अनुवाद का हिब्रू अनुवाद ११०० ई० के निकट हुआ। इसका कर्ता रब्बी जोईल था। इसका महत्त्व अरबी अनुवाद से भी अधिक है, क्योंकि फिर इसका लैटिन अनुवाद १२६६ और १२७८ ई० के बीच जौन आव कैपुआ (John of Capua) ने किया। यह १४८० ई० में दो बार मुद्रित हुआ। इसका फिर जर्मन अनुवाद ऐन्थोनियस वॉन फ़र (Anthonius Von

१. ये दोनों नाम प्रथम तन्त्र में दो चतुर शृगालों के हैं।

२. ये दोनों नाम कर्टक और दमनक के रूपान्तर हैं।

३. इसका कर्त्ता गियुलिओनुति (Giulio-Nuti) है और रचना काल १५८३ ई०।

pfore) ने १४८६ ई० में किया। तब से यह कई बार मुद्रित हो चुका है। इस अनुवाद का महत्त्व इसलिए है कि इसने जर्मन साहित्य पर बड़ा प्रभाव डाला और वह डैनिश, आइसलैण्डिक, डच और स्पैनिश अनुवादों का (१९४३ ई०) मूल बना। स्पेनिश का अनुवाद इटैलियन में १५४६ ई० में हुआ, और इसका अनुवाद फ्रेंच में १५५६ ई० में हुआ।

ए० ऐफ० डोनी ने लैटिन का सीधा अनुवाद इटैलियन में किया। यह दो भागों में सन् १५५२ ई० में वीनिस में प्रकाशित हुआ। इसके प्रथम भाग को १५७० ई० में सर टामस नॉर्थ ने इंग्लिश में अनूदित किया।

अरबी संस्करण का फारसी अनुवाद ईसा की बारहवीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध में अबुल-मआली नश्रल्ला: ने किया। यह अनुवाद मूल बना अन्वारे सुहेली का, जो १४९४ ई० के इधर-उधर हुसैन ने तैयार की। आगे चलकर इसका अनुवाद ईसा की सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में अली ने तुर्की भाषा में किया। फिर इस तुर्की का अनुवाद फ्रेंच में हुआ और उसका अनुवाद डच, हंगारियन, जर्मन और मलए तक में हुआ।

इन औपदेशिक जन्तु-कथाओं का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उपयोग करने वाला ला फॉनटेन (La Fontaine) हुआ। औपदेशिक जन्तु-कथाओं की पुस्तक के अपने दूसरे संस्करण में (१६७८ ई०) वह साफ तौर पर मानता है कि अपनी नई सामग्री के लिए (७–९) मैं भारतीय विद्वान् पिल्पइ[1] (Pilpay) का ऋणी हूँ। नीचे दी हुई सारणी से यह बात आसानी से समझ में आ जाएगी कि भारतीय औपदेशिक जन्तु-कथा ने पाश्चात्य देशों में किस किस द्वार से प्रवेश किया।

---

१. विद्यापति का अपभ्रंश।

पञ्चतन्त्र का पश्चिम में प्रवेश सूचित करनेवाली सारणी। (सारे नामों की संख्या ३२)

इटैलियन १५५२ ई०
डोनी द्वारा
इंग्लिश १५७० ई०
सर टामस नॉर्थ द्वारा
डैनिश
आइसलैंडिक
डच
जर्मन १४८३ ई०
ऐन्थॉनियस वॉन फ़र द्वारा
स्पैनिश १४९३ ई०
तुर्की १६ वीं श०
अली द्वारा
फ्रेंच
पूर्वीय भाषाएँ
इटैलियन १५४६ ई०
फ्रेंच १५५६ ई०
जर्मन
डच
हङ्गेरियन
मलए
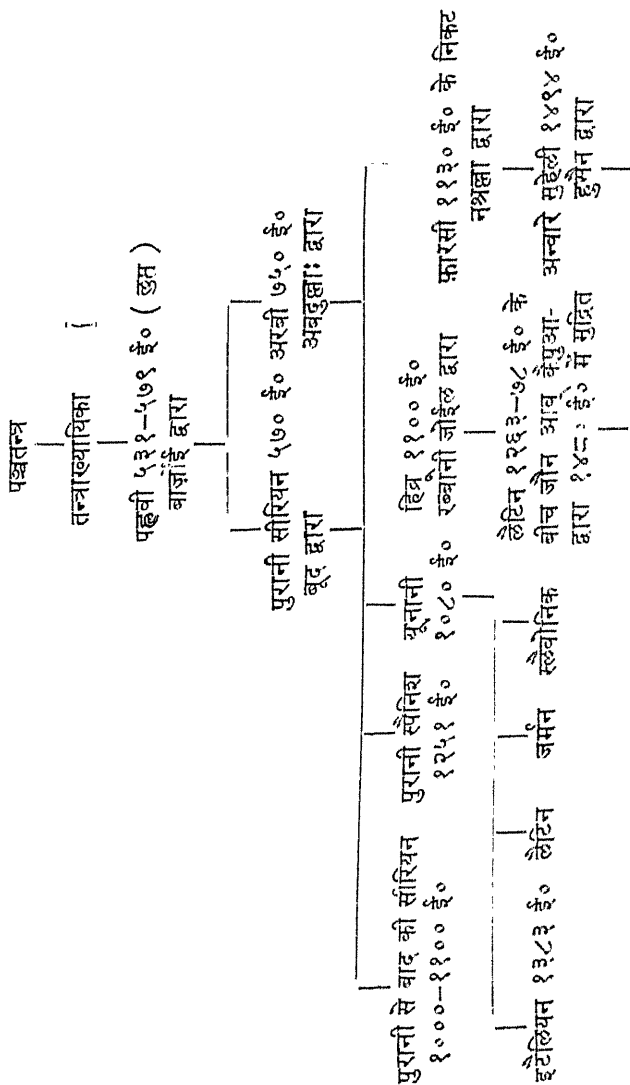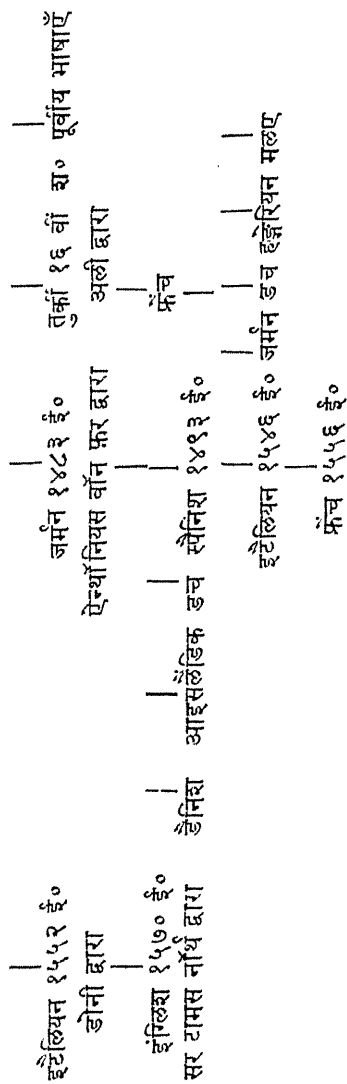
अध्याय १६

रूपक

(१११) रूपक का उद्भव

रूपक का उद्भव अँधेरी गुहा में निहित है। साहित्य-क्षेत्र में अब निकले हुए रूपक के प्राचीनतम नमूने कालिदास के या उसके पूर्वगामियों के प्रौढ़ रूपक हैं, जो हमारी आँखों के सामने बिजली की तरह चमकते हुए आते हैं। संस्कृत रूपक के अप्रतर्क्य उद्भव को समझाने के लिए भिन्न-भिन्न वाद गढ़े गए हैं। उसमें से कुछ का सम्बन्ध धर्म की धारणा से और कुछ का लौकिक लीलाओं से है।

(क) परंपरागतवाद

साम्प्रदायिक वाद के अनुसार नाट्य-विज्ञान के आविर्भाव का स्थान द्यु-लोक है। रजत-काल के प्रारम्भ में देव और मर्त्य मिल कर ब्रह्मा के पास गए, और उन्होंने उससे प्रार्थना की कि हमें मनोविनोद की कोई वस्तु प्रदान की जाए। ब्रह्मा ने ध्यानावस्थित होकर नाट्य-वेद प्रकट किया। इसके लिए उसे चारों वेदों का सार निकालना पड़ा—ऋग्वेद से नृत्य, सामवेद से सङ्गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस। शिव ने इसमें ताण्डवनृत्य का, पार्वती ने लास्यनृत्य का और विष्णु ने नाटक की चार वृत्तियों का सामवेश किया। स्वर्गलोक के चीफ़ इञ्जीनियर विश्वकर्मा ने रंगशाला का निर्माण किया। सबसे प्राचीन रूपक, जो

इन्द्रध्वज पर्व पर खेले गए त्रिपुर-दाह और समुद्र-मन्थन थे। इस कला को मर्त्यलोक में पहुँचाने का काम भरत के सुपुर्द किया गया। यह सारे का सारा उपाख्यान महत्त्व से शून्य नहीं है; क्योंकि इससे इन बातों पर प्रकाश पड़ता है।

(१) नाट्य वेद की रचना में चारों वेदों का सहयोग है।

(२) प्राचीनतम रूपक धार्मिक थे और वे धार्मिक पर्वों पर खेले गए थे।

(३) इनमें नर और नारी दोनों ने ही भाग लिया।

(४) वैदिक काल में वास्तविक रूपक विद्यमान नहीं था। यही कारण था कि देवताओं को ब्रह्मा से उनके लिए एक नये प्रकार के साहित्य को (अर्थात् रूपक को) पैदा करने की प्रार्थना करनी पड़ी।

(ख) रूपक का धर्मसापेक्ष उद्भव।

(१) प्रो० रिजवे का विचार है कि भारत में वस्तुतः सारे जगत् में ही रूपक का जन्म मृतात्माओं के प्रति प्रकट की हुई लोगों की श्रद्धा से हुआ है; यही श्रद्धा, फिर, सारे धर्म का आदि-मूल है—इस श्रद्धा की अर्थापन्न चीजों में से जीव-बलि के सिद्धान्त का एक पुनरुच्छ्वसन भी है। इस विचार के अनुसार नाटकों का अभिनय मृतात्माओं की प्रीति के लिए होता था। परन्तु इसका साधक प्रमाण नहीं मिलता। पृथिवी की अन्य जातियों के बारे में यह विचार साधारणतया कुछ मूल्य रख सकता हो, परन्तु भारतीयों के बारे में यह ठीक नहीं माना जा सकता।

(२) पर्व-वाद—इस वाद का बीज इन्द्रध्वज पर्व पर नाटकों के खेले जाने के उल्लेख में सन्निहित है। इस वाद में माना जाता है कि एक तो इन्द्रध्वज पर्व यूरोप के मे-पोल (May-Pole) त्यौहार के सदृश है। दूसरे, रूपक का उद्भव कदाचित् वसन्त में आने वाले त्यौहारों से हुआ होगा; क्योंकि भीषण शरद के बाद वसन्त में जगत् की सभी सभ्य जातियाँ कोई न कोई त्यौहार मनाती हैं। यह वाद वस्तुतः बुद्धि-

मत्ता पूर्ण है। परन्तु इस वाद का दुर्भाग्य कि इन्द्रध्वज का त्यौहार, जो इन्द्र की वृत्र (मेघ–) विजय का सूचक है, वर्षा के अन्त में पड़ता है।

(३) **कृष्णोपासना-वाद**—इस वाद में भारतीय रूपक के उद्भव और उपचय का सम्बन्ध कृष्ण की उपासना के उदय और प्रसार से जोड़ा जाता है। निस्सन्देह कृष्णोपासना के कई अङ्ग इस प्रसङ्ग में बड़े महत्त्व के कहे जा सकते हैं। उदाहरणार्थं, [रथ–] यात्राएँ, नृत्य, वाद्य और गीत, तथा लीलाएँ ऐसी वस्तु हैं, जिन्होंने संस्कृत-नाटक के निर्माण में बड़ा योग दिया है। संस्कृत-नाटक का विकास कृष्णोपासना के घर शूरसेन देश में हुआ। नाटकों में शौरसेनी प्राकृत का प्राबल्य इस बात का द्योतक है कि नाटक का प्रादुर्भाव ही वहाँ हुआ। कृष्णोपासना के कारण ब्रजभाषा का हाल ही में जो पुनःप्रचार हुआ है, वह भी यही सूचित करता है कि ब्रजभाषा ने भारतीय नाटक के विकास पर कभी बड़ा प्रभाव डाला होगा। परन्तु इस वाद में कुछ त्रुटियाँ भी हैं। पहली तो यह कि कृष्ण-सम्बन्धी नाटक ही सबसे प्राचीन हैं, इसका पोषक प्रमाण अप्राप्य है। दूसरी यह कि राम-शिव प्रभृति अन्य देवताओं की प्रसिद्ध उपासनाओं ने भारतीय नाटक के विकास में जो बड़ा भाग लिया उसकी उपेक्षा की गई है।

(ग) रूपक का धर्मनिरपेक्ष उद्भव।

(१) **लोकप्रिय-स्वाँग-वाद**—प्रो० हिलब्रैंड (Hillebrandt) और स्टेन कोनो (Sten Konow) का विचार है कि भारतीय रूपक के प्रादुर्भाव से भी पहले भारत में लोकप्रिय स्वाँगों का प्रचार था। बाद में रामायण और महाभारत की कथाओं ने स्वाँगों के साथ मिलकर रूपक को जन्म दे दिया।

डा० कीथ ने इस वाद का विरोध किया है। रूपक के प्रचार से पूर्व स्वाँगों के प्रचलित होने का साधक कोई समुचित साक्ष्य सुलभ

नहीं है। कोनो ने स्वाँगों का परामर्श करने वाले जितने उल्लेख उपस्थित किए हैं वे सब के-सब महाभाष्य के अथवा उसके भी बाद के काल के हैं। अतः उनसे कोनो का मत पुष्ट नहीं होता है। सच तो यह है कि डा० कीथ के मतानुसार प्रारम्भिक स्वाँग-काल के विषय में हमारा सारा ज्ञान कल्पनाश्रित है। प्रो० हिलब्रैंड (Hillebrandt) की युक्तियों में कुछ अधिक बल है। उसने उट्टङ्कित किया है :— (१) नाटकों में संस्कृत के साथ साथ प्राकृत का प्रयोग है (२) गद्य-पद्य का मिश्रण है। (३) रंगशालाओं में सादगी है। (४) विदूषक जैसा सर्वसाधारण का प्रीतिपात्र पात्र है। इन सब बातों से ज्ञात होता है कि भारतीय रूपक सर्वसाधारण के मनोविनोद की वस्तु थी। परन्तु इन बातों का इससे भी अच्छा समाधान हो सकता है। कृष्णोपासनावाद के अनुसार उक्त चारों बातों में से पहली तीन का समाधान बहुत चच्छी तरह से हो जाता है और रूपक के उद्भव का सम्बन्ध धर्म की धारणा से जुड़ जाता है। रूपकों में विदूषक पात्र की सत्ता का प्रादुर्भाव महाव्रत संस्कार में शूद्र पात्र की आवश्यकता से हुआ माना जा सकता है, और महाव्रत धार्मिक संस्कार है। दूसरे पक्ष में तो ऐसा कोई प्रमाण ही नहीं मिलता जो नाटकों में विदूषक रखने की प्रथा का सम्बन्ध किसी लौकिक लीला से जोड़ सके।

(२) कठपुतलियोंके नाच का वाद—आर पिशल का विचार है कि रूपक की उत्पत्ति कठपुतलियों के नाच से हुई। इनका उल्लेख पुत्तलिका, पुत्रिका, दारुमयी इत्यादि के नाम से महाभारत, कथासरित्सागर और राजशेखर की बालरामायण में बहुशः पाया जाता है। और वादों की अपेक्षा इस वाद में 'स्थापक'[१] संज्ञा भी अधिक अन्वर्थ सिद्ध होती है। परन्तु, जैसा कि प्रो० हिलब्रैंड ने निर्देश किया है, इस वाद में बड़ी त्रुटि यह है कि कठपुतलियों के नाच का इतिहास दृष्टि में रख-

---

१. वह पुरुष, जो किसी वस्तु को ठीक स्थान पर रक्खे।

कर यह मानना पड़ता है कि रूपक इससे पहले ही विद्यमान था, जो इस नाच का आधार था।

(३) छायानाटकवाद—प्रो० लूडर्स (Luders) कहते हैं कि संस्कृत-रूपक के विकास में मुख्य भाग छाया द्वारा खेल दिखाने की प्रथा का है। यह बात स्मरणीय है कि 'रूपक' शब्द जितना अन्वर्थ इस सिद्धान्त के अनुसार सिद्ध होता है उतना किसी और के नहीं। परन्तु जैसा कि डा० कीथ ने बतलाया है, यह वाद महाभाष्य के एक स्थल के अयथार्थ अर्थावधारण पर अवलम्बित है। अनन्तरोक्त सिद्धान्त के पक्षपाती के समान इस सिद्धान्त के अनुयायी को भी रूपक की सत्ता छाया-नाटक के जन्म से पहले स्वीकार करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त इस मत से गद्य-पद्य के मिश्रण का तथा संस्कृत-प्राकृत के प्रयोग का कोई कारण नहीं बताया जा सकता।

(४) संवादसूक्तवाद—ऋग्वेद में पन्द्रह से अधिक संवादयुक्त सूक्त हैं। ये सूक्त निश्चय ही धर्मनिरपेक्ष—लोकव्यवहार-परक (Secular) हैं। १८६९ ई० में प्रो० मैक्समूलर ने प्रस्ताव रखते हुए और कुछ काल पश्चात् प्रो० लैवि (Levi) ने उसका अनुमोदन करते हुए कहा कि इन सूक्तों में धर्म की भावना से भरे हुए नाटकों के दृश्यों के दर्शन होते हैं। वॉन श्रॉडर (Von Schroeder) ने इस प्रस्ताव पर सपरिश्रम विचार करके यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि इन सूक्तों से रहस्यपूर्ण नाटकों (Mystery Plays) की सूचना मिलती है। गर्भरूप में ये नाटक भारत को भारोपीय (Indo European) काल से प्राप्त हुए थे। डा० हर्टल ने एक कदम और आगे बढ़कर घोषणा की कि वैदिक नाटक के विकास-काण्ड का मूल सुपर्णाध्याय के अन्दर देखने को मिल सकता है। परन्तु इस घोषणा की गोद हरी नहीं हुई। दूसरे अध्येताओं ने भी अपने-अपने राग अलापे हैं। अर्थ चाहे कुछ भी लिया जाए, इतना तो निश्चित ही है कि ऋग्वेद में कतिपय सूक्त वार्तालापयुक्त भी हैं और उनमें से थोड़े की (यथा, 'सरमा और पणिलोग' की)

व्याख्या नाटकीय-दृश्यवाद के सहारे बहुत अच्छी तरह की जा सकती है।

तब रूपक का उद्भव कैसे हुआ? इसके प्राचीनतम चिह्न हमें कहाँ प्राप्त हो सकते हैं?

(क) **वैदिकानुष्ठानों का साक्ष्य**—उपलभ्यमान पर्याप्त प्रमाणों से यह प्रदर्शित किया जा सकता है कि रूपक के प्रायः सारे उपादान-तत्व वैदिक अनुष्ठानों में विद्यमान हैं।

(अ) रूपक के आवश्यक घटक हैं—नृत्य, गीत और संवाद। नृत्य का उल्लेख ऋग्वेद में मौजूद है। उदाहरणार्थ, विवाह-सूक्त में पुरन्ध्रियाँ नव-दम्पती के आयुष्यार्थ नृत्य करती हैं। गीत को तो सामवेद में सभी मानते हैं। ऋग्वेद के संवाद-सूक्तों का उल्लेख ऊपर हो ही चुका है।

(आ) वैदिक अनुष्ठान छोटी-छोटी अनेक क्रियाओं के सूत्रों से प्रगुम्फित जाल थे। उसमें से कुछ में नाटकीय तत्त्व भी विद्यमान थे। यह ठीक है कि यह कोई वास्तविक नाटक नहीं था; क्योंकि नाटक का अभिनय करना ही मुख्य उद्देश्य नहीं था। अभिनेता लोग उसके द्वारा सीधा धार्मिक फल चाहते थे।

(इ) महाव्रत-अनुष्ठान वस्तुतः एक प्रकार से नाटक था। इस अनुष्ठान में कुमारियाँ अग्नि के चारों ओर नाचती थीं। शूद्र और वैश्य का प्रकाशार्थ कलह करना वस्तुतः नाटकीय अभिनय है।

(ई) यज्ञ-सत्रों (Sacrificial sessions) के अन्तरालों यज्ञ-मण्डप में बैठे हुए यजमानों और याजकों के मनोविनोदार्थ वार्तालाप-मय सूक्त पढ़े जाते थे। इस धारणा की पुष्टि हरिवंशपुराण से होती है।

(उ) कई विद्वान् कहते हैं कि—नाटकों में गद्यमय संवाद महाव्रत अनुष्ठान में प्रयुक्त संवाद को देखकर बढ़ाया गया है। यदि इस विचार को ठीक मान लें, तो रूपक के सब उपादान तत्त्व हमें वैदिक अनुष्ठान में मिल जाते हैं।

पहले ये सब उपादान–तत्त्व पृथक् पृथक् रह कर ही अपना काम करते रहे। इनका सांयोगिक व्यापार तथा रूपक की आत्माभूत कथा-वस्तु का विकास बाद में चल कर हुआ। पढ़कर सुनाने की प्रथा (जो संस्कृत नाटकों में संगीत से भी अधिक महत्त्व रखती है) और भी आगे चलकर रामामण और महाभारत की कथाओं से ली गई।

(ख) रामायण-महाभारत का प्रभाव।

नट[1] और नर्तक दोनों शब्द रामायण एवं महाभारत में पाये जाते हैं। रामायण के सूक्ष्म अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि

---

१. (ई० पू० की चौथी श० से भी पूर्व होने वाले) पाणिनि ने भी नट शब्द का प्रयोग किया है; परन्तु आजकल उस नट शब्द का पाणिनि-विवक्षित अर्थ बतलाना कठिन है। (ई० पू० दूसरी श० में होने वाले) पतञ्जलि का साक्ष्य अधिक निश्चित है। यदि कोई बात भूतकाल में हुई हो और उसे वक्ता ने न देखा हो, तब उसे अपूर्ण भूत-काल से प्रकट करने के लिए कौनसे लकारादि का प्रयोग करना चाहिए? इसको समझाते हुए पतञ्जलि ने 'कंसवध' और 'बलिबंध' का उल्लेख किया है। अधिक सम्भावना यही है कि ये नाटक हैं, जो पतञ्जलि के देखे हुए या पढ़े हुए थे। उसने नाटकोपयोगी कम से कम तीन साधनों का उल्लेख भी किया है:—(१) शौभिक लोग, जो दर्शकगण के सम्मुख दृश्य का अभिनय करते थे; (२) रजक लोग, जो कपड़े पर चित्रित करके दृश्यों को विवृत करते थे; और (३) ग्रन्थिक लोग, जो अपने भाषणों द्वारा दर्शकवृन्द के सामने उक्त दृश्यों को यथार्थ करके दिखलाते थे। उसने एक 'भ्रुकुंस' शव्द भी दिया है, जो ठीक तरह स्त्री रूपधारी पुरुष के लिये प्रयुक्त होता था। इस प्रकार अकेले पतञ्जलि के साक्ष्य आधार पर हो कहा जा सकता है कि—ईसा के पूर्व दूसरी शताव्दी से पहले ही भारत में रूपक का पर्याप्त विकास हो चुका था।

इसके उस भाग में, जो असली समझा जाता है, नाटक शब्द भी मौजूद है देखिए—

वादयन्ति तथा शान्ति लास्यन्त्यपि चापरे।
नाटकान्यपरे प्राहुर्हास्यानि विविधानि च ॥ (२, ६९, ४)

रामायण के बाल-काण्ड में भिन्न-भिन्न रसों का उल्लेख पाया जाता है। यथा—

रसैश्शृङ्गारकरुणहास्यरौद्रभयानकैः।
वीरादिभी रसैर्युक्तं काव्यमेतदगायताम् ॥ (१, ४; ९)

अधोऽवतायमाण पंक्ति में शैलूप शब्द आया है—

शैलूषाश्च तथा स्त्रीभिर्यान्ति ॥ (२, ८३, १५)

इसी प्रकार सूत्रधार, नाटक तथा इसी वर्ग के अन्य शब्द महाभारत में भी आते हैं। उदाहरणार्थ देखिये—

इत्यब्रवीत् सूत्रधारस्सूतः पौराणिकस्तथा ॥
(१, ५१, १५)

नाटका विविधाः काव्याः कथाख्यायिककारकाः ॥
(२, १२, ३६)

आनर्ताश्च तथा सर्वे नटनर्तकगायकाः ॥
(३, १५, १३)

नाटक का पता हरिवंश से भी लगता है। इसके अतिरिक्त, रामायण महाभारत की कथाओं का, नाटकान्तर्गत वार्तालाप को उच्चस्वर से पढ़कर सुनाने की प्रथा पर जो प्रभाव पड़ा, हम उससे भी इनकारी नहीं हो सकते हैं। समाजिक और धार्मिक सभा-सम्मेलनों में जातीय कविता को उच्च स्वर से पढ़कर सुनाने का काम मन्दिरों और मैदानों में महीनों चलता था। धीरे-धीरे सर्वसाधारण को संस्कृत का समझना कठिन होता चला गया। इस लिए भारतों और मागधों ने बोल-चाल की भाषा के वाक्य सम्मिलित करने प्रारम्भ कर दिए, और शायद

किताबी संस्कृत की सर्वथा अवहेलना कर दी। बाद में जब बोलचाल की भाषा में ही कथा करने की परिपाटी प्रचलित हो चली और अर्थ करने वाले की आवश्यकता न रही, तब सङ्गीत और नाटकोपयुक्त अङ्ग-भङ्गि को भी सम्मिलित कर लिया गया। इससे सारी वस्तु अत्यन्त रोचक और नाटकीय हो गई। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमाण मूल्यवान् हैं।

(१) साँची से प्राप्त होने वाले उत्कीर्ण लेख से (जो निःसन्देह ईसवी सन् से पूर्व का है, अनेक कथकों (कथा कहने वालों) का पता चलता है, जो अङ्ग-भङ्गि के साथ नाच रहे हैं, कथा कह रहे हैं और गा रहे हैं। ये सब बातें वस्तुतः नाटकीय हैं।

(२) रामायण के उत्तरकाण्ड में कुश और लव दो गायकों का वर्णन आता है। वे जिस राम के अनभिज्ञात पुत्र हैं, उसी के चरित की कथा कर रहे हैं।

(३) भरत (वर्तमान भाट—कथा कारक) शब्द बतलाता है कि उच्च स्वर से बोल-सुनाने का नाटक के साथ कितना गहरा सम्बन्ध है।

(४) उक्त तीसरे प्रमाण का समर्थन कुशलव शब्द से भी होता है।

(५) उत्तर रामचरित में भवभूति कहता है, नाटकों पर रामायण-महाभारत का महान् ऋण है।

(६) भास के नाटक भी अपने आपको रामायण-महाभारत का ऋणी सूचित करते हैं।

(ग) धर्म का प्रभाव—रूपकों की उत्पत्ति को सच्ची प्रेरणा धर्म से ही प्राप्त हुई है। स्वर्ग में पहला रूपक एक धार्मिक उत्सव पर ही खेला गया था। ताण्डव और लास्य ये दोनों महादेव और पार्वती ने दिए थे। कृष्ण, राम, शिव एवं अन्य देवताओं की भक्ति ने रूपक के विकास में बड़ी सहायता की है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि—जैन और बौद्धधर्म नाटकों के विरुद्ध हैं, परन्तु इन धर्मों के अनुयायियों

को भी अपने धर्म का प्रचार करने के लिए नाटकों का आश्रय लेना पड़ा।

(घ) लौकिक वस्तुओं का प्रभाव—साथ ही साथ भारत में कभी ग्रामोत्सव और छाया नाटकों का तथा कठपुतलियों के नाच का प्रचार भी अवश्य रहा होगा।

बढ़ती हुई अभिरुचि के कारण केवल इसी काम को करने वाले लोगों की श्रेणी भी उत्पन्न हो गई होगी। ऐसे लोग सामाजिक और नैतिक दृष्टि से निम्नस्थानीय समझे जाते थे। हमारे इस विचार का समर्थन पतञ्जलि करता है। गाँवों के अकृत्रिम वातावरण में हुए रूपकों के इस विकास को देख लेने के बाद हम उनमें प्राकृत भाषाओं के प्रयोग के, गद्य-पद्य के मिश्रण के, नाच-गान की प्रधानता के और रंगशाला की सादगी के कारण को भी भली भाँति समझ सकते हैं।

अब प्रश्न रहा रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार की जाति के (Allegorical) रूपकों का। कदाचित् ऐसे रूपकों का जन्म जैन और बौद्धधर्म की आचारविषयक और साधारण उपदेश सम्बन्धी शिक्षाओं से हुआ है। राजा लोग रूपक-कला के निरन्तर संरक्षक रहे; बहुत सम्भावना यही है कि इसीलिए लोगों को राजाओं के या रनिवास की प्रणयलीलाओं के रूपक लिखने का ख्याल पैदा हो गया। यही रूपक आगे चलकर सब रूपकों के लिए मानदण्ड बन गये।

भारतीय और यूनानी रूपक साहित्य के इतिहास के पारस्परिक सम्बन्ध का विचार उपस्थित होने पर हम कहेंगे कि यूनानी रूपक ने संस्कृत रूपक की उत्पत्ति में कुछ योग दिया हो, इस बात की बहुत ही कम सम्भावना है[1]।

इस प्रकरण को समाप्त करते हुए हम कह सकते हैं कि भारतीय रूपक का विकास एक दो नहीं, अनेक शताब्दियों में हो पाया होगा। यह—

---

१. विस्तृत विवरण के लिए प्रघट्टक १०५ देखिए।

रूपक का विकास—मानो एक सजीव शरीर था, जिसके रूप में बार-बार परिवर्तन हुए, जिसने जो मिला उसी को हड़प कर लिया और फिर भी अपना स्वरूप अक्षुण्ण रक्खा। डा० बेल्वल्कर का कथन है—"इसके सब के सब जटिल उपादानों की व्याख्या करने के लिए किसी एक सिद्धान्त से काम नहीं चल सकता। रूपक के विविध-विध रूप और रङ्ग हैं। उनमें से कभी एक को और कभी दूसरे को लेकर प्रतिभाओं का जो संग्राम हुआ है, उसने हमारे प्रश्न को और भी कठिन बना दिया है। हमें आशा भी यही थी; क्योंकि रूपक का तात्पर्य लोकानुकृति से है; और जीवन के समान ही, यदि यह दुर्विश्लेषणीय रहे, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है"।

(११२) रूपक का यूनानी उद्भव

कुछ विद्वान् समझते हैं कि शायद संस्कृत रूपक का जन्म यूनानी रूपक से हुआ होगा। उनकी धारणा है कि यूनानी रूपक का इतिहास भारतीय रूपक के इतिहास से बहुत अधिक पुराना है; और महान् सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् भारतीय समुद्रतट पर कुछ यूनानी लोग बस गये थे, जो फ़ुर्सत के वक्त जी बहलाने के लिए अपने देश के नाटक खेला करते होंगे। उनके इन नाटकों से भारतीय नाटकों की उत्पत्ति और बुद्धि पर उसी प्रकार बड़ा प्रभाव पड़ा होगा, जिस प्रकार उनकी ज्योतिष और गणित विद्या का बड़ा प्रभाव भारतीय ज्योतिष और गणित विद्या पर पड़ा है। वैबर (Weber) और विंडिश (Windisch) ने दोनों देशों के रूपकों में सादृश्य दिखाते हुए इस सिद्धान्त की बेल को मढ़े चढ़ाने का पुष्कल प्रयास किया है। उन्होंने यवन और यवनिका शब्दों पर बड़ा जोर दिया है। संस्कृत रूपकों में यवनियों को राजाओं की अङ्गरक्षिकाओं के रूप में पेश किया गया है; परन्तु यूनानी रूपकों में यह बात नहीं पाई जाती है। यवनिका शब्द सूचित करता है कि भारतीय रङ्गशालाओं के पर्दे विदेशी वस्त्र या रङ्ग

इत्यादि से कदाचित् ईरानी बेल-बूटेदार कालीन की जाति के किसी वस्त्र से तैयार किये जाते थे। यही बात लेवि ने कही भी है। यूनानी रूपकों में पर्दे का प्रयोग नहीं है। इससे उक्त सिद्धान्त की स्वयं हत्या हो जाती है। दूसरी ओर ऐसे प्रबल प्रमाण हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि संस्कृत रूपक यूनानी रूपक का ऋणी नहीं रहा होगा। अन्तरात्मा, कथावस्तु-क्रम तथा निर्माण-सिद्धान्त की दृष्टि से यूनानी और संस्कृत नाटक एक दूसरे से बिल्कुल विपरीत दिशा में चलते हैं।

(२) यूनानी नाटक में देश और काल की एकता का नियम है, संस्कृत नाटक में नहीं। कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल तक में हम देखते हैं कि एक अङ्क का स्थान वन है, तो दूसरे का राजप्रासाद या इससे भी बढ़कर; एक अङ्क का स्थान भूलोक है, तो दूसरे का स्वर्गलोक। इतना ही नहीं, एक ही अङ्क तक में स्थान-भेद हो सकता है। अभिज्ञान शाकुन्तल के अन्तिम अङ्क में हम यही बात पाते हैं। काल को देखें, तो अभिज्ञानशाकुन्तल के अन्तिम दो और उत्तररामचरित के आदिम दो अङ्कों की कथाओं के कालों में कई वर्षों का अन्तर पाते हैं।

(३) संस्कृत रूपक में सुख-दुःख की घटनाओं का सुन्दर सम्मिश्रण रहता है। यह बात यूनानी रूपकों के नियमों के सर्वथा विरुद्ध है। इस दृष्टि से संस्कृत रूपकों की तुलना स्पैनिश और इङ्गलिश[1] रूपकों के

---

१. शेक्सपियर के रूपकों के साथ सादृश्य की कुछ और बातें ये हैं—

(क) विदूषक जो शेक्सपियर के मूर्ख से बिल्कुल मिलता है।

(ख) गद्य-पद्य का सम्मिश्रण।

(ग) पात्रों के नाना नमूनों की निस्बत एक-एक व्यक्ति का ही चरित्र-चित्रण अधिक करना।

(घ) काल्पनिक और भयंकर अंशों का समावेश।

(ङ) श्लेषालङ्कार का प्रयोग तथा शब्दों का हास्योत्पादक तोड़-मरोड़।

साथ अधिक अच्छी तरह की जा सकती है; कारण, इनके लिए, जैसा कि श्लैजल (Schlegel) कहता है, "दु:खमय (Tragedy) तथा सुखमय (Comedy) शब्दों का प्रयोग उस अभिप्राय के साथ हो ही नहीं सकता, जिसके साथ प्राचीन विद्वान् इनका प्रयोग किया करते थे" संस्कृत रूपकों की रचना सदा मकड़ी के जाल के सदृश होती है और उनमें "गम्भीरता के साथ छिछोरापन एवं शोक के साथ हास्य" मिला रहता है[१]। उनमें भय, शोक, करुणा इत्यादि मानवीय सभी हार्दिक भावों को जागरित करने का प्रयत्न किया जाता है सही, परन्तु उनमें कथा का अन्त दु:ख में नहीं दिखाया जाता। यह दु:खपूर्ण अन्त, जैसा कि जौनसन (Johnson) कहता है, शेक्सपियर के दिनों में दु:खमय (Tragedy) रूपक का पर्याप्त लक्षण समझा जाता था।

(४) यूनानी काव्य का प्रधान सिद्धान्त जीवन को हर्षरूप और गर्वरूप देखना था; परन्तु संस्कृत के रूपक-लेखक जीवन में शान्ति और अनुद्धतता देखते थे। यही कारण है कि भारतीय दु:खमय रूपकों में अत्यधिक विपत्ति का चित्र नहीं और सुखमय रूपकों में अतिसीम हर्ष का उद्रेक नहीं।

(५) संस्कृत रूपकों में यूनानी रूपकों की भाँति मिलकर गाया जानेवाला गीत (Chorus) नहीं होता है।

(च) रूपक की क्रिया को बढ़ाने के लिए एक जैसे उपाय, यथा—पत्रों का लिखना, मृतकों को जीवित करना और कहानी में कहानी भरना।

मैक्डानल ने कहा है—"उस अवस्था में, जिसमें प्रभाव डालने या उधार लेने का बिल्कुल प्रश्न ही नहीं उठता है, समान घटनाओं की इतनी परम्परा का होना शिक्षा देता है कि दो वस्तुओं का एक जैसा विकास परस्पर निरपेक्ष रूप में भी हो सकता है।"

१. जैसे—जिस समय नायक-नायिका शोक में मग्न हैं उस समय भी विदूषक अपना काम खूब करके दिखलाता है।

(६) संस्कृत रूपक आकार की दृष्टि से भी यूनानी रूपकों से मेल नहीं खाते हैं। मृच्छकटिक का आकार ऐस्काईलस (Aeschylus) के प्रत्येक रूपक के आकार से तिगुना है। दूसरी ओर, जितने समय में यूनानी लोग एक ही बैठक में तीन दुःखमय (Tragedies) और एक प्रहसन (Farce) का खेल कर लेते थे, भारतीय यदि रूपक लम्बा हुआ तो, केवल एक ही रूपक का अभिनय करते थे।

(७) यूनानी के मुकाबिले पर संस्कृत रूपक स्वरूप में वस्तुतः रमणीय-कल्पना-बहुल होता है।

संस्कृत रूपक अत्यन्त जटिल जाल है। साहित्य दर्पण ने रूपक के मुख्य दो भेद किए हैं—रूपक और उपरूपक। प्रथम के पुनः दस और चरम के अठारह उपभेद किए गए हैं। संस्कृत रूपक का अपना विशिष्ट रूप है[1]। इन नाना आधारों पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि संस्कृत रूपक अवश्य प्रकृष्ट प्रतिभा की एक भारतीय प्रसूति है, यह किसी विदेशी साहित्य-तरु की शाखा नहीं है। हॉरविट्ज (Horrwitz) कहता है:—"क्या हम कभी यह कहते हैं कि चूँकि पीकिंग में लीपज़िग और थीमर से भी बहुत पहले से प्रेक्षा-भवन विद्यमान थे, अतः जर्मन-नाटक चीनी से लिया हुआ ऋण है? तब फिर भारत के प्रसङ्ग में क्यों? यदि नाटक-कला का उद्भव चीन में और यूनान में परस्पर निरपेक्ष हुआ था तो भारत में ऐसा क्यों नहीं हो सकता"।

(११३) संस्कृतरूपक की विशेषताएँ

संस्कृत रूपक की कुछ विशेषताएँ—देश और काल की एकता का न मानना, सुख तथा दुःख की घटनाओं का सुन्दर मिश्रण, दुःखांतता का पूर्ण अभाव[2], दूसरे देशों के नाटकों की अपेक्षा अधिक आकार

---

१. विस्तृत विवरण के लिए प्रघट्टक १०६ देखिए।

२. नियम यह है कि संस्कृत रूपकों में मृत्यु का दृश्य नहीं दिखाया जाता है और अन्त सुखमय रक्खा जाता है। इस नियम का कठोरता

और रमणीय कल्पना की बहुलता ऊपर वर्णित हो चुकी हैं। कुछ अन्य नीचे दी जाती हैं।

(१) वर्णन-पूर्ण गद्य का और मुक्तक (Lyrical) पद्य का संयोग। साधारणतया रूपक की गति में वर्णन-पूर्ण गद्य से वृद्धि हो जाती है, और ऐसा गद्य प्रायः देखने में आता भी है, परन्तु प्रभाव का अवश्य वर्धक अवसरानुसारी मुक्तक पद्यों का समावेश ही है। सच तो यह है कि रूपक को वास्तविक हृद्यता और सुन्दरता के प्रदाता ये पद्य ही हैं। इनके बिना रूपक वार्तालाप का एक शुष्क प्रकरण रह जाता है। अकेले अभिज्ञानशाकुन्तल में ऐसे कोई दो सौ पद्य हैं। साधारणतया रूपक का लगभग आधा शरीर तो इन पद्यों से ही निष्पन्न हो जाता है। ये पद्य विभिन्न छन्दों में होते हैं और कवि की काव्य-कुशलता का परिचय देते हैं।

(२) संस्कृत और नाना प्राकृतों का मिश्रण—अपने-अपने सामाजिक पद के अनुसार भिन्न-भिन्न पात्र भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलते हैं। साधारण नियम यह है कि—नायक राजा, उच्चश्रेणी के पुरुष और तपस्विनी ये सब संस्कृत बोलते हैं। विदूषक ब्राह्मण होने पर भी प्राकृत बोलता है। कुलीन स्त्रियाँ, बालक और उत्तम वर्ग के सेवक सामान्यतः गद्य में शौरसेनी का और पद्य में महाराष्ट्री का प्रयोग करते हैं। राज-भवन के अन्य परिजन मागधी बोल सकते हैं। गोपाल, लुण्टक,

---

से पालन होता है। इसी नियम के उल्लङ्घन से बचने के लिए भवभूति को अन्त में सीता और राम का पुनर्मिलन करना पड़ा है। अन्य कवियों की भी ऐसी ही दशा है। यद्यपि अन्त में दुःखमय घटना नहीं होती, तथापि करुण रस के और विप्रयुक्त प्रेमि-युगलों के चित्र खींच खींच कर बड़े-बड़े कवियों तक को रूपक के प्रारम्भ और मध्य में पर्याप्त दुःख का वर्णन करना पड़ता है। मृच्छकटिक और अभिज्ञानशाकुन्तल में यह मध्य में है, और उत्तर-रामचरित में यह यूं तो सारे में है, किन्तु प्रारम्भ में विशेष है।

प्रवञ्चक, द्यूतव्यसनी इत्यादि दूसरे लोग प्राकृत के अन्यभेद—आभारी, पैशाची, अवन्ती प्रभृति बोलते हैं। अपभ्रंश का प्रयोग अत्यन्त घृणित और असभ्यों के द्वारा होता है।

(३) संस्कृत रूपककर्ता का मुख्य उद्देश्य दर्शकसमूह के हृदय में किसी एक विशिष्ट रस का उद्रेक उत्पन्न करना है। वह रस शृंङ्गार, वीर, करुण या कोई और[1] भी हो सकता है। कथावस्तु, चरित्र चित्रण तथा अन्य सब वस्तुएँ इसी लक्ष्य के आधीन होती हैं। क्योंकि संस्कृत रूपकों में गति या क्रिया-वेग (Action) के ऊपर बल नहीं दिया गया है, अतः आधुनिक तुला पर रखने के बाद उनमें से अधिक संख्या का यथार्थ रूपक की अपेक्षा रूपकीय काव्य ही अधिक माने गए हैं।

(४) रूपकों की कथावस्तु कोई सुन्दर प्रसिद्ध कहानी रक्खी जाती है, ताकि सामाजिक इससे पूर्णतया आनन्दित हो सकें। यह कहानी प्रायः इतिहास या रामायणादि में से ली जाती है। कुछ अपवादों[2] को छोड़ यही देखा जाता है कि रूपक की कथावस्तु कोई प्रेम-कहानी होती है, और शृङ्गार रस ही मुख्य रस होता है। प्रथम-दर्शन होते ही नायक, नायिका का परस्पर प्रेम होता है; परन्तु जीवन भर के लिए संयुक्त होने से पहले उन्हें वियोग-क्षुर की दुरत्यय-निशित धार पर चलना पड़ता है। इस काल में उन्हें कभी अभिलाष, कभी नैराश्य, कभी सन्देह, कभी निश्चय इत्यादि अनेक मनोवेदनाओं की तीखी अनियों

---

१. प्रायः रिवाज यह है कि शृङ्गार रस ही मुख्य रस माना जाता है। इसके बाद वीर का नम्बर है। अपने उत्तररामचरित में भवभूति ने करुण का परिपाक किया है। शेष रसों में से अवसरानुसार किसी को भी रूपक में मुख्य रस बनाने का विधान तो कर दिया गया है, परन्तु उनमें से किसी को मुख्य बहुत ही कम बनाया गया है।

२. उल्लेखनीय अपवाद ये हैं—विशाखदत्त-रचित मुद्राराक्षस, भट्ट-नारायण-कृत वेणीसंहार और श्रीहर्ष-प्रणीत नागानन्द।

की चोटें झेलनी पड़ती हैं। बीच-बीच में राजा के मनोविनोदकारी विदूषक द्वारा या नायिका की विश्वस्त सखी द्वारा छिड़काई हुई हास्यरस की बूँदों से सामाजिकों का मन प्रफुल्ल रक्खा जाता है।

(५) संस्कृत रूपक का उपक्रम आशीर्वाद के श्लोक से, जिसे नान्दी कहते हैं, होता है। इसके बाद प्रस्तावना आती है। इसमें पत्नी के साथ या किसी परिचारक के साथ आकर सूत्रधार अभिनेष्यमाण रूपक से दर्शकों को सूचित करता है, और किसी अभिनेता का प्रवेश कराकर रंगमञ्च से हट जाता है। उपभेद के अनुसार प्रत्येक रूपक में अंकों की संख्या भिन्न-भिन्न होती है। किसी में एक तो किसी में दस तक अङ्क होते हैं (उदाहरणार्थ, नाटिका में चार और प्रहसन में एक अंक होता है)। किसी अङ्क के समाप्त होने के बाद अन्य अङ्क के प्रारम्भ में प्रवेशक या विष्कम्भक नाम से एक तरह की भूमिका होती है, जिसमें सामाजिकों के सामने उन घटनाओं को वर्णन किया जाता है, जो उनके सामने रंगमञ्च पर घटित न होकर नेपथ्य में घटित हुई हैं। यह इसलिए कि वे अगली घटनाओं को अच्छी तरह समझने के योग्य हो जाएँ। पात्रों की संख्या का कोई बन्धन नहीं है। साथ ही पात्र दिव्य, अदिव्य या दिव्यादिव्य तीनों प्रकार के हो सकते हैं। रूपक के अन्त में भरतोक्ति (राष्ट्रीय-प्रार्थना) आती है। इसका पाठ करने वाला कोई प्रधान पात्र होता है। प्रायः यह स्वयं नायक द्वारा ही पढ़ी जाती है।

(६) अब रङ्गशाला के विषय में लीजिए। नाट्य-शास्त्र के विधान के अनुसार यह वर्गाकार, आयताकार या त्रिभुजाकार होनी चाहिए। नाट्य-शास्त्र में नाटक खेलने के समयों का भी विधान मौजूद है। वे समय हैं :—चान्द्रिक अनध्याय, राजतिलक, जनता के उत्सव, धार्मिक पर्व, विवाह, पुत्रजन्म, मित्र-मिलन, गृह-प्रवेश या नगर-विजय। ये खेल प्रायशः सङ्गीत-शालाओं में होते थे। रंगमंच के पृष्ठ की ओर एक पर्दा टँगा रहता था। अभिनेतृ-वर्ग उसी पर्दे के पीछे वेष धारण करके

मञ्च पर आता और अपना अभिनय समाप्त करके फिर उसी के पीछे चला जाता था। इस पर्दे के पीछे के स्थान को 'नेपथ्य' कहते हैं। जब किसी पात्र को शीघ्रता से प्रवेश करना होता था, तब वह 'पर्दे को उठाकर' प्रवेश करता था। मञ्च के प्राकृतिक दृश्य तथा सजावट के सामान बहुत साधारण होते थे। खेल में की अनेक बातें दर्शकों को वर्णन-पूर्ण पद्यों के अनुकरणात्मक क्रिया के या नाट्य (सपरिश्रम सीखे हुए और दर्शकों के समझ लेने योग्य अङ्ग-सञ्चालन) के द्वारा समझा दी जाती थीं।

(७) ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत रूपककार रूपक का प्रधान प्रयोजन लोकरञ्जन समझते थे, न कि एकमात्र अनुभूयमान जीवन का सजीव चित्र खींचना। यदि किसी रूपक का अवसान सावसाद हो, तो सामाजिक लोग दूयमान और शोकाकुल होकर रङ्गशाला से बाहर निकलें। ऐसी अवस्था में खेल का यथार्थ अर्थ ही व्यर्थ हो जाए। इसके सिवा, भारतीय लोग पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानते हैं, अतः इनके लिए मृत्यु इतनी दुःखप्रद घटना नहीं है, जितनी पाश्चात्य लोगों के लिए। इस नियम के अपवादों की ओर भी विद्वानों का ध्यान गया है। उन्होंने उदाहरण भी ढूँढ़ लिए हैं, नाम के लिए 'ऊरुभङ्ग' रूपक की समाप्ति शोकोत्पादक है। परन्तु ऐसे उदाहरणों में हमें यह बात याद रखनी चाहिए कि दुःशासन जैसे पात्रों से समवेदना बिल्कुल नहीं हो सकती; उल्टा, वे तो उसकी मृत्यु से प्रसन्न होते हैं। सिद्धान्तकारों का सिद्धान्त है कि वास्तविक दुःखमय रूपक का रूप भीषण और रोमाञ्चकर मृत्यु-घटना में सन्निहित नहीं है, प्रत्युत उस घटना के पहले या पीछे उत्पाद्यमान करुणरस में। अतः भारतीय रूपकों में साक्षात् मृत्यु का अभिनय नहीं किया जाता।

(८) इतना ही नहीं। हास्य अथवा गम्भीरता की कोई भी बात जो अशिष्ट समझी जाती है, अभिनीत नहीं की जाती है। यही कारण

है कि शापदान, निर्वासन, राष्ट्र-विपत्ति, दशन, चुम्बन, अशन, शयन इत्यादि का अभिनय सर्वथा प्रतिषिद्ध है।

(११४) कतिपय महिमशाली रूपक

मुद्रित अथवा अद्यावधि अमुद्रित संस्कृत रूपकों की संख्या छः सौ से अधिक है; परन्तु उनमें से महत्त्वपूर्ण जिनका यहां उल्लेख उचित होगा, उँगलियों पर गिनने योग्य ही है। भास, कालिदास और अश्वघोष के रूपकों का वर्णन तीसरे अध्याय में हो चुका है। दूसरे प्रसिद्ध रूपक ये हैं—

(१) शूद्रक का मृच्छकटिक, (२) रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानन्द, जो श्रीहर्ष के बनाए बतलाए जाते हैं, (३) विशाखदत्त का मुद्राराक्षस, (४) भट्ट नारायण का वेणी संहार, (५) भवभूति का मालती-माधव, महावीरचरित और उत्तरामचरित, (६) राजशेखर का बालभारत इत्यादि (७) दिङ्नाग की कुन्दमाला, (८) मुरारि का अनर्घराघव, और (९) कृष्णमिश्र का प्रबोधचन्द्रोदय।

(११५) शूद्रक

संस्कृत साहित्य में नृप शूद्रक महान् लोकप्रिय नाटककार है। इसके नाम का उल्लेख वेतालपञ्चविंशति में, दण्डी के दशकुमारचरित में, बाण के हर्षचरित्र और कादम्बरी दोनों ग्रन्थों में, तथा सोमदेव के कथासरित्सागर में पाया जाता है। कल्हन ने इसे नृप विक्रमादित्य से पूर्वभावी बतलाया है। इसका जीवनचरित्र अङ्कित करने के लिए कई ग्रन्थ[1] लिखे गए थे। मृच्छकटिक की प्रस्तावना में भी इसके जीवन

१—इनमें से उल्लेखनीय ये हैं :—

(क) शूद्रकचरित—इसका उल्लेख वादिघघाल ने काव्यादर्श की अपनी टीका में किया है। (ख) शूद्रककथा—इसके रचयिता रामिल और सौमिल थे। इसका संकेत राजशेखर की कृति में मिलता है।

की कई घटनाएँ वर्णित हैं। यह वेदों का उत्कृष्ट विद्वान्, गणित में गतिमान्, कमनीय कलाओं का कान्त और युद्धवीरों के वर-वैभव का स्वामी था। दुष्कर तपस्या करके इसने पार्वतीश्वर से वर प्राप्त कर लिया था औपाख्यानिक वर्णनों में इसकी विविध विजयों और विक्रान्त कृतियों की गीतियाँ सुनी जाती हैं।

मृच्छकटिक की वर्ण्यवस्तु—रूपक की परिभाषा में मृच्छकटिक को प्रकरण कहते हैं। इसमें दस अंक हैं। इसमें चारुदत्त और वसन्तसेना की प्रणयलीला अमर की गई है। चारुदत्त वात्स्यायन के कामसूत्र के अनुसार एक आदर्श नागरिक था। वसन्तसेना लक्ष्मी का अवतार कोई वेश्या थी। गुणशाली ब्राह्मण चारुदत्त अपनी राजोचित दानशीलता के कारण दरिद्र हो गया। इतने पर भी इसने अपने पुण्य-कर्म का परित्याग नहीं किया। इसने गुणों के कारण वसन्तसेना, जो वेश्या के घर उत्पन्न हुई थी, नृत्यगान में अत्यन्त निपुण थी, इस पर मुग्ध थी। चारुदत्त आत्म-संयमी और मनस्वी पुरुष था। यही कारण है कि हम रागांकुर का मुख प्रायः पहले वसन्तसेना के हृदयक्षेत्र में बाहर निकला हुआ देखते है। वसन्तसेना ने शकार की-राजा के सालेकी-प्रणय-याचना स्वीकार नहीं की। इससे शकार उस पर क्रुद्ध हो गया। चारुदत्त-विषयक वसंतसेनाका अनुराग शुद्ध और पारमार्थिक है। विट तक को कहना पड़ा कि "यद्यपि वसन्तसेना एक वाराङ्गना है, तथापि उसका अनुराग वाराङ्गनाओं जैसा नहीं है"। शकार ने उसे ताना मारते हुए कहा—"तू एक भिखमंगे ब्राह्मण को प्यार करती है" वसन्तसेना ने इसे अपने लिए गर्व की बात समझा। क्रूर और भीरु शकार के निर्दय प्रताड़न से वह मूर्च्छित हो गयी। उसे मरा हुआ समझा तो धूर्त शकार चारुदत्त को उसकी हत्या का दोषी ठहराने लगा। कितना करुण दृश्य है! उस

(ग) शूद्रककथा—पञ्चशिखर रचित प्राकृत-कविता। इसका नाम भोजकी रचना में आया है। (घ) विक्रान्तशूद्रक—एक रूपक। इसका नाम भोज और अभिनवगुप्त ने किया।

सुन्दरी की हत्या का दोषी ठहराया जाना जिसे वह प्राणों से अधिक प्यार करता था ! मैजिस्ट्रेट ने सब के सामने चारुदत्त से प्रश्न किया—वसन्तसेना के साथ तुम्हारा क्या सम्बन्ध है ? कुलीनता, सामाजिक प्रतिष्ठा और लौकिक मानमर्यादा के भावों ने चारुदत्त को एक मिनट के लिए प्रेरणा की कि तू इस प्रश्न को टाल जा; परन्तु शकार ने बार बार जोर दिया तो उसने उत्तर दिया "क्या मुझे कहना पड़ेगा कि वसन्तसेना मेरी प्रेयसी है ? अच्छा, यदि है ही तो इसमें क्या दोष है ? यदि दोष भी है तो यौवन का है, चारित्र्य का नहीं।" चारुदत्त को प्राण-दण्ड निश्चित हो गया। इसी बीच में वसन्तसेना होश में आगई। वह दौड़ी दौड़ी शूली-स्थान पर पहुँची और चारुदत्त की जान बच गई। इस अवसर पर राजधानी में एक क्रान्ति हो गई। आर्यक, जिसे चारुदत्त ने जेल से मुक्त होने में सहायता दी थी, उस समय के शासक नृप पालक को गद्दी से उतार कर उज्जैन का राजा हो गया। चारुदत्त के भूतपर्व उपकार का स्मरण करते हुए उसने चारुदत्त को अपने राज्य का एक उच्च अधिकारी नियुक्त किया।

आलोचना—कालिदास तथा भवभूति की उत्कृष्ट कृतियों और मृच्छकटिक में एक दर्शनीय भेद है। इसमें न तो नायक ही सद्गुणों का दिव्य आदर्श है और न प्रतिनायक ही पाप की प्रतिमा। चारुदत्त में कई असाधारण-उदात्त गुण हैं; किन्तु यह दुष्यन्त की तरह श्रेष्ठंमन्य नहीं है। यह पार्थिव प्राणी है, यह द्यूत-क्रीड़ा को घृणित नहीं समझता, इसे नाचना और गाना भाता है और यह सङ्गीतालयों में जाना पसन्द करता है। वसन्तसेना में भी न तो कालिदास की शकुन्तला जैसी नवयुवतियों की मनोहारिता है और न भवभूति की सीता जैसी प्रौढ़ाओं की गौरवशालिता। विकार हेतुओं के चतुर्दिक् विद्यमान होने पर भी वसन्तसेना का मन स्वच्छ और चारुदत्त पर अनुराग अवदात रहा। पाशव कामवृत्ति का वशीभूत शकार जब वसन्तसेना को मार डालने की धमकी देता है और कदर्थित करता है, तब भी चारु-

दत्तविषयक उसकी प्रीतिवृत्ति अचल रहती है और उसके होठों पर अन्तिम शब्द हैं—'नमो चारूदत्तस्स (चारुदत्त को प्रणाम)'।

मृच्छकटिक के पात्रों में समाज की सभी श्रेणियों के लोग सम्मिलित हैं। इनके कारण रूपक में पूर्ण यथार्थता प्रतिफलित होने लगी है। यह इस रूपक की प्रधान विशेषता है। इसमें गति या क्रिया-वेग (Action) की बहुलता है; अतः रूपक के लक्षण के सारे अङ्गों की दृष्टि से यह एक सच्चा रूपक है। इसकी एक और विशेषता यह है कि सत्ताईस के सत्ताईस लघु पात्रों का व्यक्तित्व विस्पष्ट दिखाई देता है। पात्रों में राज-दरबारी, पुलिस के सिपाही, लुटेरे, चोर, राजनीतिक नर और श्री १०८ संन्यासी भी हैं। तीसरे अङ्क में हम सेंध मारने का एक वर्णन पढ़ते हैं। इसमें स्तेय-कर्म एक नियमित कला कही गई है। मृच्छकटिक (मृत् + शकटिका) नाम छठे अङ्क की एक घटना पर आश्रित है। वसन्तसेना चारुदत्त के पुत्र की मिट्टी की गाड़ी अपने रत्नजटित स्वर्णालंकारों से भर देती है। यह बात न्यायालय में चारुदत्त पर लगाये हुए अभि-योग का पारिस्थितिक साक्ष्य (Circumstantial evidence) बन गई और इसने अभियोग को और भी जटिल बना दिया। दो प्रेमियों की निजी प्रेम कथा में राजनीतिक क्रान्ति मिला देने से रूपक की रमणीयता बढ़ गई है।

काल—दुर्भाग्य से शूद्रक के काल का अभ्रान्त शोधन शक्य नहीं है। दण्डी, बाण और वेतालपञ्चविंशतिकाकृत् ने इसके नाम का उल्लेख किया है, अतः यह इनसे पूर्वभावी अवश्य सिद्ध होता है। कल्हण के मत से इसी के बाद विक्रमादित्य गद्दी पर बैठा। परन्तु यह विक्रमादित्य ही विक्रम सम्वत् का प्रवर्तक था, इस बात को सिद्ध करना कठिन है। निश्चित तो यही मालूम होता है कि चूंकि 'चारुदत्त' रूपक का ही समुपबृंहित[1] रूप मृच्छकटिक है, अतः शुद्रक भास का उत्तर-भावी है। कई विद्वानों ने इसे अवन्ति-सुन्दरी-कथा में वर्णित नृप शिव-

---

१. इस विषय में विस्तृत विवरण महाकवि भास के अध्याय में देखिए।

स्वाति का समकालीन मानकर इसके काल-शोधन का श्रम उठाया है। एक गणना के अनुसार शिवस्वाति का समय ८१ ई० के आस-पास है, परन्तु पुराणोक्त इतिहास-तिथियों के आधार पर लगाई हुई दूसरी गणना के अनुसार वह (शिवस्वाति) ई० पू० चौथी या पाँचवीं शताब्दी में शासन करता था।

(११६) हर्ष के नाम से प्रचलित तीन रूपक

(क) प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द इन तीन रूपकों की प्रस्तावना में रचयिता का नाम नृप हर्ष मिलता है। हर्ष नाम के कम से कम चार राजा इतिहास में प्रसिद्ध हैं।

(१.) हर्ष काश्मीर का राजा।

(२.) हर्ष, धारा के नृप भोज का पितामह।

(३) हर्ष विक्रमादित्य, उज्जैन का राजा; मातृगुप्त का शरण्य।

(४) हर्षवर्धन, कन्नौज का स्वामी।

एच० एच० विल्सन ने रत्नावली का रचयिता काश्मीर के अधिपति श्रीहर्ष को (१११३–२५ ई०) ठहराया है। परन्तु यह मत ग्राह्य नहीं है; कारण, रत्नावली का उद्धरण क्षेमेन्द्र के (११ वीं श० का मध्य) औचित्याङ्कार में पाँच बार[2], और नृप जयापीड के (८ वीं श० का चतुर्थ पाद) सचिव दामोदरगुप्त के कुट्टिनीमतम् में कम से कम एक बार[3] अवश्य आया है। रत्नावली का रचयिता ईसा की आठवीं शताब्दी से बहुत पहले ही हुआ होगा। यह विचार कि कन्नौज का राजा हर्षवर्धन (६०६–६४८ ई०) ही रत्नावली का रचयिता होगा

---

१. राजतरङ्गिणी में (अनुच्छेद ५६८) कल्हण लिखता है :—
तत्रानेहस्युज्जयिन्यां श्रीमान् हर्षापराभिधः।
एकच्छत्रश्चक्रवर्ती विक्रमादित्य इत्यभूत्॥

२. रत्नावली १, ८। २, २। २, ३। २, ४। और २, । १२।

३. रत्नावली १ २४।

इत्सिंग के यात्रा-वर्णन से भी पुष्ट होता है। इत्सिंग कहता है कि नृप शीलादित्य[1] ने बोधिसत्व जीमूतवाहन की कथा को पद्य-बद्ध किया था और अपने जीते जी इसका प्रचार करने के लिये नृत्य और अभिनय के साथ इसका खेल भी करवाया था[2] इसके अतिरिक्त बाण हमें बतलाता है कि हर्षवर्धन में [महती] कवि प्रतिभा थी।

(२) धावक या बाण ?—मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में काव्य के चार प्रयोजनों में से एक प्रयोजन धनप्राप्ति भी बतालाया है और इस का उदाहरण देते हुए कहा है—"श्रीहर्षादेर्धावक (बाण)[3] आदीनामिव धनम्" कदाचित् धावक ने श्रीहर्ष के राज-दरबार में रहकर कोई उत्तम काव्य लिखा होगा और इसके लिये अपने स्वामी से कोई बहु-मूल्य पुरस्कार प्राप्त किया होगा। इस बात से भी इनकार नहीं हो सकता कि बाण को भी हर्षचरित लिखने पर अपने स्वामी [हर्ष] से पुष्कल द्रव्य मिला होगा। इन रूपकों को हर्षचरित के साथ मिलाकर देखते हैं तो इनकी अपकृष्ट शैली से इनका बाणकृत न होना बिल्कुल विस्पष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त, बाण का हर्षचरित साहित्यिक गुणों में इन रूपकों से निस्सन्देह उत्कृष्ट है। अतः इन रूपकों की तथाकथित बिक्री की अपेक्षा हर्षचरित की बिक्री से बाण को अधिक धन मिल सकता था। परन्तु मम्मट के उपर्युक्त वाक्य का अर्थ और तरह भी लगाया जा सकता है। इस अर्थ का समर्थन राजशेखर द्वारा भी होता है जिसने लिखा है कि धावक ने ये रूपक लिखकर इनके ऊपर श्रीहर्ष से पुरस्कार प्राप्त किया[4]। हाँ, यह कहना कठिन है कि राजशेखर

---

१. हर्ष का दूसरा नाम।

२. 'भारत एवं मलय द्वीपों में बौद्धधर्म का एक इतिहास' (इंग्लिश; पृष्ठ १६३, तकोकुसु (Takokusu) द्वारा अनूदित)।

३. यह पाठ काश्मीरी प्रति के अनुसार है।

४. देखिए पहले भी महाकवि भास के प्रसंग में। हर्ष की एक नाट्य-शास्त्र टीका भी प्रसिद्ध है। यद्यपि रत्नावली नाट्यशास्त्र के नियमों के अनेक

की यह बात कितनी विश्वसनीय है कितनी नहीं, क्योंकि हमें धावक के विषय में और कुछ ज्ञात नहीं है। दूसरी ओर, सुभाषित-संग्रहों में हर्षवर्धन के नाम से उद्धृत कई बड़े ही रमणीय पद्य मिलते हैं।

(३) संयुक्त कर्तृत्व—नागानन्द में बौद्धधर्म का रङ्ग देखा जाता है। नान्दी में भगवान् बुद्ध की स्तुति है। नायक जीमूतवाहन बोधिसत्व है, और 'अहिंसा परमो धर्मः' के सिद्धान्त पर बल दिया गया है। डा० मैक्डानल (Macdonell) ने कहा है कि इन रूपकों के रचयिता पृथक् पृथक् हैं; परन्तु वक्ष्यमाण हेतुओं से हम इस विचार को ग्राह्य नहीं मान सकते (१) इन तीनों रूपकों की प्रस्तावनाओं से इनका कर्ता एक ही व्यक्ति पाया जाता है; (२) इन में से एक के पद्य दूसरे में पाए जाते हैं; उदाहरणार्थ एक ऐसा पद्य है जो रत्नावली और प्रियदर्शिका दोनों में आया है, तथा दो ऐसे हैं जो रत्नावली और नागानन्द दोनों में देखे जाते हैं, और (३) इन तीनों रूपकों की शैली तथा वचोभङ्गी इतनी अभिन्न है कि पाठक को इनके रचयिता की एकता में सन्देह उत्पन्न नहीं होता।

(ख) कथावस्तु—(१) रत्नावली और प्रियदर्शिका दोनों की दोनों नाटिका हैं, दोनोंमें चार-चार अङ्क हैं तथा दोनोंकी कथा-वस्तु एवं रूपरेखा में भी बहुत अधिक समानता है। दोनों में नायक उदयन और महिषी वासवदत्ता है। रत्नावली में सागरिका (लङ्का की राजकुमारी रत्नावली) और उदयन के प्रणय तथा अन्त में विवाह होजाने का वर्णन है। इसका आयोजक सचिव यौगन्धरायण था। जहाज के डूब जाने की विपत्ति आने पर रत्नावली दयनीय दशा में उदयन के दरबार में पहुँची। कुछ

उदाहरण उपस्थित करती है, तथापि हम निश्चय से नहीं कह सकते कि उस टीका का और रत्नावली का लेखक एक ही व्यक्ति है। उस टीका में से अभिनन्दनगुप्त, शारदातनय और बहुरूपमिश्र ने उद्धरण दिए हैं।

काल तक वह महारानी की सेविका बनी रही; परन्तु अन्त में मालूम हो गया कि वह लंका की राजकुमारी है। सच्ची हिन्दू-पत्नी के समान, जो पति के सुख के लिए सदा अपने सुखों की बलि देने को तैयार रहती है, वासवदत्ता ने रत्नावली का विवाह उदयन के साथ हो जाना स्वीकार कर लिया। इस वस्तु का आधार इतिहास या ऐतिहासिक उपाख्यान है और कुछ बदले हुए रूप में यह कथा कथासरित्सागर में भी आई है। एक ओर रत्नावली नाटिका कालिदास के मालविकाग्निमित्र से और दूसरी ओर राजशेखर की कर्पूरमञ्जरी से अत्यन्त मिलती जुलती है।

प्रियदर्शिका नाटिका में उदयन के आरण्यिका (प्रियदर्शिका) के साथ अनुराग-व्यवहार का और अन्त में विवाह-बन्धन का वर्णन है। वह अंगदेश के राजा दृढ़वर्मा की दुहिता थी और उदयन से उसकी सगाई हुई थी। अभी प्रियदर्शिका का विवाह नहीं हुआ था कि कालिंग के राजा ने अङ्ग पर आक्रमण करके दृढ़वर्मा को बन्दी बना लिया। प्रियदर्शिका आरण्यिका के नाम से उदयन के अन्तःपुर में पहुँच गई। दीर्घ कालक्रम के पश्चात् उसका रहस्य खुल गया और अन्ततोगत्वा वह उदयन की परिणीता प्रिया बन गई[1]।

नागानन्द में पाँच अङ्क हैं। इसमें जीमूतवाहन के आत्मोत्सर्ग की कथा है।[2] इसने सर्प के स्थान पर अपने आपको गरुड़ को खाने के लिए दे दिया था। इसके इस औदार्य-कार्य से प्रसन्न होकर गौरीदेवी ने इसे पुनर्जीवित कर दिया, जिससे इसके रोते हुए माता-पिता को

---

१. इस रूपक के अन्दर एक और रूपक है जिसमें विश्वासपात्री सखी (सांस्कृत्यायनी) कर्त्री धर्त्री बनी हुई है। इस अवान्तर रूपक में (मनोरमावेषधारी) राजा (वासवदत्तारूपधारिणी) आरण्यिका के प्रणय-पाश में बंध जाता है।

२. जीमूतवाहन की ऐसी ही एक कथा कथासरित्सागर की बारहवीं तरंग में दी गई है।

बड़ा हर्ष हुआ। मृत सर्प भी जीवित कर दिए गए और गरुड़ ने प्रतिज्ञा की कि मैं अब से सर्पाहार का परित्याग करता हूँ। रूपक में हिन्दू और बौद्ध विचारों का सुन्दर मिश्रण है, तथा जिस काल में यह लिखा गया है उसका प्रतिबिम्ब इसमें खूब झलक रहा है।

(ग) शैली—हर्ष ने अपनी रचना द्वारा वैदर्भी रीति का बहुत उत्तम आदर्श उपस्थित किया है। यद्यपि इसमें कालिदास और भास जैसी न तो सूक्ष्मेक्षिका है और न ऊँची उड़नेवाली कल्पना, तथापि इसमें सादगी और सुगमता का एक महान् गुण है। इसकी भाषा श्रेण्य (Classical) संस्कृत है और वाक्य नपे-तुले हैं। अलङ्कारों का विन्यास यथोचित और भव्य है। इसमें मौलिकता कम, वर्णन-शक्ति पर्याप्त और स्निग्धमसृणता तो आदि से अन्त तक है। इसकी शैली के उत्तम नमूने का एक पद्य पढ़िए—

आरुह्य शैलशिखरं त्वद्वदनापहृत-कान्ति-सर्वस्वः।
प्रतिकर्तुमिवोर्ध्वकरः स्थितः पुरस्तान्निशानाथः॥

एक अवसर पर यह कहता है :—

विरम विरम वह्ने! मुञ्च धूमानुबन्धं,
प्रकटयसि किमुच्चैरर्चिषां चक्रवालम्।
विरहहुतभुजाऽहं यो न दग्धः प्रियायाः,
प्रलयदहनभासा तस्य किं त्वं करोषि॥

जीमूतवाहन का वक्ष्यमाण विचार कितना चारु है :—

स्वशरीरमपि परार्थे यः खलु दद्यामयाचितः कृपया।
राज्यस्य कृते स कथं प्राणिवधक्रौर्यमनुमन्ये॥

भाषा और छन्द—श्रेण्य (Classical) संस्कृत के अतिरिक्त श्रीहर्ष ने विविध प्राकृतों का भी प्रयोग किया है। इनमें सबसे अधिक प्रयोग शौरसेनी का हुआ है। पद्यों की प्राकृत महाराष्ट्री है और नागानन्द रूपक में एक चेट मागधी बोलता है।

इसका प्रिय छन्द शार्दूलविक्रीडित है। इसके रूपकों में यह ७३ बार आया है। इसके बाद स्रग्धरा का नम्बर आता है।

(११७) मुद्राराक्षस

विशाखदत्त के मुद्राराक्षस की गणना संस्कृत के अत्यन्त उत्कृष्ट रूपकों में की जाती है। इसमें सात अङ्क हैं, जिनमें मौर्य-काल की एक राजनीतिक घटना का वर्णन है। राक्षस को अपनी ओर मिलाने के चाणक्य-कृत कपटपूर्ण उपायों का, अन्तिम नन्दसम्राट् के सचिव की प्रखरप्रतिभा और सच्ची स्वामिभक्ति का, मलयकेतु को अपने साथ मिलाकर प्रथम मौर्य नरेश्वर को सिंहासनच्युत करने की उक्त सचिव द्वारा की हुई चातुर्याञ्चित योजनाओं का ऊर्जस्वित् वर्णन पढ़ने योग्य है। अन्त में चाणक्य ने मलयकेतु और राक्षस में फूट डलवा ही दी। राक्षस को तिरस्कार सहकर विवश हो मलयकेतु की सेवा से हाथ खींचना पड़ा। अपने मित्र राक्षन के परिवार को गुप्तरूप से शरण देने के अपराध में सेठ चन्दनदास भी विपत्ति में पड़ गया। अन्त में अपने सुहृद् चन्दनदास के त्राणार्थ राक्षस को चाणक्य के लिए आत्म-समर्पण करना पड़ा। चाणक्य ने राक्षस से कहा, "यदि तुम चन्दनदास के प्राणों की रक्षा चाहते हो तो तुम्हें चन्द्रगुप्त मौर्य का सचिव-पद स्वीकार करना होगा।" इच्छा न होने पर भी राक्षस को चाणक्य की बात माननी पड़ी। यहीं नाटक की सानन्द समाप्ति हो जाती है।

मुद्राराक्षस ऐतिहासिक नाटक है और इसमें अनेक राजनीतिक षडयन्त्रों का वर्णन है। शृङ्गार और करुण रस का इसमें स्पर्श भी नहीं है। समापक अंक में चन्दनदास की स्त्री के रूप में केवल एक ही स्त्री-पात्र का प्रवेश कराया गया है, वह भी किसी रागात्मक मृदुल दृश्य को दिखाने के लिए नहीं, किन्तु कठोर कर्तव्य तथा स्वार्थ-सन्त्याग का दृश्य दिखाने के लिए। नाटक का स्थायीभाव उत्साह और रस वीर है, परन्तु यह उतना उद्रेकवान् नहीं है जितना भवभूति-रचित महावीर-चरित का। हां, गति अर्थात् क्रिया-वेग (Action) की अद्भुत एकता

की दृष्टि से यह नाटक सारे संस्कृत-साहित्य में अद्वितीय है। बड़े से लेकर छोटे तक सभी पात्रों का एक लक्ष्य है, सारी की सारी आयोजनाओं का एक ध्येय है और वह है राक्षस को अपनी ओर करना। राजनीतिक उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए सच-झूठ या न्याय-अन्याय का विचार उठाकर ताक में रख दिया गया है। राजनीतिक आवश्यकता के अनुसार मित्रता उत्पन्न की जाती और तोड़ दी जाती है। चन्दनदास जैसे उदात्त-चरित्र व्यक्ति तक को प्राण-दण्ड की धमकी दी जाती है, जिसका प्रयोजन केवल यही है कि राक्षस झुक जाए। प्रत्येक पात्र का व्यक्तित्व विस्पष्ट झलकाया गया है। इस नाटक की एक विशेषता यह है कि लेखक ने दो दो पात्रों का एक एक वर्ग बनाया है। चाणक्य और राक्षस दीर्घदर्शी राष्ट्रनीति-विशारद और कुशल आयोजना-योजक हैं। चन्द्रगुप्त और मलयकेतु प्रतिपक्षी राजा हैं। उनकी योग्यताओं और शिक्षाओं में आकाश पाताल का अन्तर है। भागुरायण और सिद्धार्थक इत्यादि लोग निम्नश्रेणी के वर्गों के पात्र हैं और उनके वैयक्तिक गुणों का तारतम्य बहुत अच्छी तरह दिखलाया गया है। भाषा में जान और शान है। पद्यों में मधुरता और मदिरता का प्रवाह है। कुछेक यूरोपियन आलोचकों के विचार से संस्कृत भाषा में बस यही एक यथार्थ नाटक है।

रचयिता—प्रस्तावना में रचयिता ने स्वयं बताया है कि मैं दत्त नामक उच्चकुल का वंशधर हूँ। यह कुल प्रान्त के शासन में उच्चपदारूढ़ रहा है। रचयिता एक सामन्त का पौत्र और एक महाराज का पुत्र था। वह व्याकरण, नाट्य, राष्ट्र-नय, ज्योतिष और तर्क का महान् पण्डित था। वह स्वयं शैव होते हुए बौद्धधर्म में भी थोड़ी-सी श्रद्धा रखता था, परन्तु जैनधर्म को पसन्द नहीं करता था। उसके कुछ फुटकर पद्य सूक्ति-संग्रहों में सङ्कलित मिलते हैं।

काल—इस प्रसिद्ध नाटक के रचना-काल के सम्बन्ध में अलग-अलग विचार हैं। (१) भरत-वाक्य में पाठभेद से तात्कालिक शासक

के दो महत्त्वपूर्ण नाम मिलते हैं—अवन्तिवर्मा और चन्द्रगुप्त। भारतीय इतिहास में दो अवन्तिवर्मा प्रसिद्ध हैं—एक काश्मीर का शासक (८५५-८८३ ई०) और दूसरा प्रभाकरवर्धन का चचेरा भाई, मौखरिवंशीय कन्नौजाधिपति (ईसा की छठी शताब्दी का उत्तरार्द्ध)। कुछ विद्वानों ने मुद्राराक्षस के रचयिता का जीवनकाल काश्मीर शासक अवन्तिवर्मा के शासन-काल में माना है[1]। प्रो. एच. जैकोबि ने मुद्राराक्षस में वर्णित चन्द्रोपराग का समय दो दिसम्बर सन् ८६० ई० निर्धारित किया है। परन्तु इस विचार का समर्थक कोई हेतु विद्यमान प्रतीत नहीं होता। दूसरी ओर, भरत वाक्य में हम स्पष्ट पढ़ते हैं कि वर्तमान शासक ने म्लेच्छों से उद्वेज्यमान राष्ट्र का त्राण किया। काश्मीर के अवन्तिवर्मा ने न तो किसी विदेशी राजा को परास्त किया और न आधीन बनाया, अतः जब हम कन्नौज के अवन्तिवर्मा की ओर मुड़कर देखते हैं तो उसे हूणों के उन्मूलन में प्रभाकरवर्धन का मुख्य सहायक पाते हैं। स्टेन कोनो (Sten konow) ने 'चन्द्रगुप्त' द्वितीय दूसरे पाठ को ग्राह्य मानकर इसका अभिप्राय चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५—४१३ ई०) लिया है। परन्तु इस चन्द्रगुप्त के पक्ष में हूणविजय की समस्या का ठीक सामाधान नहीं होता; क्योंकि हूणों ने उक्त चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल तक उसके राज्यान्तर्गत प्रदेश को उद्विग्न नहीं किया था। मुद्राराक्षस का नीचे अवतार्यमाण पद्य भर्तृहरि ने अपने शतक में उद्धृत किया है, अतः अनुमान है कि विशाखदत्त भर्तृहरि से पूर्व होगा—

---

१. प्रो. ए. बी. कीथ (Keith) का भी यही मत है, क्योंकि वह कहता है कि यह ग्रन्थ नौवीं शताब्दी से भी प्राचीन हो सकता है, परन्तु इसके नौवीं शताब्दी में होने का कोई बाधक प्रमाण है ही नहीं। यह मृच्छकटिक, रघुवंश, और शिशुपालवध के बाद का प्रतीत होता है (जर्नल आव् रायल एशियाटिक सोसायटी, १९०९, पृष्ठ १४५)।

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः,
प्रारभ्य विघ्न-विहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः,
प्रारब्धमुत्तमगुणास्त्वमिवोद्वहन्ति ।

इस पद्य में 'त्वमिव' पुकार कर कह रहा है कि मैं वास्तव में मुद्राराक्षस नाटक का हूँ, भर्तृहरि के शतक का नहीं।

(११८) वेणीसंहार

वीररस का दूसरा रूपक भट्ट नारायणकृत वेणीसंहार है। इसमें सात अङ्क हैं और महाभारत की एक सुप्रसिद्ध घटना इसका प्रतिपाद्य विषय है। द्रौपदी ने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक दुःशासनकृत मेरे अपमान का बदला नहीं चुका लिया जायगा, तब तक मैं सिर का जूड़ा नह बाँधूँगी। भीम जोश में आ गया और कहने लगा यदि युधिष्ठिर ने दुर्योधन से सन्धि की तो मैं इसका साथ छोड़ दूँगा। श्रीकृष्ण ने पाण्डवों और धार्तराष्ट्रों के बीच सन्धि कराने का बड़ा प्रयत्न किया; परन्तु सन्धि न हो सकी। अन्त में महाभारत का जगत्प्रसिद्ध युद्ध हुआ। उसमें सब धार्तराष्ट्र मारे गए और भीम ने दुःशासन के रुधिर में रंगे हुए अपने हाथों से द्रौपदी का जूड़ा बाँधा।

शैली—भट्ट नारायण का चरित्र-चित्रण परम रमणीय है। मृच्छकटिक के पात्रों के समान इसके पात्रों का व्यक्तित्व भी विस्पष्ट है। परन्तु इसमें वर्णनों के बाहुल्य के और महाभारतीय विवरणों की प्रचुरता के कारण पैदा हुआ क्रिया-वेग (Action) का अभाव खटकता है। शृङ्गार का प्रतिपादन निःसत्त्व हो गया है, शायद केवल इसलिए नाटककार ने दासवत् नाट्यशास्त्र के विधि-विधानों का पालन किया है। मुद्राराक्षस के तुल्य इसमें भी स्फूर्ति और सजीवता है। भवभूति की भाँति भट्ट नारायण भी कभी कभी संस्कृत या प्राकृत गद्य में दीर्घ समासों का प्रयोग करने का तथा अर्थ की प्रतिध्वनि जैसी शब्दध्वनि के द्वारा यथासम्भव प्रभाव पैदा करने का शौकीन है।

वेणीसंहार हास्य और करुण रस से शून्य नहीं है। अन्तिम अङ्क भावों की गरिमा और भावद्योतन की मधुरिमा के लिए प्रसिद्ध है। इसका निशा- वर्णन इतना हृदयङ्गम है कि इसी के आधार पर कवि निशानारायण की उपाधि से अलंकृत किया गया है।

काल—(१) भट्ट नारायण के उद्धरण वामन, आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के ग्रन्थों में मिलते हैं; अतः यह अवश्य ईसा की आठवीं शताब्दी से पहले हुआ होगा।

(२) लोक-प्रसिद्धि है कि यह बङ्गाल के राजा आदिशूर के (७ वीं श० का पूर्वार्ध) निमन्त्रण से कन्नौज से बङ्गाल चला गया था।

(३) धर्मकीर्ति के रूपावतार की एक टीका की हस्तलिखित प्रति में लिखा है कि बाण की प्रार्थना स्वीकार करके भट्ट नारायण किसी बौद्ध महन्त का शिष्य हो गया था तथा रूपावतार को भट्ट नारायण और धर्मकीर्ति ने मिलकर लिखा था।

इस से यही परिणाम निकलता है कि भट्ट नारायण भट्ट बाण का सम-सामयिक था।

(११६) भवभूति

(१) भवभूति का आसन भारत के मूर्धन्य रूपककारों की श्रेणी में है। इसका असली नाम श्रीकण्ठ था। सूक्ति-संग्रहों में इसके नाम से कई ऐसे भी पद्य मिलते हैं जो इनके उपलभ्यमान रूपकों में नहीं हैं (इससे अनुमान होता है कि इसने इन रूपकों के अतिरिक्त कुछ और भी लिखा होगा)। इसका जन्म विदर्भ देश में वेद के विद्वानों के विख्यात वंश में हुआ था। यह स्वयं बड़ा प्रकाण्ड पण्डित[1] था।

---

१. अपने पहले दो रूपकों में इसने कुछ ऐसे उद्धरण दिए हैं जो (वेद, उपनिषद् ब्राह्मण और सूत्र इत्यादि) वैदिक साहित्य के ही नहीं, कामशास्त्र, अर्थशास्त्र, रामायण—महाभारत, कालिदास के ग्रन्थ इत्यादि का भी स्मरण कराते हैं।

इसकी प्रथम कृति की तत्कालीन कला-कुशलों ने बड़ी कटु समीक्षा की; किन्तु अपनी कला की उत्कृष्टता से अभिज्ञ और आशा से परिपूर्ण भवभूति ने अपनी लेखनी को उठा कर न रक्खा। यह निर्भय होकर लिखता गया। इसे ऐसा प्रतीत हुआ, मानो शारदा देवी इसकी वशंवदा अनुचरी[1] हैं। इसका विचार था, कि प्रायः लोग स्त्रियों के सतीत्व और कवि-कृतियों के चमत्कार को सन्देह की दृष्टि से देखा ही करते हैं[2]। आगे चल कर इसने अपने दुरालोचकों को फटकार बताते हुए कहा भी था कि मैं[3] यह प्रयास तुम लोगों के लिए नहीं उठा रहा हूँ; मेरा विश्वास है मेरे जैसा हृदय और मेरी जैसी प्रतिभा रखने वाला कोई पुरुष कभी अवश्य पैदा होगा क्योंकि समय का कोई अन्त नहीं और यह पृथ्वी भी बड़ी विस्तृत है।

(२) ग्रन्थ—(क) महावीरचरित। महावीरचरित कदाचित् भवभूति का सबसे पहला सन्दर्भ[4] है। इसमें लेखक के पूर्व पुरुषों का पूरा विवरण है और इसकी रूप-रेखा में मसृणता का अभाव लेखक की अभ्यासावस्था को द्योतित करता है। कथावस्तु का आधार रामायण है, परन्तु इसमें और रामायणी कथा में बहुत ही अधिक भेद है। सारी कथा की भित्ति

---

१. यं ब्राह्मणमियं देवी वाग्वश्येवानुवर्तते ॥

२. यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः।

३. ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि, तान् प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यते तु मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥ मा० मा० १, ६)

४. भारतीय जनश्रुति के अनुसार भवभूति ने इस नाटक का केवल पाँचवें अङ्क के छयालीसवें पद्य तक का भाग ही लिखा था, शेष भाग की पूर्ति करने वाला सुब्रण्ह्य कवि कहा जाता है। इस अधूरेपनका कोई कारण निश्चित नहीं किया जा सकता।

रावण की कपटवृत्ति की और महावीर (राम) के विनाशार्थ उसके किए हुए दुरुपायों की भूमि में खड़ी की गई है। इसमें मालतीमाधव की सी विषयनूतनता नहीं है, हाँ कथावस्तु की एकता अपेक्षाकृत अधिक है। परन्तु कुछ दृश्य अनाटकीय हो गए हैं और अनेक विवरण-वर्णनों तथा लम्बी वक्तृताओं ने क्रिया-वेग (Action) को दुर्बल कर दिया है। चरित्र-चित्रण में भी धुँधलापन है। माल्यवन्त और रावण जैसे मुख्यपात्र भी पाठक के मन में अग्रगण्य व्यक्तियों के रूप में भासित नहीं होते हैं।

(ख) मालतीमाधव—मालतीमाधव एक प्रकरण है और इसमें दस अङ्क हैं। इसकी कथा का आधार कथासरित्सागर की पृथक् पृथक् कथाएँ हैं। लेखक ने उन्हें लेकर एक सूत्र में गूँथ दिया और एक बिलकुल नई चीज पैदा करके पाठकों के सामने रख दी। इस प्रकरण को लिखने का चाव भवभूति को शायद मृच्छकटिक देखकर पैदा हुआ होगा। किन्तु इसमें मृच्छकटिक जैसा हास्य रस नहीं है; यहां तक कि इसमें विदूषक भी नहीं है। मृच्छकटिक के विरुद्ध इसमें प्रकृति के भयानक, भीषण और अलौकिक अंशों का समावेश बड़े शौक से किया गया है।

मालतीमाधव में मालती और माधव के प्रणय-बन्धन का वर्णन है। मालती एक राज-मन्त्री की दुहिता थी और माधव एक तरुण विद्यार्थी था। मालती के पिता के राजा ने मालती का विवाह अपने एक कृपा-पात्र से करने का निश्चय कर रक्खा था, किन्तु मालती उसे नहीं चाहती थी। राजा के सारे उपायों को माधव के सुहृद् मकरन्द ने मालती का रूप बनाकर और उसके साथ विवाह करवा के निष्फल कर दिया। यद्यपि भवभूति की रचना यथार्थ की प्रतिमूर्ति है तथापि पात्रों के राग और शोक का अधिक भाग बनावटी प्रतीत होने लगता है। कथावस्तु मुख्यतया एक आकस्मिक घटना पर अवलम्बित है। मालती दो बार मौत के मुँह में जाने से अचानक बच जाती है। नौवें अंक पर

कालिदास के मेघदूत का और विक्रमोर्वशीय के चौथे अङ्क का प्रभाव परिलक्षित होता है। माधव मेघ के द्वारा अपनी प्रणष्टप्रिया को सन्देश भेजना चाहता है। यद्यपि भवभूति में कालिदास की सी मनोरमता और मादकता नहीं है, तथापि इस अङ्क में यह दुःखपूर्ण करुणरस के वर्णन में कालिदास से बढ़ गया है।

(ग) उत्तररामचरित—उत्तररामचरित निश्चय ही भवभूति की श्रेष्ठ कृति है। जैसा कि इसने स्वयं कहा है—"शब्दब्रह्मविदः कवेः परिणतप्रज्ञस्य वाणीमिमाम्" (उ० रा० च० ७, २०) यह इसकी परिपक्व प्रतिभा की प्रसूति है। रामायण के उत्तरकाण्ड में आया है कि एक निराधार लोकापवाद को सुनकर राम ने सीता का परित्याग कर दिया था। इसी प्रसिद्ध कथा के गर्भ से उत्तररामचरित की कथा ने जन्म लिया है, किन्तु दोनों के अङ्ग-संस्थान में बड़ा भेद है। अपनी नाटकीय आवश्यकताओं के अनुसार लेखक ने उल्लिखित कथा में कई हेर-फेर करके इसके कान्त कलेवर को और भी अधिक कमनीय कर दिया है। इसकी उत्पादित कुछ नवीनताएँ ये हैं—(१) चित्र-पट-दर्शन का दृश्य, (२) वासन्ती और राम की बातों को अदृश्य रहकर सुनने वाली सीता, (३) वासन्ती के सामने राम का सीता के प्रति स्नेह स्वीकार करना, (४) लव और चन्द्रकेतु का युद्ध, (५) वसिष्ठ और साधुओं का वाल्मीकि के आश्रम में आना, और (६) राम के उत्तरचरित का उसी के सामने अभिनय।

सात अङ्कों के इस नाटक में भवभूति ने करुण रस के वर्णन को इसकी चरम सीमा तक पहुँचा दिया है।[1] सच पूछो तो इस गुण में

---

१. देखिए,

अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।

अथवा,

करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी विरहव्यथेव ॥

संस्कृत का कोई नाटककार इससे आगे नहीं बढ़ सका है। भवभूति के करुण विलाप से पाषाण भी रोते थे और वज्र-हृदय भी फटते थे। प्रतीत होता है कवि ने अपने इस गुण से पूर्ण अभिज्ञ होकर ही कहा है—'एकोरसः करुण एव निमित्त भेदात्......'। इसके बारे में भवभूति और कालिदास में विशाल वैषम्य है। शेक्सपियर के तुल्य कालिदास बात व्यञ्जना से कहता है, किन्तु मिल्टन के समान भवभूति अभिधा से। जब हृदय शोक से अभिभूत हो जाता है तब मुँह से बहुत कम शब्द निकलते हैं। हम शेक्सपियर में देखते हैं कि कार्डेलिया (Cordelia) के शव पर इकट्ठे होने वाले शोक का एक शब्द तक नहीं बोल सकते। उसी प्रकार जब कालिदास के राम ने सीता-विषयक झूठे लोकापवाद को सुना, उसका हृदय प्रेम और कर्तव्य की चक्की के दो पाटों के बीच में आकर पिसने लगा—वह टुकड़े टुकड़े हो गया, ठीक उसी तरह जिस तरह आग में तपाया हुआ लोहा घन की चोट से हो जाता है—परन्तु न वह मूर्च्छित हुआ और न उसकी आँखों से आँसुओं की नदी बह चली। एक धीर-हृदय राजा की भाँति उसने लक्ष्मण को आज्ञा दी कि सीता को ले जाकर वन में छोड़ आओ। यदि राम अपने मानवीय हृदय की दुर्बलता को प्रकट होने से नहीं रोक सका तो केवल तब जब उसने सीता को बन में छोड़ लौट आए हुए लक्ष्मण के मुँह से सीता का विदा-काल का सन्देश सुना। अब पलकों के अन्दर रुके हुए आँसुओं के कारण उसकी आँखों के आगे अँधेरा-सा आ गया, उसने दो चार शब्द कहे; परन्तु न तो रोया और न उसने हाय-तोबा मचाई। दूसरी ओर, भवभूति आख्यायिका-काव्यकारों का अनुकरण करके करुण रस का कोई अवसर तब तक जाने देने को तैयार नहीं जब तक उसके पात्र मूर्च्छित न हो लें और आँसुओं की नदी न बहा लें तथा दर्शक सचमुच उसके साथ रोना प्रारम्भ न कर दें।

क्या राम ने सीता को निर्वासित करके धर्म का काम किया था? क्या निरपराध और निरुपाय सीता के साथ उसका यह व्यवहार अन्याय और

अत्याचार नहीं था ! यह प्रश्न प्रायः पूछा जाता है । परन्तु राम उस समय प्रेम और कर्तव्य के 'उभयतो रज्जुपाश' में फँस गया था। क्या उसने अपने पवित्र प्रेम और विशुद्ध उच्च रघुवंश को यूं लाञ्छित होने दिया होता ? क्या यह लोकापवाद के पात्र बने हुए एक व्यक्ति के प्रति नियम-शैथिल्य का उदाहरण इसलिए उत्पन्न करता कि वह उसके पूर्ण सतीत्व का विश्वासी था, या वह उसकी रिश्तेदार थी और इस तरह प्रजा को सदाचार के बन्धनों को शिथिल करने की स्वच्छन्दता दे देता ? या वह कर्त्तव्य की वेदी पर प्रेम की बलि देकर प्राणों से भी प्यारी सीता को छोड़ देता ! उसे क्या करना चाहिए था ? उसे राजा बने अभी थोड़ा ही समय गुजरा था । 'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः' । अन्त में प्रेम और कर्त्तव्य के संघर्ष में कर्तव्य बलवान् निकला ! राम ने सीता– न स्वजीवन शक्ति ही—निर्वासित कर दी । वह सीता के लिए कठोर तो अपने लिए और भी कठोर था । इस वियोग की पीड़ा उसे इतनी ही दुःसह थी जितनी सीता को । राम का जीवन सीता के जीवन से भी क्लेशापन्न हो गया । सीता की बलि चढ़ गई, राम के अपने जगदाह्लाद की बलि चढ़ गई, परन्तु 'राम-राज्य' एक लोकोक्ति बन गई । आज लोग 'राम-राज्य' की कामना करते हैं । क्या कभी किसी और राजा ने भी अपनी प्रजा के लिए इतना महान् आत्म-त्याग किया है ?

उत्तर रामचरित में कवि को वस्तुतः अपने अन्य रूपकों की अपेक्षा अधिक सफलता मिली है । एक तरह से चरित्र-चित्रण बहुत ही बढ़िया है । परन्तु इस नाटक में क्रिया-वेग (Action) की मन्दता खटकती है । इसीलिए आधुनिक आलोचना की तुला पर तोलने के बाद इसे वास्तविक नाटक होने की अपेक्षा 'नाटकीय काव्य' अधिक समझा गया है । इस रूपक की एक विशेषता यह है कि इसके समापक अङ्क के अन्दर एक और रूपक है । इस अङ्क में भवभूति कालिदास से भी आगे बढ़ गया है । सीता-राम के पुनर्मिलन में जो चमत्कार और गम्भीर रस है वह शकुन्तला—दुष्यन्त के वन-खण्ड प्रणय में नहीं है ।

(३) शैली—(क) भवभूति भावप्रवण कवि है[1]। इसलिए यदि कालिदास की तुलना शेक्सपियर के साथ तो इसकी तुलना मिल्टन के साथ की जाती है। यही उचित भी है। यदि इसमें कालिदास का-सा माधुर्य, गौरव और व्यंजकत्व नहीं है तो यह किसी घटना या भाव (Emotion) को थोड़े ही शब्दों में हृदयङ्गम रूप से चित्रित करने में कालिदास से अधिक सिद्ध-हस्त है। उदाहरणार्थ, बूढ़ा कञ्चुकी अपनी आदत के अनुसार राम को 'रामभद्र' कह कर सम्बोधन करने लगता है, परन्तु तत्क्षण सम्भल कर कहता है 'महाराज'।

(ख) प्रकृति में जो कुछ भी भीषण, घटाटोप और अलौकिक है वह संस्कृत के सब कवियों की अपेक्षा भवभूति को बड़ा प्रिय है। अभ्रङ्कष पर्वतों, निबिड काननों, झरझर झरते हुए झरनों और दुष्प्रवेश अपत्यकाओं के इसके वर्णन वस्तुतः आँखों के सामने एक चित्र खड़ा कर देते हैं। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि इसने प्रकृति के मृदुल और कल्पनास्पर्शी रूप के दर्शनों का कभी आनन्द नहीं उठाया। इसका उदाहरण देखना हो तो देखिए इसने मालती माधव के आठवें अङ्क के अवसान पर निशीथ का कैसा नयनाभिराम चित्र खींचा है।

(ग) भवभूति अपने रूपकों में नाना रसों का गम्भीर सम्मिश्रण करने में बड़ा कृतहस्त है (भूम्नां रसानां गहनाः प्रयोगाः)। सो महा-

---

१. सूक्तिग्रन्थों में भवभूति की प्रशंसा में पाए जाने वाले पद्यों में से कुछ उदाहरण देखिए—

भव्यां कदि विभूतिं त्वं तात कामयसे तदा।
भवभूतिपदे चित्तमविलम्बं निवेशय॥
सुकवि-यितयं मन्ये निखिलेऽपि महीतले।
भवभूतिः शुकश्चायं वाल्मीकिस्तु तृतीयकः॥
भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा॥

वीर-चरित, मालतीमाधव और उत्तररामचरित में मुख्य रस यथाक्रम वीर, श्रृङ्गार, करुण हैं। एक एक नाटक तक में कई कई रसों का समावेश पाया जाता है। उदाहरणार्थ मालतीमाधव के तीसरे और सातवें अङ्क में वीर, तीसरे में रौद्र, पाँचवें में बीभत्स और भयानक, नौवें में करुण और नौवें तथा दसवें में अद्‌भुत रस है।

(घ) महावीरचरित और मालतीमाधव दोनों की ही शैली में कच्चा पक्कापन मिला हुआ देखा जाता है। इससे सिद्ध होता है कि महाकवि अभी प्रौढ़ि के मार्ग में था। इसके कुछ पद्य परमप्रसाद गुण पूर्ण हैं और लय, भाव या रस के सर्वथा अनुरूप हैं। उत्तररामचरित की शैली उदात्त और उत्कृष्ट है। उस में प्राण है तथा कान्ति है और लावण्य है। उसे हम उत्तररामचरित में कहे हुए कवि के अपने शब्दों में कह सकते हैं—'धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम्'।

(ङ) इसकी शैली की एक और बड़ी विशेषता इसकी विचार द्योतन की पूर्ण योग्यता है। यह योग्यता तीनों रूपकों में समान रूप से देखने में आती है।

(च) कालिदास के विपरीत यह गौडीवृत्ति का आदर्श लेखक है। 'ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्' इस वचन के अनुसार गौडीवृत्ति में गद्यावस्था में लम्बे लम्बे समास होते हैं। कभी कभी अर्थ की अपेक्षा शब्द की अधिक चिन्ता करता हुआ यह जानकर अप्रसिद्ध पदों और जटिलान्वयी वाक्यों का प्रयोग करता है।

(छ) इसकी वचन-रचना में वास्तविक प्रौढ़ता और उदारता है।

(ज) इसकी सरल और स्वाभाविक रचनाएँ बहुत ही प्रभावशा-

---

१. इस गुण की दुर्लभता के बारे में भारवि का निम्नलिखित पद्य प्रसिद्ध ही है।

भवन्ति ते सभ्यतमा विनिश्चितां मनोगतं वाचि निवेशयन्त ये।
नयन्ति तेष्वप्युपपन्ननैपुणा गभीरमर्थं कतिचित् प्रकाशताम्॥

लिनी हैं। एक उदाहरण देखिए। मालती की बातों को छुपकर सुनता हुआ माधव अपने वयस्क मकरन्द से कहता है :—

म्लानस्य जीवकुसुमस्य विकासनानि
सन्तर्पणानि सकलेन्द्रियमोहनानि।
आनन्दनानि हृदयैकरसायनानि
दिष्ट्या मयाप्यधिगतानि वचोमृतानि ॥ (मा. मा. ४,८)

इस पद्य के अन्त्यानुप्रास में; जो जान-बूझकर लाया गया है, कितना प्रभाव है।

वासन्ती ने राम को जो हृदयविदारक उपालम्भ दिया वह भी इसी साँचे में ढालकर लिखा गया है :—

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं...... ।

(झ) व्याकरण के अप्रचलित रूपों और कोश-संग्रह-सूचक नाना शब्दों के प्रयोग का यह बड़ा रसिक है।

(ञ) इसके रूपकों के—विशेषतः उत्तररामचरित के—पात्रों में वैयक्तिक वास्तविकता देखने में आती है। उदाहरणार्थ राम और सीता के मर्मस्पर्शी शोक-प्रकाशक शब्द देखिये—

किमपि किमपि मन्दं मन्दमासक्तियोगात् ॥

(ट) इसकी प्रेम-भावना का स्वरूप अपेक्षाकृत ऊँची श्रेणी का है और संस्कृत साहित्य में उपलभ्यमान साधारण प्रेम-भावना के स्वरूप से निस्सन्देह कहीं अधिक उदात्त है। उदाहरणार्थ देखिए—अद्वैतं सुख दुःखयोः···

(ठ) भवभूति आत्म-स्वरूप से परिचित था और इसे अपनी कृति पर गर्व था। इसका प्रमाण इसके अपने वचनों से मिलता है—

अहो सरसरमणीयता संविधानस्य (मा० मा० ६, १६, २) और, अस्ति वा कुतश्चिदेवं भूतं विचित्ररमणीयोज्ज्वलं महाप्रकरणम् (मा० मा० १०, २३, १८)।

(ङ) यह शिखरिणीछन्द के निपुण-निर्माण में खूब अभ्यस्त है। दूसरे छन्द जिनका अधिक बार प्रयोग हुआ है शार्दूलविक्रीडित और वसन्ततिलका हैं।

काल—सौभाग्य से भवभूति का समय प्रायः निश्चित-सा ही है। बाण ने अपने हर्षचरित की भूमिका में इनका नाम नहीं लिया, परन्तु वामन ने (८ वीं श०) इसकी रचना में से उद्धरण दिए हैं और राजशेखर (९०० ई० के लगभग) तो अपने आपको भवभूति का अवतार ही कहता है[१]। कल्हण[२] ने लिखा है कि भवभूति और वाक्पतिराज कन्नौज-राज यशोवर्मा के आश्रय में रहा करते थे। यशोवर्मा को काश्मीर के शासक ललितादित्य ने परास्त किया था और कहा जाता है कि ललितादित्य ने ७२६ ई० में चीन के राजा के यहाँ अपना राज-दूत भेजा। वाक्पतिराज ने अपने ग्रन्थ गउडवह में भवभूति की प्रशंसा की है इसके लिए 'आज भी[३]' का प्रयोग किया है। यह 'आज भी' बताता है कि भवभूति वाक्पतिराज से पहले हुआ था और वाक्पतिराज के काल में इसका यश खूब फैल चुका था। इस हिसाब से हम भवभूति का समय ७०० ई० के आसपास मान सकते हैं।

---

१. देखिये—

बभूव वल्मीकभवः पुरा कविस्तः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः॥

२. कविर्वाक्पतिराजः श्रीभवभूत्यादि सेवितः।
जितौ ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्॥ (४, १४४)

३. भवभूइजलहि निग्गयकव्वामयरसकणा ईव स्फुरन्ति।
जरस विसेसा अज्जवि वियडसु कहाणिवेसेसु (गउडवह ७९९)

(१२०) राजशेखर

राजशेखर का जन्म एक कवि-वंश[1] में हुआ था। इसकी पत्नी अवन्तिसुन्दरी एक क्षत्रिय राजकन्या थी जो काव्य-कला में बड़ी कुशल थी। अधिक सम्भवतः यह विदर्भ और कुन्तल देश का निवासी था।

(१) नृपराजशेखर ?—माधवाचार्यरचित शङ्करदिग्विजय में वर्णित है कि राजशेखर केरलदेश का राजा था और उसने शङ्कराचार्य को अपने बनाए तीन नाटक भेंट किए थे। राजशेखर का एक शिलालेख भी मिलता है जिसे लिपितत्त्ववेत्ता[2] ईसा की नोवीं या दसवीं शताब्दी का बतलाते हैं। किन्तु कविराजशेखर और नृप राजशेखर को एक ही व्यक्ति मानने के लिए कोई प्रमाण दिखाई नहीं देता है। कवि राजशेखर एक उच्चश्रेणी के पुरोहित का पुत्र था, इससे यही अनुमान होता है कि शायद यह कोई राजा नहीं था। अधिक सम्भवतः कवि नृपराजशेखर का समान-नामक होने से लोगों की भ्रान्ति का कारण हुआ।

(२) राजशेखर के ग्रन्थ—अपनी बालरामायण की प्रस्तावना में यह स्वयं कहता है कि मैंने छः ग्रन्थ लिखे हैं। निम्नलिखित चार नाटकों को छोड़कर शायद इसके बाकी दो ग्रन्थ हैं रत्नमञ्जरी (एक नाटिका) और अष्टपत्रदलकमल (जिसका साक्ष्य भोज देता है।

(क) बालरामायण—यह दस अंकों का महानाटक है। प्रस्तावना में कवि के कुछ असम्भव गुणों का भी उल्लेख है। इस में रावण का प्रणय प्रधान वस्तु दिखलाई गई है। शुरू से ही सीता को प्राप्त करने के लिए रावण राम का प्रतिद्वन्द्वी दिखलाया गया है।

(ख) बालभारत या प्रचण्ड पाण्डव—यह रूपक अपूर्ण है। केवल दो अङ्क प्राप्य हैं जिनमें द्रौपदी के विवाह, द्यूत-दृश्य तथा पाण्डवों के बन-गमन तक का वर्णन है।

---

१. यह एक ऊँचे दर्जे के पुरोहित का पुत्र और अकालजलद नामक एक महाकवि का प्रपौत्र था।

२. देखिए, ट्रावनकोर आर्कियालोजिकल सिरीज़ २, ८-१३।

(ग) विद्धशालभञ्जिका—यह नियमानुसृत नाटिका है। इसमें चार अङ्क हैं। इसका नायक लाट-भूपति चन्द्रवर्मा है। कथावस्तु न अधिक रोचक है, न अधिक महत्त्वपूर्ण।

(घ) कर्पूरमञ्जरी—यह भी एक नाटिका ही है और इसमें अङ्क भी चार ही हैं। इसमें प्रणय-पथ की समता-विषमताओं का तथा नृप चन्द्रपाल का कुन्तल की राजकुमारी के साथ विवाह हो जाने का वर्णन है। यह नाटिका अवन्तिसुन्दरी की प्रार्थना से लिखी गई थी। इसकी भाषा आदि से अन्त तक प्राकृत है। राजशेखर को गर्व है कि सकल-भाषा-प्रवीण मैं प्राकृत को, जो ललनाओं की भाषा है, सुन्दर शैली युक्त साहित्यिक रचना के लिए प्रयोग में ला सकता हूँ।

(३) नाटकीय कला[1]—राजशेखर के ग्रन्थों का विशेष लक्षण यह है कि इसने वस्तु वर्णन में बड़ा परिश्रम किया है। मौलिक कथानक लिखने या निपुण चरित्र-चित्रण करने में इसने कष्ट नहीं उठाया। इसका सारा ध्यान विचारों को प्रभावोत्पादक रीति से अभिव्यक्त करने की तथा समानश्रुतिक ध्वनियों का प्रचुर प्रयोग करने की ओर देखा जाता है। डा० ए० बी० कीथ की सम्मति है कि यदि काव्य का लक्षण केवल एक-सी ध्वनियां ही हैं तो राजशेखर उच्चतम श्रेणी का एक कवि माना जाएगा। यह संस्कृत और प्राकृत के छन्दों का प्रयोग करने में बड़ा कृतहस्त है। इसने अकेली प्राकृत में ही कम से कम सतरह प्रकार के छन्द लिखे हैं। इसकी भाषा सुगम और रोचक है तथा छन्द विच्छित्तिशाली और आकर्षक हैं। बोल चाल की, विशेषतः महाराष्ट्री भाषा से शब्द

---

१. राजशेखकर की स्तुति का वक्ष्यमाण पद्य सुभाषितों में पाया जाता है—

पातुं श्रोत्ररसायनं रचयितुं वाचः सतां सम्मतां,
व्युत्पत्ति परमामवाप्तुमवधिं लब्धुं रसस्रोतसः।
भोक्तुं स्वादु फलं च जीविततरोर्यद्यस्ति ते कौतुकं,
तद्भ्रातः शृणु राजशेखरकवेः सूक्तीः सुधास्यन्दिनीः॥

बेरोक-टोक लिए गए हैं। गीतगोविन्द और मोहमुद्गर के समान कभी कभी इसमें अन्त्यानुप्रास का भी प्रयोग पाया जाता है।

(४) **समय**—सौभाग्य से राजशेखर का समय निश्चयतापूर्वक बतलाया जा सकता है। यह अपने आपको भवभूति का अवतार कहता है। इसने आलङ्कारिक उद्भट (८ वीं श०) और आनन्दवर्धन (९ वीं श०) का भी उद्धरण दिया है। दूसरी ओर इसका उल्लेख यशस्तिलक चम्पू (९६० ई में समाप्त) के रचयिता सोमदेव ने और धारा के महाराज मुञ्ज (९७४-९९३ ई०) के आश्रित धनञ्जय ने किया है। अपने चारों रूपकों में इसने अपने आपको कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल का आध्यात्मिक गुरु लिखा है। इस राजा के शिलालेख ९०३ और ९०७ ई० के मिले हैं। इस सब बातों पर विचार करके राजशेखर को ९०० ई० के आस-पास मानने में कोई आपत्ति मालूम नहीं होती है।

(१२१) दिङ्नाग की कुन्दमाला

(१) छः अङ्कों वाली कुन्दमाला का प्रथम प्रकाशन, दक्षिण भारत में कुछ ही समय पूर्व प्राप्त हुई चार हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर, सन् १९३३ ई० में दक्षिण भारती, ग्रन्थमाला में हुआ। इसने विद्वानों का ध्यान शीघ्र ही अपनी ओर आकृष्ट कर लिया और तब से यह कई टीकाओं तथा अनुवादों के साथ प्रकाशित हो चुकी है।

लेखक का नाम कहीं दिङ्नाग मिलता है तो कहीं धीरनाग। प्रस्तावना केवल मैसूरवाली ही प्रति में मिलती है। इसमें कहा गया है कि कुन्दमाला अरारालपुर निवासी कवि दिङ्नाग की कृति है।[१] दूसरी ओर, तंजोर वाली प्रति के अन्त में लेखक (Scribe) ने लिखा है कि यह

---

१. कीलहार्नः—ऐपिग्रैफिया इंडीका १, १७१।

देखिए, तत्रभवतोऽरारालपुरवास्तव्यस्य कवेर्दिङ्नागस्य कृतिः कुन्दमाला।

अनूपराध के निवासी धीरनाग की कृति है। संस्कृत साहित्य में दिङ्नाग नाम ही अधिक प्रसिद्ध है। फिर पुस्तक के अन्त में कही हुई लेखक (Copyist) की बात की अपेक्षा प्रस्तावना में कही हुई स्वयं ग्रन्थकार की बात ही अधिक विश्वसनीय है, इसलिए आधुनिक विद्वान् धीरनाग की अपेक्षा दिङ्नाग पाठ ही युक्ततर समझते हैं।

(२) भवभूति के उत्तररामचरित के समान कुन्दमाला का कथानक रामायण के उत्तरकाण्ड से लिया गया है और इसमें सीता के बन में निर्वासन की, राम को उसका पता लगने की, और दोनों के पुनर्मिलन की कहानी दी गई है। वाल्मीकि के आश्रम में गोमती नदी में बहती हुई कुन्द-पुष्पों की माला देखकर राम ने सीता का पता लगा लिया था, इसीलिए नाटक का नाम कुन्दमाला रक्खा गया।

(३) शैली और नाटकीय कला—कविदृष्ट शक्ति की दृष्टि से दिङ्नाग भवभूति से घट कर है, परन्तु नाटककार के रूप में इसे भवभूति से अधिक सफलता मिली है। इस नाटक में सजीवता और क्रियावेग दोनों हैं तथा चरित-चित्रण भी अधिक विशद और चित्रवत् मनोहर है। इसने भवभूति की कई त्रुटियों का भी परिष्कार कर दिया है। उदाहरणार्थ, न तो यह लम्बी लम्बी वक्तृताओं को पसन्द करता है, और न श्रमोत्पादित वर्णन (जो नाटक की अपेक्षा काव्य के अधिक उपयुक्त हैं), तथा न इसने दीर्घ समास और न दुर्बोध पद ही प्रयुक्त किए हैं। उत्तररामचरित में करुण के साथ वीर रस का संयोग देखा जाता है; किन्तु इस सारे नाटक में अन्य रसों के मिश्रण से रहित शुद्ध करुण रस की ही प्रधानता है। भाषा सुगम और हृदय-ग्राहिणी तथा संवाद कौतूहलवर्धक और नाटक गुणशाली हैं। यदि उत्तररामचरित नाटकीय काव्य है तो कुन्दमाला सच्चा नाटक—अभिनय के नितान्त उपयुक्त। दिङ्नाग के पात्र वैसे कल्पना प्रसूत नहीं हैं जैसे कालिदास के हैं, ये वस्तुतः भवभूति के पात्रों से भी अधिक पार्थिव हैं। इसे यद्यपि अनुप्रास और यमक अलङ्कार बड़े प्रिय हैं, तथापि इसने विशद-अर्थ व्यय करके कभी इनका प्रयोग नहीं किया है।

इसकी शैली की एक और विशेषता यह है कि यह कभी कभी लय-पूर्ण गद्य व्यवहार में लाता है।

(४) **समय**—कुन्दमाला की कथा बिल्कुल वही है जो उत्तररामचरित की है। दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से विस्पष्ट हो जाता है कि कुन्दमाला लिखते समय इसके लेखक के सामने उत्तररामचरित रक्खा हुआ था। कई बातों में कुन्दमाला उत्तररामचरित का ही बहुत कुछ विस्तृत रूप है। भवभूति के नाटक में तो राम को सीता की पहचान केवल स्पर्श से ही होती है, परन्तु इसमें स्पर्श के अतिरिक्त पहचान के और भी पाँच साधन हैं, वे हैं—सीता शरीरस्पर्शी वायु, कुन्द-माला, सीता का जलगत प्रतिबिम्ब, पदचिन्ह, और दुकूल। उत्तररामचरित में राम और सीता का मिलन केवल एक बार होता है, परन्तु कुन्दमाला में दो बार। ऐसे और भी अनेक उदाहरण हैं। कुन्दमाला में कई ऐसे प्रसङ्ग भी हैं जो उत्तररामचरित को देखे बिना असमावेय ही रहते हैं। उदाहरणार्थ, यह जान कर कि राम मेरे प्रति निरनुक्रोश हैं, सीता गर्व का अनुभव करती है (देखिए, निरनुक्रोश इत्याभिमानः, अङ्क ३, पद्य १२ के पूर्व)। कुन्दमाला में ढूँढने से ऐसा कोई भी अवसर नहीं मिलता जिससे सीता के इस अभिमान करने का कारण ज्ञात हो सके। परन्तु उत्तररामचरित में जब हम राम को वक्ष्यमाण पद्य बोलता हुआ सुनते हैं तब सब बात विस्पष्ट हो जाती है :—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥ (उ. रा. च. १, १२)

इसके अतिरिक्त, राजशेखर कुन्दमाला के बारे में कुछ नहीं कहता है। इस नाटक में से उद्धरण देने वाला सबसे पहला भोजदेव (लगभग १०१८-१०६० ई०) है। महानाटक (११ वीं से १३ वीं श०) शारदातनयकृत भावप्रकाश (लगभग १२ वीं श०) और साहित्यदर्पण (१४ वीं श०) में भी इसके उद्धरण पाए जाते हैं। अतः हम कुन्दमाला का निर्माण-काल ईसा की १० वीं शताब्दी के आस-पास मान सकते हैं।

(१२२) मुरारि

(१) मुरारि के श्रमोत्पादित अनर्घराघव में सात अङ्क हैं जिनमें रामायण की कहानी दी गई है। कथावस्तु के निर्माण की दृष्टि से यह अधिकतर भवभूति के महावीर-चरित से मिलता जुलता है।

(२) शैली और नाटकीय कला—मुरारि की गणना संस्कृत के महाकवियों में की जाती है। कभी कभी यह महाकवि तथा बालवाल्मीकि की उपाधि से विभूषित किया जाता है। गम्भीरता की दृष्टि से इसकी बड़ी प्रशंसा सुनी जाती है। उदाहरण के लिए एक पद्य देखिए—

देवीं वाचमुपासते हि बहवः सारं तु सारस्वतं,
जानीते नितरामसौ गुरुकुलक्लिष्टो मुरारिः कविः।
अब्धिर्लङ्घित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गम्भीरता-
मापातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्थाचलः॥

विचार-द्योतन की इसकी शक्ति वस्तुतः असाधारण और भाषा एवं व्याकरण पर इसका प्रभुत्व प्रशंसनीय है। इसे अत्युक्तियों का बड़ा शौक है। इसकी किसी सुन्दरी की मुखच्छवि की बराबरी चन्द्रमा भी नहीं कर सकता, इसीलिए चन्द्रमा की छवि की न्यूनता को पूर्ण करने के लिए रात्रि में नक्षत्रमण्डल चमकता है।[१] इसका वचनोपन्यास अक्लिष्ट परन्तु पाण्डित्यपूर्ण है। कभी-कभी जब यह अपनी पण्डिताई दिखलाने लगता है तब किसी टीका की सहायता के बिना इसे समझना कठिन हो जाता है। इसकी उपमाओं में कुछ-कुछ मौलिकता और पद्योक्तियों में सङ्गीत जैसी लयश्रुति है। इसके कुछ श्लोक वास्तव में शानदार और जादू का-सा असर रखनेवाले हैं। खेद है कि कुछ पाश्चात्य विद्वान् इसके ग्रन्थ के जौहर की महत्ता को नहीं जान सके हैं। विल्सन का मत है कि हिन्दू पण्डितों ने मुरारि का अन्यायपूर्ण पक्षपात किया है; कारण, "आजकल के हिन्दू विचार की विशुद्धता, अनुभूति की कोमलता और कल्पना की

---

१. अनेन रम्भोरु ! भवन्मुखेन तुषारभानोस्तुलया धृतस्य।
ऊनस्य नूनं प्रतिपूरणाय ताराः स्फुरन्ति प्रतिमानखण्डाः॥

आभा का अनुमान लगाने की बहुत कम योग्यता रखते हैं"। परन्तु अनर्घराघव का अध्येता जानता है कि इन्हीं गुणों के कारण की जाने वाली मुरारि की प्रशंसा सर्वथा यथार्थ है।

(३) समय—(क) मुरारि ने भवभूति के दो पद्य उद्धृत किए हैं, अतः यह निश्चय ही भवभूति के बाद हुआ।

(ख) काश्मीर के अवन्तिवर्मा के (८५५–८८४ ई०) आश्रय में रहने वाले रत्नाकर ने अपने हरविजय महाकाव्य में श्लेष के द्वारा मुरारि की ओर जो संकेत किया है वह नीचे के पद्य में देखिए—

अंकोत्थनाटक इवोत्तमनायकस्य,
नाशं कविर्व्यधित यस्य मुरारिरित्थम्॥ (३७, १६७)

(ग) मङ्ख के (११३५ ई०) श्रीकण्ठचरित से प्रतीत होता है कि यह मुरारि को राजशेखर से पहले का समझता था। अतः मुरारि का स्फुरण-काल ईसा की नौवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में माना जा सकता है।

(१२३) कृष्णमिश्र

कृष्णमिश्र का प्रबोधचन्द्रोदय एक महत्त्वपूर्ण अप्रस्तुत प्रशंसात्मक (Allegorical) रूपक है। इसकी रचना किसी मन्दमति शिष्य को अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त समझाने के लिए की गई थी। इस रूपक में बड़ी सुगम और विशद रीति से अद्वैत वेदान्त की उत्कृष्टता का प्रतिपादन किया गया है। भाव-वाचक संज्ञाओं को व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ मानकर पात्रों की कल्पना की गई है।

कपूयचरित 'महामोह' काशी का राजा है। काम, क्रोध, लोभ, दम्भ और अहङ्कार उसके सचिव हैं। इसके विपक्षी हैं—पुण्यचरित नृप विवेक, जिनके सहायक हैं सन्तोष, प्रबोधोदय, श्रद्धा, शान्ति और क्षमा इत्यादि सब सद्गुण। महामोह इन सबको इनके घर से मार भगाता है। तब एक आकाशवाणी होती है कि एक दिन विवेक ईश्वरीयज्ञान के क्षेत्र में लौट कर आ जाएगा और यथार्थज्ञान की प्राप्ति महामोह के राज्य का नाश कर देगी। अन्त में विवेक पक्ष की गौरवशाली विजय और महामोह की पूर्ण पराजय होती है।

समय—इस रूपक की प्रस्तावना में प्रसंगवश नृप कीर्तिवर्मा से प्राप्त राजा कर्णदेव की पराजय का उल्लेख आ गया है। कहा जाता है कि राजा कीर्तिवर्मा ने १०४९ से ११०० ई० तक राज्य किया था और १०६५ ई० के आसपास राजा कर्णदेव को हराया था। अतः कृष्णमिश्र का समय निस्संदेह ११ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मानना चाहिए।

(१२४) रूपककला का ह्रास

मुरारि और राजशेखर के थोड़े ही दिन पीछे रूपककला का ह्रास प्रारम्भ हो गया। इस समय संस्कृत साहित्य के अन्य क्षेत्रों में भी अवनति के निश्चित लक्षण दिखाई देने लगे थे—श्रेण्य (Classical) संस्कृत की प्रगति का काल ११०० ई० के आसपास समाप्त हो जाता है—परन्तु रूपक के क्षेत्र में तो प्रगति का बाध और भी अधिक विस्पष्ट है। इस समय संस्कृत और भावित भाषाओं के बीच भेद की खाड़ी धीरे-धीरे बहुत चौड़ी हो चुकी थी। रूपकों की प्राकृत भाषाएँ तक पुरानी होती गईं और उनका स्थान पहले अपभ्रंशों ने और बाद में बोलचाल की भाषाओं ने ले लिया। राजशेखर ने बेधड़क बोलचाल की भाषाओं से, विशेषतः महाराष्ट्री से, शब्द ले लिए थे। बाद के कृतिकारों की कृतियों में थोड़ा-थोड़ा अन्त्यानुप्रास का प्रयोग भी बोलचाल की भाषाओं के प्रभाव के कारण ही हुआ है। शनैः शनैः बोलचाल की भाषाओं ने ही साहित्यिक भाषाओं का रूप धारण कर लिया और संस्कृत या साहित्यिक प्राकृत में लिखे हुए रूपकों का प्रचार घटने लगा। कीर्ति के लिए लिखने वाले कवियों ने काव्य या साहित्य के किसी अन्य अंग का निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया; कारण, संस्कृत के नाटक न तो साधारण जनता के ही अनुराग की वस्तु रह गए थे और न उनके लेखकों को धन से पुरस्कृत करनेवाले बहुत राजा या जागीरदार ही थे। अतः संस्कृत-नाटक लिखकर कीर्ति प्राप्त करने की आशा व्यर्थ थी। हाँ, स्वान्तःसुखाय संस्कृत-नाटक लिखने की प्रथा वर्तमान शताब्दी तक चली आई।

परिशिष्ट १

वैदिक साहित्य के इतिहास की रूपरेखा

परिचय

'वेद' शब्द बड़ा व्यापक है। सभी सद् विद्याओं का यह मूल स्रोत माना जाता है। साधारणतया इसकी व्युत्पत्ति '√विद्' (जानना) से की जाती है, परन्तु इसकी व्युत्पत्ति '√विद्' (होना), '√विद्लृ' (प्राप्त करना) तथा '√विद्' (मनन करना) से भी संभव है; यथा "विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति अथवा विदन्ते लभन्ते, विन्दन्ति विचारयन्ति, सर्वे मनुष्याः सत्यविद्यां यैर्येषु वा, तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः।"[1]

भारोपीय परिवार की किसी भी शाखा के साहित्य से वैदिक साहित्य निश्चित रूपेण अति प्राचीन है विचारों की उत्कृष्टता व निर्मलता तथा भाषा और छन्दों के सौष्ठव से यह विशिष्ट है। वैदिक साहित्य प्रायः धार्मिक है। ब्लूमफील्ड के कथनानुसार, यह भारत का प्राचीनतम साहित्यिक कीर्ति-स्तम्भ, भारोपीय राष्ट्रों का प्राचीनतम लिखित पत्रप्रमाण—तथा भारतीय धार्मिक विचार-धारा का सदा के लिए मूल स्रोत है।

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत समझे जाते हैं चारों वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद् ग्रन्थ तथा सूत्र ग्रन्थ। वेदों के प्राचीन नाम[2] ऋचः, यजूंषि, सामानि और अथर्वांगिरसः भी मिलते हैं। ये नाम रचना की विभिन्न

---

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (स्वामी दयानन्द सरस्वती)

२. ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।

उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः (अथर्व० ११,७,२४)

एवं वारेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरसः। (बृहदा० उप० २,४,११)

शैलियों से संबंध रखते हैं, न कि उनकी विधिवत् संकलित संहिताओं से।

वैदिक साहित्य के इतिहास में हमारे सामने तीन प्रमुख विकास-काल आते हैं—

१. चारोंवेद

ये रचनात्मक एवं काव्यीय युग की देन हैं और 'संहिता' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका रचना काल और माहात्म्य परस्पर भिन्न है। इसे हम मन्त्र काल कह सकते हैं। ऋग्वेद और अन्य वेदों के रचना काल में काफी अन्तर है, अतः मैक्समूलर आदि अनेक विद्वानों ने इस काल को दो भागों में विभक्त किया है—

(क) छन्दः काल— जब मन्त्रों की रचना हुई।

(ख) मन्त्रकाल—जब मन्त्रों का संकलन हुआ।

(क) ऋग्वेद प्राचीनतम है और सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण है। इसके सभी सूक्त देवताओं के स्तुतिपरक हैं।

(ख) सामवेद—७५ मन्त्रों को छोड़ कर शेष सभी मन्त्र ऋग्वेद से लिये गए हैं। ये सभी गेय हैं, अतः हम इसे गान-संहिता भी कह सकते हैं।

(ग) यजुर्वेद—ऋग्वेदीय मन्त्रों के अतिरिक्त इसमें मौलिक गद्यांश भी मिलते हैं। इसमें यज्ञ सम्बन्धी प्रार्थनाएँ हैं। यह हमें दो रूपों में मिलता है—कृष्ण यजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद।

(घ) अथर्ववेद—यह ऋग्वेद से बहुत इधर का है। इसके मन्त्र अधिकतर ऋग्वेद के १० वें मंडल से लिये गए हैं और यह आकार में उसके सदृश है। परन्तु विचारधारा ही दृष्टि से यह उससे भी अधिक प्राचीनता का द्योतक है क्योंकि इसमें यन्त्र, तन्त्र और जादू टोने आदि जिसका सम्बन्ध जनता की निम्न श्रेणियों से होता है विशेष रूप से पाये जाते हैं। जादू-टोने के ये मन्त्र चाहे तो व्यक्ति स्वयं उच्चारण कर ले, अथवा मायावी पुरोहित उसके लिए उच्चारण कर देवे।

धार्मिक सिद्धान्तों के विकास के जिज्ञासुओं के लिए ये वेद नितान्त

महत्त्व के हैं। साहित्य के रूप में इनका स्थायी महत्त्व है क्योंकि दैवी विभूतियों की शक्ति, प्रभाव और रूप का जिस प्रकार प्राचीन ऋषियों ने दर्शन किया, वह इन में अच्छी प्रकार सविस्तार वर्णित है। ब्लूमफील्ड के मतानुसार ऋग्वेद का विशेष महत्त्व उसके दार्शनिक विचारों में है। दिव्य शक्तियों का चित्रण तथा धार्मिक विचारों का विकास जितनी विशदता के साथ इसमें मिलता है, उतनी किसी और समानान्तर साहित्य में नहीं।

२—ब्राह्मण-ग्रन्थ

इस काल में पुरोहितों ने अपनी रचनात्मक शक्तियों को यज्ञीय कर्म-काण्ड के विस्तार में लगा दिया। परिणाम यह हुआ कि यह कर्मकाण्ड का ढांचा इतना जटिल और चित्रमय बन गया कि इसकी उपमा संसार में और कहीं नहीं मिलती। ये आध्यात्मिक ग्रन्थ ब्राह्मण कहलाते हैं क्योंकि इनका सम्बन्ध ब्रह्म से है। यज्ञों के अनुष्ठान में वैदिक मन्त्रों के विस्तृत प्रयोग पर ये विशेष रूप से बल देते हैं।

ये सभी गद्यात्मक हैं; इनमें से कुछ ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों की भाँति स्वर-सहित हैं। भारोपीय परिवार की प्राचीनतम गद्य-रचना को ये व्यक्त करते हैं। पश्चिमीय आलोचना के अनुसार, इनकी शैली भद्दी, असंगत और दुरूह है। वेदों की भाषा को समझने के लिए इनसे विशेष सहायता मिलती है, इनमें प्राचीनतम परम्पराएँ और दार्शनिक विचार भी पाए जाते हैं, अतः भारतीय सभ्यता और भाषा के इतिहास के जिज्ञासु के लिए इनका महत्त्व कम नहीं, परन्तु (Kaegi) केगी के मतानुसार स्वर्ण अथाह कीचड़ में लिप्त है।

मैक्डानल के मतानुसार, इनकी अवर सीमा ५०० ई० पू० से इधर नहीं हो सकती, क्योंकि इनके अन्तिम सिद्धान्त महात्मा बुद्ध को ज्ञात थे, और महात्मा बुद्ध का निर्वाण-समय प्रायः ४८० ई० पू० निश्चित है। इनकी पर सीमा १०००–१५०० ई० पू० हो सकती है।

३—सूत्र-ग्रन्थ

ये सारभूत संक्षिप्त ग्रन्थ गद्यात्मक हैं और इनकी शैली नितान्त संक्षिप्त है। ये वैदिक कर्मकाण्ड (कल्प) और व्यावहारिक न्याय (धर्म) से सम्बन्ध रखते हैं।

सूत्र ग्रन्थों का उद्देश्य विशीर्ण सामग्री का संक्षिप्त सर्वेक्षण करना है। कल्प अथवा धर्म के अर्थ की व्याख्या तो ये नहीं करते, परन्तु उनका सरल क्रमिक विवरण नितान्त संक्षिप्त भाषा में प्रस्तुत करते हैं। सूत्र शब्द की व्युत्पत्ति सीव् (सीना) से होती है जो कि इस उद्देश्य की द्योतक है। भाषा इतनी संक्षिप्त कि बीजगणित के सूत्र और छोटे से छोटे तार के शब्द भी उसके सामने विक्षिप्त प्रतीत होते हैं। स्मरण शक्ति को तीव्र करने में ये बड़े सहायक हैं। सूत्र में एक भी अक्षर कम हो जाने से ऋषि को इतनी प्रसन्नता होती थी जितनी कि एक सद्गृहस्थ को पुत्रोत्पत्ति पर, क्योंकि अनन्त काल के लिए सभी सभी जिज्ञासुओं का कुछ समय बच गया। यह स्वभाविक ही है कि व्याख्या के बिना ऐसे ग्रन्थों को भली प्रकार समझ लेना कठिन ही है। उदाहरणार्थ सांख्यशास्त्र में भूमिका और उपसंहार के दो सूत्रों को छोड़कर कुल २० सूत्र हैं। जिनमें १२४ अक्षरों पर परिमित कुल ४५ शब्द हैं। किसी-किसी सूत्र में तो केवल तीन अक्षरों का एक ही शब्द है। इतना महत्त्वपूर्ण और इतना संक्षिप्त ग्रन्थ संसार भर में और कहां मिलेगा ?

ऋग्वेद

१—परिचय—ऋग्वेद भारोपीय परिवार के प्राचीनतम काव्य को प्रस्तुत करता है जो कि हम तक सूक्तों के संग्रह के रूप में पहुंचा है। यजुर्वेद और सामवेद की भाँति इन सूक्तों की संहिता का आधार प्रयोगात्मक नहीं, अपि तु वैज्ञानिक और ऐतिहासिक है। शाकल शाखा का एकमात्र संस्करण हम तक पहुंचा है। उसमें कुल मिलाकर १०१७ सूक्त हैं। यदि आठवें मंडल के मध्य में दिए गए ११ बालखिल्य सूक्त भी

मिला लेवें तो १०२८। महर्षि शौनक के मतानुसार इसमें कुल मिलाकर १०५८० मन्त्र, १५३८२६ शब्द और ४३२००० अक्षर हैं। ये मन्त्र १४ छन्दों में रचित हैं।

२—सूक्तों का क्रम—ऋग्वेद में कुल १० मंडल हैं, प्रत्येक मंडल सूक्तों में विभक्त है और प्रत्येक सूक्त मन्त्रों में। प्रथम और दशम मंडल के सूक्तों की संख्या समान अर्थात् १९१ है। इन १० मंडलों के साधारण विवरण में प्रायः भेद है।

(क) मंडल २ से ७ तक (जो कि पारिवारिक मंडल) कहलाते हैं इनका अलग समूह है। क्योंकि (अ) इनमें प्रत्येक मंडल समूचा एक ही परिवार (वंश) के ऋषियों से सम्बद्ध है। (आ) इन मण्डलों में सूक्त एक विशेष क्रम से रखे गए हैं जो कि दूसरे मंडलों के क्रम से भिन्न है।

(ख) मंडल १, ८, १० भिन्न-भिन्न ऋषियों की कृतियां हैं। इनमें सूक्तों का क्रम ऋषि की समानता के आधार पर है।

(ग) मंडल ९ में सभी सूक्त ऐसे हैं जो कि देवता सोम पवमान् से सम्बद्ध हैं। इसमें सूक्तों का क्रम छन्द के आधार पर है।

अब हम इस पर तनिक विस्तार से विचार करते हैं—

(क) पारिवारिक मंडल (२–७) इन मंडलों में दो अपवादों को छोड़कर सूक्तों की संख्या उत्तरोत्तर वृद्धि पर है। साधारण दृष्टि से तथा आन्तरिक स्थापना (Arrangement) में ये समान हैं। अतः पश्चिमीय विद्वानों के अनुसार ये मंडल ऋग्वेद का बीज हैं। अन्य मंडल बाद में इससे जोड़ दिये गए।

(ख) मंडल ८ में कण्व परिवार का प्राधान्य है। छन्द की दृष्टि से भी इस मंडल की अपनी ही विशेषता है। ७ वें मंडल से इसमें सूक्त कम हैं। प्रथम मंडल के प्रथम भाग (१–५० सूक्त) से इसका विपुल सादृश्य है। उसमें भी कण्व परिवार और समान छन्द का प्राधान्य है। दोनों में समानान्तर तथा सदृश मन्त्र हैं। इससे प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के विकास का द्वितीय स्तर था।

(ग) मंडल ९ उस समय जोड़ा गया जब कि पहले ८ मंडल पूर्ण हो चुके थे कारण कि इसमें सभी सूक्त सोम पवमान को सम्बोधित किये गये हैं और प्रथम ८ मंडलों से उद्धृत किए गए हैं। इन मन्त्रों के ऋषिपरिवार भी वही हैं जो कि मंडल २ से ७ तक के हैं।

(घ) मंडल १० की रचना निश्चितरूपेण तब हुई जब कि पहले ९ मंडलों की रचना हो चुकी थी। इसके निम्न कारण हैं—

(१) इसके एक वर्ग (२०–२६ सूक्त) का आरम्भ 'अग्निमीले' से होता है जो कि प्रथम मंडल के प्रथम सूक्त के प्रथम मन्त्र के प्रारम्भिक शब्द हैं।

(२) सोम पवमान से सम्बद्ध मण्डल ९ के ये बाद में आता है।

(३) इसके सूक्तों की संख्या प्रथम मण्डल के सूक्तों के समान है।

(४) यह मण्डल अर्वाचीन वर्गों तथा अर्वाचीन वैयक्तिक सूक्तों का है। इससे प्रतीत होता है कि यह परिशिष्ट सूक्तों का समुच्चय है।

(५) पुराने देवताओं का प्रभुत्व इस मण्डल में ह्रास पर है। पहले नौ मण्डलों में देवता मानवाकार हैं परन्तु इस मण्डल में मनस, मन्यु, सत्य, वाक् और ज्ञान आदि भाववाचक देवताओं का भी प्रादुर्भाव दीख पड़ता है। विश्वेदेवाः के रूप में देवताओं का सामूहिक भाव उन्नति पर है। राजयक्ष्मघ्नम्, अलक्ष्मीघ्नम् और सपत्नीघ्नम् आदि देवता[1] भी दीख पड़ते हैं।

(६) कुछ एक सूक्तों में नितान्त नए विषयों का वर्णन मिलता है—जैसे जगत् की सृष्टि, दार्शनिक विचार, विवाह तथा

---

१. यह ध्यान देने योग्य है कि वैदिक साहित्य में 'देवता' से तात्पर्य 'प्रतिपाद्य विषय' है। पश्चिमीय विद्वानों ने इसका अर्थ सदा देव (god) करके अनर्थ किया है। अनेक पूर्वीय विद्वानों ने भी अन्धाधुंद उसी का अनुकरण किया है।

२. न सदासीत् नासत्………

अन्त्येष्टि संस्कार, यन्त्र-मन्त्र, संवाद और वेदान्त[1] सूक्त इत्यादि।

(७) आकार अर्थात् भाषा के आधार पर

(अ) स्वर सन्धि का प्रयोग वृद्धि पर है और सन्धि छेद का प्रयोग नितान्त कम हो गया है, जैसे वरेण्यम् (वरेणि-अम् नहीं);

(आ) र् के स्थान पर ल् का प्रयोग वृद्धि पर है;

(इ) 'आसस्' जोड़ कर प्रथमा बहुवचन का प्रयोग ह्रास पर है;

(ई) कई पुराने शब्दों का प्रयोग बन्द हो गया है, और नये शब्द का प्रयोग आरम्भ हो गया है, यथा 'सीम्' १० वें मण्डल में केवल एक बार आया है, पहले मण्डलों में ५० बार।

(उ) संस्कृत भाषा के बाद के अनेक शब्द भी यहाँ पर दिखाई पड़ते हैं, जैसे लभ् , काल, लक्ष्मी, एवम् इत्यादि।

अतः भाषा के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि दशम मण्डल अन्य वेदों के लिए सन्धिकाल है।

३—कालक्रमानुसार विकासात्मक स्तर—ऋग्वेद के सभी सूक्तों की सृष्टि अथवा रचना में अवश्य ही कई शताब्दियां लगी होंगी। ऋग्वेद के पुराने भाग के ऋषि अपने ऐसे पूर्वजों का वर्णन करते हैं जिनके ढंग पर वे स्तुति करते हैं, अथवा जिनके गीतों को वे जारी रखना चाहते हैं और पुरा काल में रचित पैतृक सूक्तों का वर्णन करते हैं। भाषा का साक्ष्य हमारी अधिक सहायता नहीं करता, परन्तु विचार, शैली और काव्यीय प्रतिभा के आधार पर विकासात्मक भेदों की प्रतीति अवश्य हो जाती है।

ऋग्वेद की तत्कालीन पांडुलिपियां नहीं मिलतीं। परन्तु अन्य वेदों में ऋग्वेद के अनेक सूक्त मिलते हैं। अन्य वेदों का यह साक्ष्य यास्क और प्रातिशाख्यों के सांक्ष्य से भी बहुत प्राचीन है। अन्य साहित्यिक ग्रन्थों

---

१. सहस्राक्षाः……………… (१०,९०)

के लिए जो महत्त्व उनकी पांडुलिपियों का होता है, वही ऋग्वेद के लिए अन्य वेदों का है।

४—**क्षेपक से रहित**—ऋग्वेद में क्षेपक नहीं है इसके अनेक प्रमाण हैं। ऋग्वेद की मौलिकता का सम्बन्ध दो कालों से है। (क) छन्द: काल—जब कि मौखिक परम्परा का प्राधान्य था और इसने अभी संहिता का रूप धारण नहीं किया था। सम्भव है कोई एक आध परिवर्तन मौखिक परम्परा के कारण इस काल में हो गया हो।

(ख) **मन्त्र-काल**—जब इसने संहिता का रूप धारण किया और सन्धि के नाना विकारों का इसमें समावेश हुआ, जैसे संहिता में 'त्वं ह्यग्ने' पाठ मिलता है, परन्तु मूल में 'त्वं हि अग्ने' है। सौभाग्यवश सूक्त छन्दोबद्ध हैं। जब सन्धि के नियमों के कारण कुछ विकार आ भी गये हैं, तो मूल पाठ का पता लग सकता है।

सन्धि के इन मामूली विकारों को छोड़कर जो कि ऋग्वेद की मौलिकता को प्रभावित नहीं करते, हम सविश्वास कह सकते हैं कि वर्तमान ऋग्वेद मूल ऋग्वेद से भिन्न नहीं है। ऋग्वेद के प्रत्येक अक्षर पर तीनों में से एक स्वर है—उदात्त, अनुदात्त अथवा स्वरित। यह ध्यान देने योग्य है कि ऐसी सूक्ष्म बातों में भी ऋग्वेद की मौलिकता को बड़ी सावधानी के साथ सुरक्षित रखा गया है। नीचे लिखे प्रमाणों से पता चलता है कि किस प्रकार आश्चर्यजनक ढंग से ऋग्वेद की मौलिकता को प्राचीनतम काल से ही अत्यन्त विशुद्ध रखा गया है।

(क) **अन्य वेदों का प्रमाण**—यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद में ऋग्वेद के बहुत उद्धरण मिलते हैं। इस रूप में, ये वेद मानो ऋग्वेद की पांडुलिपियों के समान हैं। ऋग्वेद के साथ उनके तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के मूल-पाठ में कोई भेद नहीं हो पाया।

(ख) **मौखिक परम्परा**—इससे पूर्व भी, ऋग्वेद का प्रवाह मौखिक परम्परा के द्वारा चल रहा था। इस मौखिक परम्परा को निरन्तर तथा

अखण्ड जारी रखना परमधर्म माना जाता था और मूल-पाठ में एक अक्षर को इधर-उधर अथवा ऊपर-नीचे करने का किसी को अधिकार न था। इन वेदपाठियों (जो श्रोत्रियों के नाम से विख्यात हैं) की मौखिक परम्परा आज तक भी अच्छिन्न चली आ रही है। ये श्रोत्रिय मानो वेदों की जीवित पांडुलिपियां हैं। सूक्ष्मतम बातों में भी ये ऋग्वेद के मूल-पाठ के विषय में प्रमाण हैं। उदाहरण, **वेदोच्चारण** के विषय में इनकी प्रामाणिकता प्रसिद्ध है। प्रातिशाख्यों के साक्ष्य को ध्यान में रखते हुए हम यह सविश्वास कह सकते हैं कि ऋग्वेद का उच्चारण प्राचीनतम काल में भी इसी रूप से होता था।

(ग) **शतपथ ब्राह्मण** के साक्ष्य से पता चलता है कि अन्य वेदों में मन्त्रों के परिवर्तन में भी भले ही कोई गुंजाइश हो, परन्तु ऋग्वेद के विषय में ऐसा कोई सुझाव जब किसी आचार्य ने प्रस्तुत भी किया तो उसे विचारणीय नहीं समझा गया।

(घ) **ब्राह्मण-ग्रन्थ और सूत्र-ग्रन्थ**—ब्राह्मणग्रन्थों में तथा शांखायन आदि सूत्र ग्रन्थों में अनेक ऐसे वाक्य मिलते हैं जिनमें सूक्तों के मन्त्रों की संख्या का वर्णन मिलता है। ये सभी वर्णन ऋग्वेद के वर्तमान पाठ से मेल खाते हैं।

(ङ) यह ध्यान रखना चाहिये कि ऋग्वेद के उद्धरण देते हुए ब्राह्मण-ग्रन्थ और सूत्र-ग्रन्थों ने यज्ञों में प्रयोगात्मक आवश्यकता के अनुसार मन्त्रों के क्रम में कुछ परिवर्तन भी किया है। इसे हम भूल कर भी वर्तमान पाठ की अशुद्धि नहीं कह सकते।

(च) **पदपाठ**—ऋग्वेद की मौलिकता को सर्वथा सुरक्षित रखने के लिए अनेक सावधानियों (संरक्षण उपायों) को प्रयोग में लाया जाता रहा है। निरुक्त-कार यास्क तथा ऐतरेय-आरण्यक-कार शाकल्य से भी बहुत पूर्व **पद-पाठ** की रचना हो चुकी थी। इस में प्रत्येक शब्द का परिच्छेद करके उसे स्वतन्त्र रूप में दिया गया है। इस पद-पाठ का महत्त्व हमें स्पष्ट हो जाता है जब हम देखते हैं कि छः मन्त्रों का पद-

पाठ न कर के उन्हें संहिता रूप में ही पुनः लिख दिया गया है, और कि ११ बालखिल्य सूक्तों को छोड़ ही दिया गया है। आन्तरिक साक्ष्य से हमें पता चलता है कि ये सूक्त मूल-ऋग्वेद का भाग नहीं हैं।

(छ) **क्रमपाठ**—इस के बाद क्रम-पाठ को अपनाया गया है। इसमें पद-पाठ के प्रत्येक शब्द को पूर्ण शब्द के साथ जोड़ कर दो बार दिया गया है—जैसे क, ख, ग, घ, शब्दों को कख, खग, गघ...करके लिखा गया है।

(ज) **जटापाठ**—इस के साथ ही जटापाठ को अपनाया गया, जो कि इस क्रम को जटिल बना देता है—जैसे क, ख, ग शब्दों को कख खक, कख, खग, गख, खग...के रूप में दिया गया है।

(झ) **घन-पाठ**—इसके अतिरिक्त घन-पाठ को भी अपनाया गया जो कि इस क्रम को और भी जटिल बना देता है, जैसे कख, खक, कखग, गखक, कखग, ख ग, ग ख, ख ग घ......

(ञ) प्रातिशाख्य—इन का साक्ष्य भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इन में पद-पाठ को मूल संहिता में परिवर्तित करने के नियम आदि दिये गए हैं।

(ट) अनुक्रमणियां—अनुक्रमणियों में सूक्तों की संख्या, प्रत्येक सूक्त के मन्त्रों की संख्या, शब्दों की संख्या इत्यादि विषयों का विशदता से वर्णन किया गया है। इन के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि ऋग्वेद की मौलिकता में विक्षेप आने की कोई गुंजाइश नहीं हो सकती थी।

(ठ) बृहद् देवता—इस में मन्त्रों के द्रष्टा ऋषियों तथा तद्विषयक देवताओं का वर्णन मिलता है। इस के अवलोकन से भी उपरिलिखित की पुष्टि होती है।

(ड) वेदों के सृष्टि-काल से ही वेद (श्रुति) आर्यों (हिन्दुओं) के स्वतः प्रामाणिक ग्रन्थ रहे हैं अतः उन की मौलिकता को सर्वथा विशुद्ध रखने के लिए यथाशक्ति यथासंभव सभी प्रयास किए गए।

(ढ) स्कन्द स्वामी (१० वीं शताब्दी), सायण (१४ वीं शताब्दी), उद्गीथ, मुद्गल तथा वेंकट माधव के भाष्यों के अवलोकन से भी इस तथ्य की सर्वथा पुष्टि होती है।

५—**ऋग्वेद का महत्त्व**—ऋग्वेद भारोपीय परिवार का प्राचीनतम साहित्य है। इस के ऐतिहासिक महत्त्व तथा च तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में की जानी वाली सहायता का नितान्त महत्त्व है। इस के बिना मानव सृष्टि के आदि काल का हमें कुछ भी निश्चित रूपेण पता नहीं होता और हमारे सभी अनुमान तथा कल्पनाएं निराधार होतीं। यह ग्रन्थ पूर्व और पश्चिम की अर्थात् सम्पूर्ण मानव-सृष्टि की साधारण बपौती है, इसके बिना तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का क्षेत्र नितान्त अधूरा रहता। संस्कृत भाषा ग्रीक अथवा लातीनी से निश्चित रूपेण अति प्राचीन है। निरीक्षण से पता चलता है कि ऋग्वेद की भाषा संस्कृत से उतनी ही अथवा उससे भी अधिक भिन्न है जितनी कि होमर की ग्रीक ऐटिक से अथवा चौसर की अंग्रेजी वर्तमान अंग्रेजी से।

(क) काव्य—यद्यपि हमें ऋग्वेद में कालिदास का माधुर्य और सौष्ठव, भवभूति की भावात्मकता, दण्डी का पदलालित्य, भारवि का अर्थ-गौरव, माघ की प्रभावशाली कलात्मकता तथा च बाण की आश्चर्यमयी जटिलता का साक्षात् दर्शन नहीं होता तो भी ऋग्वेद के सूक्तों की कुछ ऐसी निराली प्रतिभा और सर्वांगीणता है कि जिसके संबंध में सरस्वती देवी भी गर्व कर सकती है। उषः देवी को सम्बोधित किये गए सूक्तों की सौन्दर्यमयी चित्रात्मकता तथा अग्निदेव को सम्बोधित किये गए सूक्तों की विचित्र सरलता अनुकूल सहृदय पाठक को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकती।

(ख) दर्शन—आत्मा और ब्रह्म के विषय में ऋग्वेद में किसी निश्चित दर्शन को प्रतिपादित नहीं किया गया है, अपितु यह सब दर्शनों का मूल है। व्यावहारिक जीवन के लिए इसकी शिक्षाएं सरल और

प्रयोगात्मक हैं। यज्ञ (=निस्स्वार्थ कर्म) तथा 'परस्परं भावयन्तः'[1] के सिद्धान्तकी ऋग्वेद परिपुष्टि करता है। मानव जीवन का मुख्य ध्येय 'परम श्रेयः' की अवाप्ति है, प्रेयः (क्षणिक भोग पदार्थों) की प्राप्ति नहीं।

(ग) **प्राचीन-वेत्ताओं की अभिरुचि**—जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, ऋग्वेद संसार का प्राचीनतम साहित्य है। यदि हम प्राचीनतम मानव के मन, उसकी सभ्यता और संस्कृति, उसके धर्म और जीवन का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तो उसका एक मात्र उपाय ऋग्वेद है क्योंकि उस काल का और कोई भी अभिलेख उपलब्ध नहीं है। सौभाग्यवश आर्यों की 'मौखिक परम्परा' के कारण ऋग्वेद अक्षरशः विशुद्ध है अतः प्राचीन पदार्थों का अनुसन्धान करने वालों तथा प्राचीन-वेत्ताओं की इसमें विशेष अभिरुचि है।

(घ) **वर्तमान अभिरुचि**—भारत और उसके इतिहास के सम्यक् ज्ञान के लिए ऋग्वेद का अध्ययन आज भी परमावश्यक है। हमारी सभ्यता और संस्कृति का आदि काल से लेकर आज तक एक निरन्तर प्रवाह है। हमारा धर्म, हमारा दर्शन, हमारी नैतिकता, हमारा साहित्य और हमारा सामाजिक व्यावहारिक जीवन—सभी का आधार--मूल स्रोत—ऋग्वेद है। कई एक बातों में भारतीय मन आज भी वैसा ही है जैसा कि यह ऋग्वेद के काल में था। वेद का प्रभाव हमारे आचार पर सदा सर्वदा प्रत्यक्ष व परोक्ष रूपेण पड़ता आ रहा है—यह सर्वसम्मत है।

(ङ) **विश्व के इतिहास के लिए**—विश्व के साहित्य के निर्माण में ऋग्वेद की देन महत्त्वपूर्ण है। मैक्समूलर के मतानुसार, विश्व के साहित्य में ऋग्वेद ऐसी पूर्ति करता है जो कि किसी भाषा का कोई भी अन्य ग्रन्थ नहीं कर सकता।

---

१. देवान् भावयतानेन, ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः, श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
(भ. गीता ३, ११)

(च) तुलनात्मक भाषाविज्ञान—तुलनात्मक भाषाविज्ञान के दृष्टि-कोण से ऋग्वेद का अध्ययन नितान्त महत्त्वपूर्ण है। पहले प्रत्येक जाति व राष्ट्र यही समझता था कि उसकी भाषा प्राचीनतम है और कि अन्य जातियों अथवा राष्ट्रों की भाषाएं उससे निकली हैं। ऋग्वेद ने हमें भाषा का 'विशुद्ध स्रोत' प्रदान किया है और भाषाओं के भारोपीय परिवार की स्थापना कर दी है। व्हिटने (Whitney) के मतानुसार भाषाओं के विकास में कोई एक घटना इतनी प्रभावशाली नहीं हुई जितनी कि भारत की प्राचीन तथा धार्मिक भाषा संस्कृत की पश्चिमीय विद्वानों को परिचिति। ग्रीक और लातीनी से पुरानी होने के कारण, संस्कृत ने भाषाविज्ञान पर साधारणतया, अनुसंधान के नियमों पर विशेषतया अथ च शब्दों की निरुक्तियों पर भी प्रशंसनीय नया प्रकाश डाला है। जब संस्कृत का इतना महत्त्व है तो वेद का महत्त्व तो इससे भी कई गुना बढ़ कर है क्योंकि ऋग्वेद का अध्ययन हम वैदिक वाग्व्यवहारों से ही कर सकते हैं।

(छ) तुलनात्मक पौराणिक-कथा-विज्ञान—तुलनात्मक पौराणिक कथा-विज्ञान तथा तुलनात्मक ईश्वरभक्ति के लिए भी ऋग्वेद का अध्ययन नितान्त आवश्यक है; उदाहरण के रूप में विचार करो—जुपिटर (Jupiter), Zeus और संस्कृत द्यौः पितर।

(ज) भाषा का विकास—संस्कृत भाषा के विकास का अध्ययन करने के लिए तथा यह पता लगाने के लिए भी कि वैदिक से संस्कृत में पहुँचते पहुँचते कई शब्दों के अर्थ में कैसे परिवर्तन आ गया है, ऋग्वेद का अध्ययन आवश्यक है, जैसे—

धातु	वैदिक	संस्कृत
कुप्	हिलना	क्रुद्ध होना
रम्	रोकना	आनन्द मनाना
शम्	परिश्रम करना	आराम करना

अन्त में, केगी (Kaegi) के मतानुसार सभ्यता के इतिहास तथा

भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी के लिए ऋग्वेद का माहात्म्य असाधारण है। इस में कोई अन्य साहित्य इसकी तुलना नहीं कर सकता...मानव जाति के इतिहास के लिए इस के मूल्य की तथा इसके ऐतिहासिक महत्त्व की अतिशयोक्ति नहीं हो सकती।

६ ऋग्वेद का काल—ऋग्वेद के काल के संबंध में विद्वानों के अनेक मत हैं। मैक्समूलर के मतानुसार ऋग्वेद संहिता का काल प्रायः १२०० ई. पू. है। बुद्ध के निर्वाण का समय प्रायः ४८३ ई. पू. सुनिश्चत है। उसने उपनिषदों की चर्चा की है, अतः उपनिषदों का काल उससे पूर्व प्रायः ८०० से ६०० ई. पू. रखा जा सकता है। मन्त्रकाल इससे पूर्व है—प्रायः २०० वर्ष उसके लिए। छन्दःकाल उससे पूर्व है, २०० वर्ष प्रायः उसके लिए। इस प्रकार ऋग्वेद का संभावित काल प्रायः १२०० ई. पू. बैठता है। मैक्समूलर ने इस आपत्ति को भाँप लिया था कि इतने विशाल साहित्य के विकास के लिए २०० वर्ष का समय अति न्यून है। इसका उत्तर वह इस प्रकार देता है कि ऐसा इस लिए किया गया है कि इतिहास के प्रारम्भिक युग में मानव-मन का विकास अत्यन्त अधिक था और कि त्रेतायुग की अपेक्षा प्राथमिक युग में विचारों की तह शनैः शनैः जमती थी। बाद में उसने स्वयं अनुभव किया कि वास्तव में यह अनुमान अत्यन्त न्यून था। फिर उसने '१५००—१३०० ई. पू. का समय वैदिक सूक्तों का रचना-काल था', ऐसा सुझाव दिया।

एशिया माइनर से एक शिलालेख मिला है जो १४०० ई. पू. का प्रतीत होता है। इसमें एक सन्धिपत्र का वर्णन है और उसमें इन्द्र, मित्र, अश्विनौ और वरुण देवताओं का उल्लेख है। ये नाम उसी स्वर ध्वनि में मिलते हैं और इसे इस प्रमाण के लिए प्रस्तुत किया गया है कि वेदों का रचना-काल इससे बहुत पहले होगा। परन्तु मैक्समूलर को यह मान्य नहीं है। उसका कथन है कि शिलालेख उस काल का है कि जब आर्य अभी एशिया माइनर में ही थे और उन्होंने भारत में प्रवेश नहीं किया था। वेदों की रचना अधिकतर पंजाब प्रदेश में हुई।

यदि आर्य लोगों को एशिया माइनर से भारत-प्रवेश में प्राय: २०० वर्ष लगे हों तो वैदिक सूक्तों की रचना प्रायः १२०० ई. पू. में हुई।

व्हिटने और केगी ने वैदिक सूक्तों का रचना-काल २०००-१५०० ई. पू. माना है। केगी के मतानुसार "प्राचीन भारतीय काल-निर्णय विषम बाधाओं को प्रस्तुत करता है। वैदिक-युग के निर्णय के लिए हमें विचार करना होगा उन नाना साहित्यों के इतिहास पर जो कि वैदिक सूक्तों और बौद्ध मत (जिसकी तिथियां सुनिश्चित् हैं) के मध्य में प्रवृत्त हुए, भाषा संबंधी उन नाना परिवर्तनों पर तथा धार्मिक व सामाजिक विचारों के उन भेदों पर जो इस बीच में हुए। अत: वास्तविक काल के अनुमान में शताब्दियों का अन्तर रह सकता है।"

हौग (Haug) ने २४००-१४०० ई० पू० का समय वैदिक सूक्तों का रचना-काल माना है। ये सभी वाद भाषा के आधार पर हैं। जैकोबी (Jacobi) ने ज्योतिष के अधार पर ४०० ई० पू० का सम्भावित काल माना है। वैदिक साहित्य में ऋतुओं के प्रारम्भ के विषय में एक संकेत मिलता है। इसमें परिवर्तन को देखकर और गणना के अनुसार इस परिवर्तन में कितना समय अपेक्षित है, यह सभी विचार कर वह उपिरलिखित निर्णय पर पहुँचा है।

शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने शतपथ ब्राह्मण के एक उद्धरण का उल्लेख किया है जिसमें नक्षत्रों और कृत्तिका की स्थिति का संकेत किया गया है। उस स्थिति की वर्तमान स्थिति से तुलना करके उसने परिणाम निकाला है कि शतपथ ब्राह्मण की अवर सीमा ३००० ई० पू० से इधर नहीं हो सकती और कि ऋग्वेद संहिता का समय उससे बहुत पहले का है।

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने अपनी पुस्तक ओरियन (Orion) में वैदिक सूक्तों का रचना-काल इससे कहीं अधिक प्राचीन बताया है। उसने एक ऐसे मन्त्र का उद्धरण दिया है जिसमें छः मास के दिन और छः मास की रात का संकेत है। उसका मत है कि यह उत्तरी ध्रुव

प्रदेश के निकट न्यूनातिन्यून ६००० ई० पू० में संभव हो सकता था। अतः ऋग्वेद की अवर सीमा ६००० ई० पू० से इधर की नहीं हो सकती।

अन्त में हम परम्परागत वाद को लेते हैं जिसके अनुसार वेद का प्रादुर्भाव सृष्टि के साथ ही ईश्वर की ओर से हुआ। वेद ईश्वरीय ज्ञान है—यह सिद्धान्त भारतीय जनता युग-युगान्तरों से मानती चली आई है और कम महत्त्व का नहीं है। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को जो निम्न उपदेश गीता में दिया है उसकी पूर्ण सत्यता में भारतीयों का बड़ा विश्वास है—

सहस्रयुग पर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युग सहस्रान्तां तेऽहोरात्र विदो जनाः॥
अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्त संज्ञके॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥[1]

इस वाद के अनुसार सर्वोच्च शक्ति ब्रह्म ने सबसे पहिले ब्रह्मा को उत्पन्न किया। ब्रह्म अक्षर है, कालातीत है, परन्तु ब्रह्मा काल से सीमित है। उसकी आयु १०८ वर्ष है जिसके प्रति वर्ष ३६० दिन हैं।[2] उस का प्रत्येक दिन १००० चतुर्युगी के बराबर है (सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापर युग और कलियुग के क्रमशः ४३२०००, ८६४०००, १२९६०००, और १७२८००० वर्ष अर्थात् कुल मिलाकर चतुर्युगी के ४३,२०००० वर्ष होते हैं।) इसी प्रकार उसकी प्रत्येक रात्रि १००० चतुर्युगी के बराबर है। जो तत्त्व को जानने वाले लोग हैं उन्होंने इस सत्य को अपने अन्तःकरण में अच्छी प्रकार अनुभव कर लिया है। जब

---

१. भगवद्गीता ८.१७–१९

२. ब्रह्मवैवर्त पुराण, ब्रह्म खंड, अध्याय ५.

ब्रह्मा का दिन आरम्भ होता है तब अव्यक्त से सभी व्यक्तियों का प्रादुर्भाव होता है और जब ब्रह्मा का रात्रिकाल आता है तब सभी व्यक्तियों का उसी अव्यक्त में लय हो जाता है। प्राणियों का वही समूह (स एव भूतग्रामः) ब्रह्मा के दिनारम्भ के साथ (भूत्वा भूत्वा) पुनः पुनः उत्पन्न होता है और रात्रि के प्रारम्भ के साथ पुनः पुनः लीन हो जाता है। तदनुसार ब्रह्मा के दिनारम्भ के साथ जब सृष्टि का आरंभ हुआ, तब ब्रह्म-लीन आत्माएं जो ब्रह्मा के रात्रि-काल में अव्यक्त में समा गईं थीं, पुनः व्यक्त हुईं; मानो वे दीर्घ-कालीन महानिद्रा से जागे हों। जब समाधि-काल में उनका परब्रह्म से साक्षात्कार हुआ तो उनके हृदयों के उद्गार स्वाभाविकतया फूट कर बह निकले और उन्होंने वेद के नाना मन्त्रों का रूप धारण कर लिया। सभी वेद-मन्त्रों की रचना एकदम एक ही समय में नहीं हो गई। जब-जब भी ऋषियों ने समाधि-अवस्था में किसी सत्य का साक्षात्कार किया और वह प्रस्फुटित हुआ तो उसने वेदमन्त्र का रूप धारण कर लिया।[1] यही कारण है कि वेद-मन्त्रों में भ्रान्ति की गुंजाइश नहीं। उनके सिद्धान्त सर्वदेशीय और सर्वकालीन हैं (Universal Eternal truths)। इन मन्त्रों को उन ऋषियों ने रचा नहीं था, प्रत्युत उनका साक्षात् किया था। ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः; ऋषिर्दर्शनात्, साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः इत्यादि।

युगों तक इन मन्त्रों का प्रवाह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक श्रवण (मौखिक परम्परा) के द्वारा चलता रहा, अतः वे श्रुति कहलाये। सभी भारतीय दर्शनों को वेद की स्वतः[2]प्रामाणिकता मान्य है। ऋचः,

---

१. ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् अर्थात् वेद की उत्पत्ति ब्रह्म से है (गीता ३, १५)।

२. पुराणं मानवो धर्मः, सांगं वेदचिकित्सितम्।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि, न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥

किञ्च,

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥

यजूंषि, सामानि और अथर्वाणि चिर काल तक साथ-साथ चलते रहे। अन्ततोगत्वा समय की आवश्यकता के अनुसार महर्षि वेद व्यास ने इन्हें चार संहिताओं में ग्रथित कर दिया जो ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद संहिता, सामवेद संहिता और अथर्ववेद संहिता के नाम से प्रसिद्ध हुईं।

काल का उपरि-लिखित विभाजन आधुनिक मानव-मन को काल्पनिक प्रतीत हो सकता है, क्योंकि उसके पास ऋतंभरा प्रज्ञा का अभाव है, परन्तु आध्यात्मिक मनो-वृत्ति वालों के लिए तो यह सब कुछ सूर्य के प्रकाश की भान्ति असंदिग्ध है। विद्वानों के बाद और मानवीय सिद्धान्त समय-समय पर, अथवा एक देश से दूसरे देश में अथवा एक जाति से दूसरी जाति में भिन्न हो सकते हैं और होते रहते हैं परन्तु वैदिक ज्ञान ईश्वरीय होने से सर्वांगीण और सर्वव्यापी है। इसके प्रादुर्भाव का कोई समय निश्चित नहीं हो सकता क्योंकि यह पूर्व-ऐतिहासिक है।

संहिता मूल-पाठ कब अस्तित्व में आया? इस विषय में हम कह सकते हैं कि ब्राह्मण-ग्रन्थों के निर्माण के बाद ही ऐसा संभव हुआ होगा, क्योंकि—

(१) ब्राह्मण-ग्रन्थों में वैदिक शब्दों और शब्द-समूहों के अक्षरों की गणना का उल्लेख है जो कि कई स्थानों पर संहिता के पाठ से मेल

योऽवमन्येत ते तूभे हेतुशास्त्राश्रयो द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥
वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥

अपि तु,

यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना संप्रकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥
सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै॥

नहीं खाती क्योंकि संहिता में स्वर-सन्धि के कारण अक्षर में कमी आ गई है।

(२) पुराने ब्राह्मण-ग्रन्थों में वैदिक मन्त्रों से संबंधित उच्चारण-संबंधी समस्याओं का कोई संकेत नहीं है।

(३) पुराने व्याख्यात्मक ब्राह्मण-ग्रन्थों में किसी संहिता-ग्रन्थ की चर्चा नहीं है, परन्तु बाद के ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदों में ऐसी चर्चा है।

७—ऋग्वेद का अर्थ-बोध—सांख्य शास्त्र के अनुसार सृष्टि त्रिविध है—'अध्यात्ममधिभूतमधिदैवं[1] च' आत्मा, दृश्यमान् जगत् और देवता। तदनुसार पाठक की मनोवृत्ति के अनुसार वैदिक मन्त्रों के त्रिविध अर्थ संभव हैं, परन्तु प्रायः आधिभौतिक अर्थ पर ही अधिक बल दिया गया है। अथवा इस रूप में कहना चाहिये कि मन्त्रों को व्यञ्जना शक्ति और लक्षणा शक्ति की उपेक्षा कर के अभिधा शक्ति का ही वर्णन किया गया है। मन्त्रों के सम्यक् अर्थबोध के लिए व्याख्याता में निम्न आवश्यक गुण होने चाहियें—

(१) ब्राह्मण ग्रन्थों का सम्यक् ज्ञान—क्योंकि उनमें वैदिक शब्दों के अर्थ, परिभाषा, व्याख्या आदि मिलती हैं।

(२) छः वेदांगों का सम्यक् ज्ञान—

शिक्षा व्याकरणं छन्दो निरुक्तं ज्योतिषं तथा।
कल्पश्चेति षडङ्गानि वेदस्याहुर्मनीषिणः॥

(३) भारतीय दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों का सम्यक् अनुभव—

(४) भारतीय जीवन एवं प्राकृतिक वातावरण की सम्यक् अनुभूति।

व्याख्याता में निम्न गुण अभीष्ट हैं—

---

१. सूत्र ७

१. भाष्यकारों के भाष्यों का अध्ययन। जैसे सायण,[1] स्वामी दयानन्द आदि।

२. पुराणों, न्याय, मीमांसा तथा धर्मशास्त्रों[2] के प्रासंगिक उद्धरणों का ज्ञान। इन सबकी रचना वेदों के आधार पर हुई है और वेदों की मूलभूत परम्पराओं और सिद्धान्तों का व्याख्यात्मक ढंग से इनमें वर्णन किया गया है। वेदों की 'स्वतःप्रामाणिकता' इन सबको मान्य है।

३. तुलनात्मक ईश्वरभक्ति का ज्ञान।

४. तुलनात्मक भाषाविज्ञान का अध्ययन।

यह स्पष्ट है कि पश्चिमीय विद्वानों को अभीष्ट गुणों में कुछ विशेषता प्राप्त थी, परन्तु आवश्यक गुणों की उनमें नितान्त न्यूनता थी। परिणाम-स्वरूप उन्होंने वेदों के धर्म और दर्शन के संबंध में नाना काल्पनिक और अशुद्ध धारणाएँ बनाईं। यद्यपि वेदों के आन्तरिक साक्ष्य से भी यह सिद्ध होता है कि प्राचीन आर्य एक ही परब्रह्म[3] को नाना नामों से पूजते थे, उन्होंने इसी धारणा का प्रचार किया कि वे अनेक देवी-देवताओं को पूजते थे। यह इसी प्रकार है जैसे रामायण का कोई आलोचक यह कहे कि राम की अनेक पत्नियाँ थीं—सीता, जानकी, वैदेही और मैथिली इत्यादि। वेदों का कोई भी तत्ववेत्ता इन काल्पनिक विचारों का श्रद्धा-पूर्वक स्वागत नहीं कर सकता।

---

१. विल्सन के मतानुसार सायण (१४ वीं शताब्दी) की महाव्याख्या को जिसमें पुराने विद्वानों का भी उल्लेख है और प्रत्येक शब्द का अर्थ अथवा व्याख्या दी गई है, प्रामाणिक मानना चाहिये।

२. पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रांगमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥
(याज्ञवल्क्य स्मृति, १,३)।

३. एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति,
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः। (ऋग्वेद, १, १६४)

सभी पश्चिमीय विद्वानों ने वेदों की आलोचना ईमानदारी से और निष्पक्ष भाव से की हो, इस विषय में भी अनेक भारतीय विद्वानों को यथार्थ सन्देह है। उदाहरणार्थ कुछ उद्धरण नीचे दिये जाते हैं—

(क) F. Max Muller ने Duke of Arglyl (जो कि तब Secretary of State for India थे) को अपने १६.१२.१८६८ के एक पत्र में लिखा था कि—"The ancient religion of India is doomed and if Christianity does not step in, whose fault will it be ?"

(ख) F. Max Muller ने ९.१२-१८८६ के अपने एक पत्र में अपनी पत्नी को लिखा था—"......Yet this edition of mine and the translation of the Veda will hereafter tell to a great extent on the fate of India and on the growth of millions of souls in that country. It is the root of their religion and to show them what the root is, I feel sure, is the **only way of uprooting** all that has sprung from it during the last three thousand years...'

(ग) E. B. Russey ने अपने एक पत्र में मैक्समूलर को सराहणा करते हुए लिखा था—

"......your work will form a new era in the **efforts for the conversion** of India."

(घ) F. Max Muller ने Byramjee Malabari के नाम पत्र में लिखा था कि "......You may see a painult instance in Dayananda Saraswati's labour on vedas......"

बाद में आने वाले पश्चिमीय विद्वानों ने मैक्समूलर का अनुकरण किया। प्रश्न उठता है कि क्या सचमुच पश्चिमीय विद्वानों ने वेदों पर इतना परिश्रम दुर्भावनापूर्वक किया ? भारतीय धर्म के मूल को नष्ट करने

के लिये'''ईसाइयत का प्रचार करने के लिए''' वैदिक धर्म का मटियामेट करने के लिए जैसा कि उपरिलिखित पत्रों से स्पष्ट है। वेदों के अर्थ का इस प्रकार अनर्थ करने के लिए इन मान्य विद्वानों को तत्कालीन सरकारों और सम्बन्धित संस्थाओं से विपुल संरक्षण और सहयोग भी मिला। तीर चल गया। पश्चिमीय विद्वानों के वेद-सम्बन्धी अर्थों और आलोचना को जो कोई भी भारतीय पढ़ लेता है उसकी वेद के प्रति श्रद्धा समाप्त हो जाती है अथवा कम तो अवश्य हो जाती है। जब स्वयं भारतीयों पर ऐसा प्रभाव पड़ता है तो अभारतीयों पर इसका क्या प्रभाव पड़ता होगा इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है।

भारत अब पराधीन देश नहीं है जो ऐसे दुर्भावनापूर्ण छद्मों को मौनवृत्ति से सहन करता रहे। भारत सरकार धर्म-निरपेक्ष नहीं, धर्म-निष्पक्ष है। अतः उसका कर्तव्य हो जाता है कि इस अर्थ का निराकरण योजनाबद्ध ढंग से दृढ़ता से करे।

सौभाग्य का विषय है कि स्वर्गीय[1] पं० ठाकुर दास शर्मा तथा पं० मदनमोहन शर्मा का ध्यान इस ओर खिंचा। उनमें वेद-व्याख्याता के अनेक आवश्यक गुण विद्यमान थे। उन्होंने सबसे पहले चारों वेदों का अंग्रेज़ी अनुवाद तय्यार किया है जिसको २० भागों में प्रकाशित करने की बृहद् योजना स्वाध्याय भवन चंडीगढ़ ३ द्वारा पं० मदनमोहन वेदाचार्य के संचालकत्व में तय्यार हो चुकी है। पहले भाष्यों से इस भाष्य में कुछ विशेषताएँ हैं जो कि ध्यान देने योग्य हैं। पहले भाष्यों में दो विषमताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—(१) मंत्रों में अर्थ करने के लिए बाहर से पदों का जोड़ना; (२) मनचाहा अर्थ करने के लिए विभक्तियों (कारकों) तथा लकार (काल) को 'व्यत्यय' कहकर बदल देना। इस अनुवाद की यह विशेषता है कि 'जहाँ तक बन पड़े वहाँ तक प्रयुक्त विभक्ति तथा लकार को न बदला जावे।' इसके अनुवादकों की

१. निधन तिथि ८–२–१९५३

यह मान्यता है कि 'अग्नि, इन्द्र आदि विशेष्य पदों के अर्थ—विशेषणों की विशेषता को ध्यान में रखकर ही निर्णय करने चाहिएँ और इनके विशिष्ट तत्त्वों को समझना चाहिए। ऐसा करने से ही हमने वेदों के यथार्थ का अवगम समझा और ऐसा ही मार्ग इसके अनुवाद करने में हमने अपनाया।' कहना न होगा कि वेदार्थ बोध में यह एक नवीन प्रयोग है। इसके प्रकाशित होने पर बहुत से अच्छे परिणामों की आशा की जाती है।

यास्क के अनन्तर ऋग्वेद के अनेक भाष्यकार हुए जिन्होंने वेद की परम्परा को धाराप्रवाह से जारी रखा, जैसे स्कन्द स्वामी (६००), माधवभट्ट (९ वीं शताब्दी), वेंकट माधव (११ वीं), आनन्द तीर्थ, जयतीर्थ, श्री निवास तीर्थ, माधव अथवा माधवार्य (ऋगर्थ दीपिका-कार), सायण (वेदार्थ प्रकाश के रचयिता प्रायः १३५०), उद्गीथाचार्य, देवराज यज्वन, भट्ट भास्कर, गोविन्द स्वामी तथा षड्गुरु शिष्य। ऋग्वेद का एक समालोचनात्मक संस्करण स्कन्दस्वामी, उद्गीथ, मुद्गल और वेंकट-माधव के भाष्यों सहित ८ भागों में आचार्य विश्वबन्धु द्वारा विश्वेश्वरानन्द पुस्तकमाला हुश्यारपुर से सम्पादित हुआ है।

१९ वीं शताब्दी के द्वितीयार्ध में आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेदार्थ बोध में निरुक्ति की सरणि को अपनाया, जो कि इस दिशा में उसकी एक महत्त्वपूर्ण देन कही जा सकती है। भारतीय सभी भाष्यकारों ने यही माना है कि वेद में 'एक सत्' (जो पर-ब्रह्म के नाम से विख्यात है) की पूजा का विधान है। अग्नि, इन्द्र, वरुण, यम और रुद्र आदि देवता उसी की नाना विभूतियां हैं जिन्हें महर्षियों ने समाधिकाल में साक्षात्कार किया। उन विभूतियों के द्वारा भी उन्हें उसी एकमात्र परब्रह्म की स्तुति व पूजा अभीष्ट है।

८. ऋग्वेद का धर्म तथा दर्शन—वैदिक ऋषि आत्मा के आवागमन और कर्मफल के सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार मानव-जीवन के परम उद्देश्य हैं। जैसा मानव

बोता है वैसा वह काटता है। शुभकर्मों का फल सुख, बुरे कर्मों का फल दुःख और मिश्रित कर्मों का फल भी मिश्रित होता है। अच्छे और बुरे कर्मों का फल अलग-अलग भुगतना पड़ता है। ऐसा नहीं कि कर्म एक दूसरे से कट जाएँ और केवल शेष का भोग करना पड़े। कर्म के बिना मानव क्षण भर भी जीवित नहीं रह सकता। जैसे कई बीज थोड़े दिनों में फूट पड़ते हैं और कई वर्षों में जाकर फल देते हैं, उसी प्रकार कई कर्मों का फल सद्यः मिल जाता है और कई कर्मों का अगले जन्मों में। परन्तु जैसे भुने हुए बीज प्रस्फुटित नहीं हो सकते, वैसे ही निष्काम निस्वार्थ कर्मों का फल भी नहीं होता। मोक्ष की प्राप्ति मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। यह असम्भव नहीं, परन्तु नितान्त कठिन अवश्य है। लाखों में कोई एक सतत अभ्यास व पर वैराग्य के द्वारा अनेक जन्मों में उस चरम लक्ष्य तक पहुँचता[1] है। परन्तु अन्य साधकों की साधना भी व्यर्थ नहीं जाती। वे पहले की अपेक्षा उच्च से उच्चतर और पुण्य से पुण्यतर[2] जीवन को प्राप्त करते जाते हैं। परमात्मा तक पहुँचे हुए ऐसे ही पुण्यात्मा ऋषि थे जिनके द्वारा वेद-मन्त्रों का प्रादुर्भाव हुआ। वे मोक्ष को प्राप्त नहीं कर पाए थे, परन्तु उस चरम लक्ष्य के निकटतम थे।

---

१. मनुष्याणां सहस्रेषु, कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन् मां वेत्ति तत्त्वतः॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते॥

(भ० गीता ७.३, ७.१९)

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते। (गीता ६,३५)
अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (पातंजल योगसूत्र १,१२)

२. प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥

(गीता ६,४१-२)

पिछले जन्मों[1] की आध्यात्मिक साधना के फलस्वरूप उन्हें बुद्धि संयोग की प्राप्ति हुई और परा समाधि के क्षणों में उन्होंने परब्रह्म के माहात्म्य का साक्षात्कार किया। उन्होंने अनुभव किया कि मोक्षप्राप्ति का एकमात्र साधन निष्काम निस्स्वार्थ कर्मों का अनुष्ठान (यज्ञ) है। शेष सभी कर्मों का फल मिलता है और वे मनुष्य को बंधन[2] (आवागमन के चक्कर) में डालते हैं। क्योंकि कर्म असंख्य हैं, अतः यज्ञ भी नानाविध[3] हैं जैसे दैव यज्ञ, ब्रह्म यज्ञ, संयम यज्ञ, इन्द्रिय यज्ञ, आत्मसंयम योग यज्ञ, द्रव्य यज्ञ, तपो यज्ञ, योग यज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ, ज्ञान यज्ञ, अपान यज्ञ, प्राण यज्ञ, कुंभक यज्ञ, जप यज्ञ और प्राणाग्निहोत्र यज्ञ। मनुस्मृति में प्रत्येक गृहस्थ के लिए ब्रह्म यज्ञ, पितृ यज्ञ, दैव यज्ञ, भूत यज्ञ और नृ यज्ञ[4]—इन पाँच महायज्ञों के अनुष्ठान का विधान है। इसी प्रकार वेद में भी नाना प्रकार के यज्ञों का वर्णन मिलता है जैसे अश्वमेध, अजमेध, गोमेध, वाजपेय, पुरुषमेध, और सर्वमेध इत्यादि। कई विद्वानों का मत है कि इन वैदिक यज्ञों में उन-उन पशुओं की हत्या की जाती थी। कई विद्वानों ने यह भी संशय प्रकट किया है कि वैदिक काल में यज्ञों में मनुष्य को हत्या का विधान था। यह मत रामायण, महाभारत तथा धर्मशास्त्रों के साक्ष्य के सर्वथा विरुद्ध है—

सुरा-मत्स्य-मधु-मांसमासवं कृशरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम्॥
मानान्मोहाच्च लोभाच्च लौल्यमेतत् प्रकल्पितम्।
विष्णुमेवाभिजानन्ति सर्वयज्ञेषु ब्राह्मणाः॥

---

१. तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्। (गीता ६,४३)

२. यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः। (गीता, ३.९)

३. cf. भगवद्गीता अध्याय ४

४. अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ (मनु. ३,७०)

पायसैः सुमनोभिश्च तस्यापि यजनं स्मृतम् ।
यज्ञियाश्चैव ये वृक्षा वेदेषु परिकल्पिताः ॥[१]

इन दुष्कृत्यों का वेद में निश्चितरूपेण विधान नहीं है। संभव है धूर्त लोगों ने मोह अथवा लोभ से इनका प्रारम्भ किया हो। धर्मशास्त्र के अनुसार ब्राह्मणों के लिए देव पूजन और यज्ञ का विधान खीर, पुष्प और काष्ठ (यज्ञिय वृक्षों) से है। इसके अतिरिक्त महाभारत में स्पष्ट लिखा है—

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वा वैदिकी श्रुतिः ।
अजसंज्ञानि बीजानि च्छागं नो हन्तुमर्हथ ॥
नैष धर्मः सतां देवा यत्र वै वध्यते पशुः ॥[२]

अर्थात्—वैदिक विधान के अनुसार यज्ञों का अनुष्ठान बीजों से ही होना चाहिये। अज से तात्पर्य बीज विशेष है। बकरे का हनन वर्जित है। पशुओं का हनन सज्जनों का धर्म नहीं है।

उपनिषदों में हमें 'कामः पशुः', 'मन्युः पशुः' इत्यादि उल्लेख भी मिलते हैं। ये मुमुक्षु के प्रबल वैरी[३] हैं। गीता में कृष्ण ने अर्जुन को ज्ञान और विज्ञान के नाश करने वाले इन महापापी काम क्रोध रूपी शत्रुओं को हनन[४] करने का उपदेश दिया है।

सारांश, एक आर्य का समूचा जीवन यज्ञमय होना चाहिये। हवन यज्ञ[५] का अनुष्ठान इसका एक अंग है जिस पर वेद में बल दिया गया

१. महाभारत शान्ति पर्व १०—१२
२. वही ३३७
३. काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
(भगवद्गीता ३,३७)
४. पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ।
(भगवद्गीता ३, ४१)
५. यज्ञ के लिए अंग्रेजी शब्द sacrifice है जिसका भाव त्याग है

है। अनुष्ठान को प्रभावशाली और चित्रमय बनाने के लिए उसे अधिकाधिक विस्तृत बनाया गया। अग्नि में आहुतियाँ डालते समय यजमान स्पष्ट कहता है...'इदमग्नये न मम, इदं वरुणाय न मम, इदमिन्द्राय न मम...'अर्थात् यह अग्नि के लिए है मेरा इसमें कुछ नहीं, यह वरुण के लिए है मेरा इसमें कुछ नहीं, यह इन्द्र के लिए है मेरा इसमें कुछ नहीं इत्यादि।

यज्ञ को 'इष्टकामधुक्' कहा जाता है। श्रद्धा से किया गया यज्ञ यजमान की मनोकामनाओं की पूर्ति करता है, अतः इसकी लोकप्रियता सभी प्रकार के यजमानों में बढ़ती गई, चाहे उन्हें मोक्ष की कामना थी, अथवा स्वर्ग की, अथवा सांसारिक भोग-पदार्थों की।

सरलता और निष्कपटता वैदिक सूक्तों की प्रमुख विशेषताएँ हैं। हृदय हृदय से सम्बोधित होता है, अन्तःकरण अन्तःकरण से। बाहरी दिखावे और कृत्रिमता की वहाँ तनिक भी गुंजाइश नहीं।

'जीवन एक स्वप्न है, जगत् मिथ्या है, मृत्यु अवश्यंभावी है, जीवन अस्थायी' इत्यादि निराशावादी विचारों का ऋग्वेद में नितान्त अभाव है। वैदिक धर्म सर्वथा आशावादी है।

कुछ विद्वानों के मतानुसार, वैदिक धर्म की प्रमुख विशेषता है Henotheism or Katherotheism. इसका तात्पर्य यह है कि जिस देवता की उपासना करनी, उसे अन्य सब देवताओं से उत्कृष्ट मानना। इसका कारण यह है कि ऋषि 'एक सत्' 'परब्रह्म' को मानते थे। विभूति कोई भी हो उन्होंने उसे सर्वोत्कृष्ट माना क्योंकि वास्तव में वह उसी 'एक सत्' परब्रह्म का रूप थी।

९—**ऋग्वेद का प्रतिपाद्य विषय**—थोड़े से सूक्तों को छोड़ कर,

न कि हत्या। जैसे self-sacrifice का तात्पर्य है आत्म-बलिदान, न कि आत्म-हत्या। इसी प्रकार 'horse-sacrifice' आदि को भी समझना चाहिये।

ऋग्वेद के प्रायः सभी सूक्त स्तुतिपरक हैं। कोई १२ सूक्त संवादात्मक हैं जिनमें पुरानी घटनाओं का उल्लेख है। पश्चिमीय विद्वानों के मतानुसार इन संवादात्मक सूक्तों में बाद में आनेवाले नाटकीय काव्य और महाकाव्य के बीज पाए जाते हैं।

(क) तान्त्रिक सूक्त—यह भी प्रायः १२ हैं। इनमें रोग, अलक्ष्मी, शत्रु, कीटादि अपकारी और घातक शक्तियों को दूर करने के लिए तन्त्र दिये गए हैं।

(ख) धर्मनिष्पक्ष सूक्त—ऋग्वेद में प्रायः २० सूक्त धर्मनिष्पक्ष हैं। इनमें सामाजिक रीति-रिवाज, संरक्षकों की उदारता और व्यावहारिक नैतिक समस्याओं का वर्णन है। इनमें विवाह-सूक्त (१०,८५) विशेष ध्यान देने के योग्य है।

(ग) अन्त्येष्टि सूक्त—ये संख्या में ५ हैं। इनके अध्ययन से प्रतीति होती है कि वैदिक काल में शव को जलाने का[1] ही रिवाज था, परन्तु पृथ्वी में दबाने का निषेध नहीं है। बाद में केवल दाह-क्रिया का ही प्रचलन हुआ। अति प्राचीन काल से ही शव को वस्त्र और आभूषण आदि पहनाने का रिवाज चला आता है। धारणा यह है कि ये वस्त्रादि उसके अगले जन्म में काम आवेंगे। यद्यपि ऋग्वेद में इसका कहीं वर्णन नहीं है, परन्तु मैक्डानल का मत है कि सती का रिवाज क्षत्रिय राजाओं में भारोपीय काल से ही चला आता है।

(घ) द्यूत सूक्त में जुआरी का पश्चात्ताप सुन्दर शब्दों में दिया गया है। इससे जुआ खेलने के रिवाज की प्राचीनता की प्रतीति होती है।

(ङ) उपदेशात्मक सूक्त—प्रायः तीन सूक्त उपदेशात्मक हैं। बाद के संस्कृत साहित्य में सूत्रात्मक काव्य की काफी बहुलता पाई जाती है। न सूक्तों में उसके बीज दिखाई पड़ते हैं।

(च) सृष्टि सूक्त—छः सात सूक्त ऐसे हैं जिनका विषय जगत्

---

१. cf. भस्मान्तं शरीरम।

की सृष्टि है। बाद में सृष्टि सम्बन्धी भिन्न-भिन्न धाराओं का जो प्रवाह चला, उसका स्रोत इन्हीं में है: अतः ये महत्त्वपूर्ण हैं। **पुरुष-सूक्त** (१०,९०) में समूची सृष्टि का मूल-स्रोत 'पुरुष' को बताया गया है।[1] भारत के विश्वदेवतावाद सम्बन्धी साहित्य का यह प्राचीनतम उदाहरण है। यह पुरुष-सूक्त काफी बाद का काव्य प्रतीत होता है क्योंकि इसमें तीनों पुराने वेदों का उल्लेख मिलता है। चारों वर्णों का उल्लेख भी ऋग्वेद के इसी एकमात्र सूक्त में मिलता है।

दो सूक्तों में सभी वस्तुओं के बीजों की उत्पत्ति 'आपः' से मानी गई है। दो अन्य सूक्तों में दार्शनिक शैली से सृष्टि का विकास 'असत्' से 'सत्', 'अव्यक्त' से 'व्यक्त', अर्थात् सूक्ष्म से स्थूल के रूप में दिखाया गया है।

१०,२९ वाला सृष्टि सूक्त भी बड़े साहित्यिक महत्त्व का है। इसमें उस दर्शन के बीज विद्यमान हैं जो बाद में विकासात्मक सांख्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस सूक्त के अनुसार जब 'अव्यक्त' से 'व्यक्त' की सृष्टि हो गई तो पहले 'आपः' और तदनन्तर तप के प्रभाव से बुद्धि का विकास हुआ। ब्राह्मण-ग्रन्थों को यह सिद्धान्त मान्य है।

ऋग्वेद के ये सृष्टि-सूक्त केवल भारतीय दर्शनों के ही पूर्व-रूप नहीं हैं, अपितु पुराणों के भी, क्योंकि सृष्टि-वर्णन[2] पुराण का प्रमुख विषय है।

१०. ऋग्वेद के संस्करण—चरणव्यूह में (जो कि सूत्रकाल का एक परिशिष्ट ग्रन्थ है) पांच शाखाओं का वर्णन आता है—१. शाकल, २. बाश्कल, ३. आश्वलायन, ४. शांखायन, ५. माण्डूक्य। तीसरी और चौथी शाखाएं पहली शाखा से प्रायः मिलती हैं, तनिक भेद केवल बालखिल्य सूक्तों की स्थापना में है। पांचवीं शाखा का स्वतन्त्र रूप यदि

---

१. पुरुष एवेदं सर्वं यच्च भूतं यच्च भाव्यम्।

२. cf सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव **पुराणं पंचलक्षणम्**॥

कभी रहा भी होगा तो वह प्राचीन काल में ही नष्ट हो गया समझो क्योंकि उसके अब कोई चिह्न नहीं मिलते। दूसरी शाखा का पहली से यह भेद है कि दूसरी शाखा में ८ सूक्त अधिक दिए गए हैं और प्रथम मण्डल में एक वर्ग को भिन्न स्थान दिया गया है। इस रूप में यह वर्तमान मूल-पाठ से मेल नहीं खाती। इससे स्पष्ट है कि ऋग्वेद के मूल-पाठ की सर्वोत्कृष्ट परम्परा शाकल शाखा को प्राप्त थी और उसी का एक मात्र संस्करण हम तक ठीक शुद्ध रूप में पहुँचा है।

११. **वैदिक स्वर**—वेदों का मूल-पाठ स्वर-सहित है। मन्त्रों के शुद्धोच्चारण के लिए तथा ठीक अर्थ-बोध के लिए स्वर का सम्यक् ज्ञान नितान्त आवश्यक है। वैदिक स्वर की यह विशेषता है कि वह सुरीला है, अक्षरों पर दबाव देने का नहीं। ऋग्वेद में तीन स्वर हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। अनुदात्त के नीचे लम्बी रेखा दे दी जाती है, और स्वरित के ऊपर खड़ी रेखा। उदात्त के ऊपर कोई चिह्न नहीं होता। अनुदात्त के बाद स्वरित तक जिन अक्षरों पर कोई चिह्न न हो वे सभी उदात्त होते हैं। स्वर लगाने की चार विधियों में से यह विधि[1] ऋग्वेद में प्रयुक्त हुई है।

१२. **वैदिक छन्द**—ऋग्वेद में प्रायः १५ छन्दों का प्रयोग हुआ है जिनमें ७ का प्रचलन बहुत है। उनमें भी तीन छन्दों का प्रयोग अत्यधिक है। ८० प्रतिशत मन्त्र इन्हीं छन्दों में हैं।

प्रत्येक छन्द में तीन अथवा चार पाद होते हैं, और प्रत्येक पाद में ८, ११ अथवा १२ अक्षर।

(१) गायत्री छन्द में ८-८ अक्षरों के तीन पाद होते हैं। प्रत्येक पाद के अन्तिम ४ अक्षरों का क्रम प्रायः लघु गुरु होता है। अति प्राचीन मन्त्रों में कहीं-कहीं इसका अपवाद भी है। २४५० मन्त्र अर्थात् प्रायः २४ प्रतिशत मन्त्र इसी छन्द में हैं।

---

१. अग्निमीळे पुरोहितं, यज्ञस्य, देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥

उदाहरण—अग्निमीळे पुरोहितम् ।
यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्न धातमम् ॥

(२) अनुष्टुभ—इसमें ८-८ अक्षरों के ४ पाद होते हैं। गायत्री छन्दवाले मन्त्रों से एकतिहाई मन्त्रों में अर्थात् कुल के प्रायः ८ प्रतिशत मन्त्रों में इस छन्द का प्रयोग हुआ है। उत्तर-वैदिक काल में गायत्री का स्थान अनुष्टुभ् ने ले लिया।

(३) जगती—इसमें १२-१२ अक्षरों के ४ पाद होते हैं।

(४) त्रिष्टभ्—इसमें ११-११ अक्षरों के चार पाद होते हैं। ऋग्वेद के प्रायः ४० प्रतिशत मन्त्रों में इसी का प्रयोग हुआ है।

(५) प्रगाथा—इसका प्रयोग ८ वें मण्डल में हुआ है। एक ही वर्ग में मिश्रित छन्दों के मन्त्र पाए जाते हैं।

प्रो० आर्नल्ड (Arnold) ने ऋग्वेद के क्रमिक ऐतिहासिक विकास में छन्दों के आधार पर चार कालों को माना है—

(१) स्वच्छन्द युग—अथवा छन्दों का मौलिक काल, जब कि छन्द मानो उमड़ पड़ते थे। मण्डल ६, मण्डल ७ और कुछ अन्य सूक्त।

(२) प्राकृतिक युग—इस युग में छन्दों की स्वच्छन्दता की बजाय उनकी कलात्मकता पर अधिक ध्यान दिया गया। मण्डल ३, ४ और ९ जिनमें प्रायः त्रिष्टुभ् और गायत्री का प्रयोग हुआ है इसके उदाहरण हैं।

(३) सन्धि-युग—प्रथम मंडल के अधिकांश और दशम मंडल के सन्धि-कालीन कुछ सूक्त इसके उदाहरण हैं। इसमें प्रायः त्रिष्टुभ् और जगती छन्दों का प्रयोग हुआ है।

(४) लौकिक युग—दशम मंडल के अधिकांश सूक्त इसका उदाहरण हैं। इसकी विशेषता त्रिष्टुभ् और जगती छन्दों का सम्मिश्रण है।

सामवेद

१. अन्य वेदों से संबंध—सामवेद का ऋग्वेद से बहुत घनिष्ठ संबंध है। ७५ को छोड़ कर शेष सभी मन्त्र मंडल ८ और ९ से उद्धृत किये गए हैं, परन्तु उनका क्रम यजुर्वेद के ढंग पर बदल दिया गया है। कारण कि ये सूक्त गायन के लिए हैं और इनका उपयोग विशेष कर उनके यज्ञिय विधान में है।

२. आकार—आकार में इन मन्त्रों का क्रम इस ढंग से रखा गया है कि उनको गाया जा सके। सामवेद में स्वर लगाने का ढंग ऋग्वेद के ढंग से भिन्न है। सामवेद में उन मन्त्रों को दिया गया है जिनका प्रयोग उद्गातृ नामक पुरोहितों के द्वारा सोमयज्ञ में होता था। इन मन्त्रों को बड़े सुरीले ढंग से वर्गों में संगृहीत किया गया है। उन्हें गान कहते हैं। सामवेद के दो भाग हैं। प्रत्येक भाग के दो संविभाग। प्रत्येक मन्त्र का उच्चारण और गायन कई विधियों से संभव है।

३—विभाग और प्रतिपाद्य विषय—सामवेद के दो भागों को आर्चिक कहते हैं: पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिक के अन्य नाम छन्दस्, छन्दसी और छन्दसिका हैं। पूर्वार्चिक में छः और उत्तरार्चिक में नौ प्रपाठक हैं।

पूर्वार्चिक के पहले पांच प्रपाठकों में प्रत्येक के १० दशक हैं और छठे प्रपाठक में मन्त्रों के नौ दशक ही हैं। ये मन्त्र अग्नि (१२ दशक), इन्द्र (३६ दशक) और सोम (११ दशक) को सम्बोधित हैं।

उत्तरार्चिक के अन्य नाम ऊह और रहस्य हैं। इसका प्रत्येक दशक दो अथवा तीन खंडों में विभक्त है। उत्तरार्चिक की एक विशेषता यह है कि प्रायः तीन मन्त्र मिलकर एक ऋक् बनते हैं, उनमें से प्रथम मन्त्र का उल्लेख पूर्वार्चिक (प्रकृति) में भी होता है। इसमें क्रमशः ये सात विषय दिये गए हैं—दशरात्र, संवत्सर, एकाह, अहीन, सत्र, प्रायश्चित्त और क्षुद्र।

सामवेद के मन्त्रों की कुल संख्या १५४६ है। गायन के दो प्रमुख ढंग हैं। एक में तीन और दूसरे में सात सुरों का प्रयोग होता है।

४. कालसंबंधी आन्तरिक साक्ष्य—उत्तरार्चिक उत्तरकालीन और अपेक्षाकृत कम महत्त्व का है, क्योंकि—

(क) पूर्वार्चिक के मन्त्रों को इसमें उद्धृत किया गया है।

(ख) ऋग्वेद के मूलपाठ से इसका भेद न्यूनातिन्यून है।

(ग) पूर्वार्चिक के वे मन्त्र जो कि उत्तरार्चिक में आए हैं ऋग्वेद के मूल पाठ से अन्य मन्त्रों की अपेक्षा अधिक मेल खाते हैं।

५. तुलनात्मक काल—(क) शतपथ के संकेतों से प्रतीत होता है कि उस के दूसरे भाग से सामवेद का पूर्वार्चिक पहले विद्यमान था।

(ख) संहिता के रूप में, सामवेद संहिता यजुर्वेद की तैत्तिरीय और वाजसनेयी संहिताओं से पूर्व है। यजुर्वेद की इन संहिताओं में कुछ ऐसे साममन्त्र उपलब्ध होते हैं जो ऋग्वेद की अपेक्षा सामवेद के पाठ-भेद को दर्शाते हैं।

यह ध्यान रखना चाहिए कि सामवेद में नाना पाठ-भेदों का एक कारण तो यह हो सकता है कि मौखिक परम्परा में कुछ त्रुटि रही, और दूसरा यह कि गायन की सुरों के साथ मेल बैठाने के लिए उसमें ऐच्छिक परिवर्तन कर लिया गया। प्रो० वेबर (Weber) का यह मत कि सामवेद में ऋग्वेद की अपेक्षा प्राचीन पाठ पाए जाते हैं और कि उनका संकलन ऋग्वेद से पूर्व हुआ होगा विद्वानों को मान्य नहीं है।

६. भाष्यकार—सामवेद के प्रमुख भाष्यकारों में सायण, माधव (विवरण के रचयिता), महास्वामी और भरतस्वामी के नाम उल्लेखनीय हैं।

७. संस्करण—प्रायः सहस्र संस्करणों में से आजकल निम्न तीन संस्करण ही मिलते हैं—

(क) राणायनीय—(हैदराबाद)[1]—इसमें मूल पाठ, अनुवाद और शब्दकोष है। बाद में यह सायण के भाष्य सहित प्रकाशित हुआ। यह पहला वेद है जिसका सम्पादन समूचे का हुआ। इसी का एक आलोचनात्मक संस्करण प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् सत्यव्रत सामश्रमी के द्वारा प्रकाशित हुआ है।

(ख) कौथुम (गुजरात)--७ वें प्रपाठक (प्रकाशित १८६८) और सामवेद के देवताओं व ऋषियों की दो अनुक्रमणियों के अतिरिक्त इस संस्करण का और कुछ शेष नहीं है। नैगेय शाखा के अनुसार, यह हमें ऋग्वेद के मूल पाठ के सम्बन्ध में परोक्ष ज्ञान प्रदान करता है।

(ग) जैमिनीय—यह तलवकार के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस संस्करण का प्रचलन करनाटक में था। इसके सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय कुछ नहीं है।

यजुर्वेद

१. प्रमुख विशेषताएँ—(क) यजुर्वेद हमें ऋग्वेद से भिन्न भारत में धार्मिक व सामाजिक जीवन के एक नए युग और एक नये भौगोलिक प्रदेश की परिचिति कराता है। पश्चिमीय विद्वानों के अनुसार, साहित्यिक रचना का क्षेत्र पांच नदियों के अन्तर्गत पंजाब से बदल कर धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र, ब्राह्मण मत का केन्द्र व मनुस्मृति में प्रशंसित ब्रह्मावर्त, पंचाल प्रदेश, यमुना-गंगा दोआब, और मत्स्यों की राजधानी मथुरा बन गया।

(ख) इसके अन्तर्गत ऋग्वेद के सूक्त और यज्ञिय विधान की दृष्टि से उनके व्याख्यात्मक गद्यांश हैं। भाषा की दृष्टि से यह वैदिक गद्य का प्राचीनतम उदाहरण प्रस्तुत करता है।

(ग) इस वेद के दो प्रमुख भाग हैं—शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण

---

१. पहली बार, १८४२ (स्टीवैंनसन Stevenson); दूसरी बार, १८४८ (बैनफे, Benfey)।

यजुर्वेद। शुक्ल यजुर्वेद में व्याख्यात्मक गद्यांशों का सम्मिश्रण नहीं है। इसके सूक्तों की योजना सुव्यवस्थित है। इसका प्रादुर्भाव सूर्य के द्वारा होने से इसका नाम सार्थक है। कृष्ण यजुर्वेद में यज्ञिय अनुष्ठानों से सम्बन्धित व्याख्यात्मक गद्यांश पाये जाते हैं और उसका प्रतिपाद्य विषय सुव्यवस्थित नहीं है।

२. शुक्ल यजुर्वेद (वाजसनेयी संहिता)—यह वेद वाजसनेय (अन्य नाम याज्ञवल्क्य) के द्वारा अपने १५ शिष्यों को सिखाया गया था। वह वाजसनि का पुत्र था (वाज = अन्न, सनि = बलि, जो यज्ञ में अन्न की बलि[1] (आहुतियाँ) देता था)। अतः इस संहिता का नाम वाजसनेयी पड़ गया। कण्व और माध्यन्दिन उसके दो प्रमुख शिष्य थे। उनके द्वारा इसके दो महत्त्वपूर्ण संस्करण काण्व शाखा और माध्यन्दिन[2] शाखा नामक अस्तित्व में आए। प्रतिपाद्य विषय और स्थापना में ये दोनों प्रायः समान हैं। गद्यांश में कहीं-कहीं कुछ पाठ-भेद है। ये नगण्य पाठ-भेद भी भौगोलिक भिन्नता के कारण हैं क्योंकि इनमें उच्चारण की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं।

इसके चालीस अध्याय हैं, प्रत्येक अध्याय कण्डिकाओं में विभक्त है जो कुल मिलाकर १९७५ हैं।

(क) प्रतिपाद्य विषय

अ—१–२५ अध्यायों में साधारण यज्ञिय अनुष्ठानों से संबंधित मन्त्रों को निम्न प्रकार से दिया गया है—

अध्याय १–२	नवोदित व पौर्णमास चान्द्र यज्ञ,
,, ३	प्रातः सायं अग्नि यज्ञ,
,, ४–८	सोमयज्ञ,

१. यह इस बात का प्रमाण है कि इस वेद में बताए गए यज्ञों के अनुष्ठान में पशु-बलि का विधान नहीं था।

२. वाजसनेयी संहिता के अनुगामी आजकल उत्तर-पूर्व और मध्य-भारत में दूर-दूर तक मिलते हैं।

अध्याय ९–१०	इसी के दो और रूप,
,, ११–१८	होमाग्नि के लिए वेदिका-निर्माण,
,, १९–२१	सौत्रामणि के लिए, अति सोम-पान के कुप्रभावों को दूर करने के लिए,
,, २२–२५	अश्वमेध यज्ञ
,, २६–४०	अध्याय–खिल अथवा परिशिष्ट (उवट और महीधर का भी ऐसा ही मत है)
,, २६–२९	यज्ञिय मन्त्रों की आवृत्ति,
,, ३०–३९	नये यज्ञों का वर्णन, जैसे पुरुषमेध, सर्वमेध, पितृ-मेध और प्रवर्ग्य,
,, ४०	ईशावास्योपनिषद् ।

प्रो० मैक्समूलर के मतानुसार, अनवरत यज्ञों के अनुष्ठानों के इस दमघोटू वातावरण में ऋग्वेद की प्राकृतिक धर्म-भावना का पनपना संभव नहीं था। शक्ति की पूजा, देवताओं का प्रत्युपकार और अपने दोषों का आत्म-निरीक्षण—इन सभी गुणों का अभाव हो गया एकदम।

(ख) मूल-पाठ—मूल-पाठ में केवल प्रथम १८ अध्याय हैं—

१. बाह्य साक्ष्य—(अ) इसी भाग में वे मन्त्र और गद्यांश हैं जो कि तैत्तिरीय संहिता में प्रायः मिलते हैं।

(आ) अन्तिम २२ अध्यायों का प्रतिपाद्य विषय पुनः तैत्तिरीय संहिता के ब्राह्मण और आरण्यक में ही मिलते हैं।

(इ) यही वह भाग है जिसकी इसके अपने ब्राह्मण के प्रथम नौ खण्डों में शब्दशः व्याख्या हुई है।

(ई) शुक्ल यजुर्वेद की प्राचीन अनुक्रमणी (जो कात्यायन की बताई जाती है) के अनुसार, अध्याय २६-३५ 'खिल' बताये गये हैं। उवट और महीधर भी इससे सहमत हैं।

२. आन्तरिक साक्ष्य—(अ) अध्याय २६-२९ परिशिष्ट

रूपात्मक हैं, क्योंकि उनमें उन्हीं यज्ञों से संबंधित मन्त्र हैं, जो पहले के अध्यायों में वर्णित हैं।

(आ) अध्याय ३०—३९ नितान्त नए यज्ञों का वर्णन करते हैं—यथा पुरुषमेध, सर्वमेध इत्यादि।

(इ) अध्याय ४० बाद का है क्योंकि इसका रूप उपनिषद् का है।

(ई) अध्याय ३६ में रुद्र के दो नए विशेषण ईशान और महादेव दिए गए हैं जो कि अध्याय १६ के वैसे ही वाक्य में नहीं पाये जाते।

(उ) अध्याय ३० में भारत की बहुत-सी मिश्रित जातियों का वर्णन है, परन्तु अध्याय १६ में उनके नाम नहीं दिए गए।

अतः हम संहिता में नीचे लिखे चार कालनुक्रमिक स्तरों को अनुभव करते हैं—

प्रथम स्तर—अध्याय १—१८ मौलिक

द्वितीय स्तर—अध्याय १६—२५

तृतीय स्तर—अध्याय २६—३९

चतुर्थ स्तर—अध्याय ४० ईशावास्योपनिषद्।

इससे प्रतीत होता है कि शुक्ल यजुर्वेद का मूल भाग भी कृष्ण यजुर्वेद के सभी संस्कारणों के बाद अस्तित्व में आया होगा क्योंकि इसके प्रतिपाद्य विषय का संविभाग अधिक सुव्यवस्थित है।

(ग) भाष्यकार—इसके प्रसिद्ध भाष्यकारों में हरिस्वामी (७वीं शताब्दी), उदय (८५०), उवट (११वीं), महीधर (महीदास) और सायण के नाम उल्लेखनीय हैं।

कृष्ण यजुर्वेद

कृष्ण यजुर्वेद के निम्न चार संस्करण प्रसिद्ध हैं—

१. काठक संहिता;

२. कपिष्ठल—कठ-संहिता—केवल खण्डों में प्राप्य।

३. मैत्रायणी (अन्य नाम कालाप) संहिता।

४. तैत्तिरीय संहिता।

इन सभी संस्करणों का प्रतिपाद्य विषय एक समान नियम के अनुसार व्यवस्थित है जो कि वाजसनेयी संहिता से भिन्न है। कृष्ण यजुर्वेद के भी प्रमुख भागों में 'यजूंषि'[१] मन्त्रों में व्याख्या का मिश्रण नहीं है, उदाहरणार्थं तैत्तिरीय संहिता के प्रथम अध्याय के पहले चार पाठ और अध्याय ४ तथा मैत्रायणी संहिता के पाठ १–३ व पाठ ७–१३ वाजसनेयी संहिता के अनुरूप भागों के समानान्तर संस्करण को प्रस्तुत करते हैं।

उपरिलिखित प्रथम तीन संस्करणों की व्यापक परिभाषा 'चरक' है। भाषा की दृष्टि से इनमें परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनमें कई रूप ऐसे भी मिलते हैं जो अन्यत्र नहीं मिलते। विक्रम संवत् के आरम्भ होने से बहुत पहले ये संस्करण दूर-दूर तक प्रसिद्ध थे। पतंजलि के अनुसार, 'काठक' और 'कालाप' यजुर्वेद की विश्वविख्यात शाखाएँ थीं। रामायण में वर्णन आता है कि अयोध्या में इन संस्करणों का बहुत आदर था। शनैः-शनैः इनका स्थान तैत्तिरीय और वाजसनेयी संस्करणों ने संभाल लिया। आजकल काठक संहिता कश्मीर में समादृत है और मैत्रायणी नर्मदा के निकट नासिक से बड़ोदा तक, विशेषकर अहमदाबाद में समादृत है।

मैत्रायणी संहिता के चार काण्ड हैं जो ५४ प्रपाठकों में विभक्त हैं। इसका प्रथम सम्पादन एल० वी० श्रॉडर (L. V. Schrocder) द्वारा १८८१–१८८६ में हुआ था।

तैत्तिरीय संहिता का महत्त्व आजकल सबसे अधिक माना जाता है। यह दो संस्करणों में उपलब्ध है—आपस्तम्भ (गोदावरी के निकट प्रदेश में) और हिरण्यकेशिन् (दूर दक्षिण के प्रदेश में)। इसमें ७ अष्टक (अथवा काण्ड) हैं। प्रत्येक अष्टक में ५ से ८ अध्याय (प्रश्न अथवा प्रपाठक) हैं, कुल अध्याय ४४ हैं। इसका प्रथम सम्पादन ए० वेवर

---

१. यजति यजते वा अनेन, इति यज् + उसि = यजुष् अर्थात् वह मन्त्र जिसमें पूजा की विधि को निर्धारित किया जाता है।

द्वारा १८७१–२ में हुआ था। प्रत्येक अध्याय अनुवाकों में विभक्त है। प्रथम अनुवाक वाजसनेयी (शुक्ल यजुर्वेद) की प्रथम कण्डिका के अनुरूप है, परन्तु शेष सब में भेद है। प्रतिपाद्य विषय की व्यवस्था में भी भेद है। दोनों संहिताओं में कई विषय समान हैं, परन्तु उनकी व्यवस्था और उनके वर्णन में भेद है। काण्ड ४, ५ का विषय पवित्र होमाग्नि है। काण्ड ७ में ज्योतिष्टोम तथा सोमरस के निर्माण व पान के प्रकारों का वर्णन है।

भाष्यकार—कृष्ण यजुर्वेद के प्रमुख भाष्यकारों में सायण, भट्ट-भास्कर, कपर्दास्वामी, भवस्वामी (१३०० ई०), और गुहदेव के नाम उल्लेखनीय हैं।

काल—ब्लूमफील्ड के मतानुसार, यजुर्वेद संहिता अपेक्षाकृत बाद के काल की है, यद्यपि इसमें पर्याप्त ऐसी सामग्री है जो प्राचीन, प्राचीनतम अथवा पूर्वैतिहासिक काल की कही जा सकती है। परन्तु अन्य वैदिक संहिताओं की भाँति, संहिता के रूप में यह ऋग्वेद संहिता से बाद में आती है। यजूंषि अथवा गद्यांश जो इस वेद की मुख्य विशेषता हैं भारोपीय जातियों के साहित्यों में प्राचीनतम गद्य के उदाहरण को प्रस्तुत करते हैं।

अथर्ववेद

सभ्यता के इतिहास के स्रोत के रूप में अथर्ववेद उतना ही महत्त्व-पूर्ण और रोचक है जितना स्वयं ऋग्वेद।

(क) पश्चिमीय विद्वानों के मतानुसार, अथर्ववेद जनता के पिछड़े विचारों को प्रस्तुत करता है, जब कि ऋग्वेद महापुरुषों के उच्च धार्मिक विचारों को।

(ख) इसकी तान्त्रिक विद्या ऋग्वेद से भी अति प्राचीन है। इसके अनेक मन्त्र निश्चितरूपेण पूर्वैतिहासिक काल के हैं।

(ग) ब्रह्मवाद के विषय में इसकी सामग्री अन्य वेदों से बढ़कर है।

उत्पत्ति के सम्बन्ध में पारम्पारिकवाद—अथर्ववेद कई नामों से विख्यात है, अथर्वांगिरस्, भृग्वंगिरस् तथा ब्रह्मवेद। इसके अपने ब्राह्मण गोपथ[1] की एक कथा के अनुसार जगत् स्रष्टा ब्रह्मा ने घोर तपस्या की, उसके फलस्वरूप दो तेजस्वी ऋषियों की उत्पत्ति हुई; अथर्वन् और अङ्गिरस्। ऋषि अथर्वन् का दूसरा नाम भृगु था। अतः इन ऋषियों अथवा उनके वंशजों के द्वारा जिन मन्त्रों का प्रादुर्भाव हुआ, वे अथर्ववेद, अथर्वांगिरसः, भृग्वंगिरसः आदि नामों से विख्यात हुए। इसका नाम ब्रह्मवेद भी पड़ा क्योंकि (१) इसके मन्त्रों को ब्रह्माणि भी कहते हैं, (२) इसमें पर्याप्त सामग्री ऐसी है जो ब्रह्मज्ञान और मोक्षप्राप्ति-विषयक है।

प्रतिपाद्य विषय—अथर्ववेद में २० काण्ड हैं जो ४८ प्रपाठकों में विभक्त हैं। उनमें ७६४ सूक्त और ६००० मन्त्र हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार रोग आदि के निवारण के लिए तथा सम्मोहन आदि तन्त्र अथर्वन् के हैं, और मारण, उच्चाटन आदि तन्त्र अंगिरस् के हैं। 'अथर्वन्' शब्द ऋग्वेद में भी आता है। ब्राह्मणकाल में होमाग्नि की पूजा करने वाले ब्राह्मणों को 'अथर्वन्' कहा जाता था, सूत्रकाल में सभी पुरोहित 'अथर्वन्' कहलाये जाने लगे।

संस्करण—इस वेद के नौ संस्करण थे—अर्थात् शौनकीय, पैप्पलाद, जामल, तोत्तायन, दामोद, चरणविद्या, देवदर्शी, ब्रह्मपालाश और कुनरवा। इनमें से केवल दो की रक्षा हो सकी है। शौनकीय संस्करण विख्यात है। इसका भाष्य सायण ने १४वीं शताब्दी में किया था। गत शताब्दी में इसका सम्पादन एस० पी० पण्डित, (१८९०), रौथ, ह्विटने और ब्लूमफील्ड के द्वारा भी हुआ। इसका एक नवीन संस्करण पदपाठ और सायण भाष्य सहित अब आचार्य विश्वबन्धु द्वारा विश्वेश्वरानन्द पुस्तकमाला के अन्तर्गत हुश्यारपुर से पाँच भागों में सम्पादित हुआ है। पैप्पलाद संस्करण की एकमात्र पांडुलिपि सुरक्षित है।

---

१. गोपथ ब्राह्मण १.४; १.९; ३.४

प्रमुख ऋषि—अथर्ववेद के प्रमुख ऋषियों में कण्व, बादरायण, कश्यप, कक्षिवान् , विश्वामित्र, अगस्त्य, जमदग्नि, पुरुनीध और वामदेव के नाम उल्लेखनीय हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थ

वेदों में यज्ञों के अनुष्ठान पर बहुत बल दिया गया था। जब वेदों की मौलिक रचना का युग समाप्त हो गया तो यज्ञों के अनुष्ठान को प्रभावशाली, आकर्षक, गौरवपूर्ण व चित्रमय बनाने के लिए विधि के सूक्ष्म अंगों की ओर ध्यान खिंचा। अतः ब्राह्मण ग्रन्थों के निर्माण की आवश्यकता अनुभव हुई। इन में यज्ञिय अनुष्ठान संबंधी विधान इतनी सूक्ष्मता और गौरवपूर्णता के साथ मिलता है कि संसार के अन्य किसी साहित्य में उसकी तुलना मिलना असंभव है। ब्रह्म को प्रतिपादित करने से ये ग्रन्थ ब्राह्मण कहलाए। एक ओर ये धार्मिक ग्रन्थ यज्ञों के अनुष्ठान के लिये विस्तार-सहित विधान को निर्धारित करते हैं, दूसरी ओर ये वेदों के कठिन स्थलों का भाष्य भी प्रस्तुत करते हैं। ये समूचे गद्यात्मक हैं। तैत्तिरीय और शतपथ ब्राह्मण वेदों की भाँति स्वर-सहित हैं। ये भारोपीय परिवार के गद्य-लेखन के प्राचीनतम उदाहरण को प्रस्तुत करते हैं। इनका मुख्य उद्देश्य मूल मन्त्रों और यज्ञ-विधान के पारस्परिक संबंध बताना और एक दूसरे के साथ पारिभाषिक तात्पर्य की व्याख्या करना है।

प्रतिपाद्य विषय और महत्त्व—ब्राह्मण ग्रन्थों में वेदों के व्याख्यात्मक, भाषात्मक तथा निरुक्ति-विषयक वाक्य ग्रथित हैं। जगत् की सृष्टि और ईश्वरीय-ज्ञान संबंधी वादों की पुष्टि में इन में अनेक धार्मिक कथाएँ और दार्शनिक विचार दिये गए हैं। पश्चिमीय विद्वानों के मतानुसार इनकी याजकीय कल्पनाएँ अतिशयोक्तिपूर्ण और इनके दार्शनिक विवाद पांडित्यपूर्ण हैं। यज्ञिय अनुष्ठानों से संबंधित ये प्राचीनतम ग्रन्थ हैं, अतः धर्म के इतिहास के विद्यार्थी के लिए साधारणतया

और भारतीय प्राचीनता के विद्यार्थी के लिए विशेषतया इनका महत्त्व बहुत है। इनमें वर्णित अनेक कथाएं[1] विशेष महत्त्वपूर्ण हैं और अनेक विचार विशेष प्रभावशाली। केगी के मतानुसार "ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञिय अनुष्ठान के प्राचीनतम विधान मिलते हैं और भाषात्मक विकास की प्राचीनतम व्याख्याएं। इनमें प्राचीनतम परम्पराएँ और दार्शनिक कल्पनाएँ मिलती हैं। भाषा और सम्यता के इतिहास के लिए इनका बहुत महत्त्व है, परन्तु स्वर्ण कीचड़ के समूह में छिपा हुआ है।"

वेदों और ब्राह्मण-ग्रन्थों में तुलना—१. वेद प्रतिपाद्य विषय और रूप में काव्यात्मक हैं, ब्राह्मण ग्रन्थ गद्यात्मक हैं।

२—वेदों की विचारधारा प्राकृतिक और साकार है, ब्राह्मणों की कृत्रिम और भाव-वाचक।

३—वेदों की प्रमुख विशेषता उनकी धार्मिकता है, ब्राह्मणों की विशेषता उनका यज्ञिय विधान।

प्रतिपाद्य विषय—ब्राह्मण-ग्रन्थ अपने-अपने वेदों से संबंधित हैं, अतः उनका विषय भी भिन्न है। ऋग्वेद के ब्राह्मण-ग्रन्थों का उद्देश्य ऋग् मन्त्रों के होता के कर्तव्यों की व्याख्या करना है। ऋग्वेद में दिये गए सूक्तों के क्रम की उपेक्षा कर के वे प्रायः यज्ञिय विधान के क्रम का अनुसरण करते हैं। सामवेद के ब्राह्मण-ग्रन्थों का उद्देश्य 'साम मन्त्रों' के 'उद्गाता' के कर्तव्यों की व्याख्या करना है, और यजुर्वेद के ब्राह्मण-ग्रन्थों का उद्देश्य अध्वर्यु के कर्तव्यों की व्याख्या करना। ये ब्राह्मण-ग्रन्थ अपने-अपने वेद में दिये गए मन्त्रों के क्रम का पालन करते हैं क्योंकि उनका क्रम पहले ही यज्ञिय विधान के अनुसार होता है। सामवेद के ब्राह्मण-ग्रन्थों में अलग-अलग मन्त्रों की व्याख्या का प्रायः अभाव है,

---

१. इन कथा-कहानियों के काव्यीय महत्त्व का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि बाद में आने वाले संस्कृत कवियों ने इन्हें बड़े चाव से अपनाया है, जैसे पुरुरवस्-उर्वशी कथा।

परन्तु यजुर्वेद के ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रायः सभी मन्त्रों पर टिप्पणियाँ मिलती हैं।

साधारण विकास—कालान्तर में, ब्राह्मण ग्रन्थ भी 'श्रुति' के अन्तर्गत माने जाने लगे। तदनन्तर ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तिम भाग 'आरण्यक' कहलाए क्योंकि वे वनों के एकान्त में अध्ययन करने के योग्य थे। क्रमशः वे भी 'श्रुति' का भाग माने जाने लगे। आरण्यक ग्रन्थों के अन्तिम भाग दार्शनिक हैं, वे उपनिषद् कहलाए। उनके सिद्धान्त की, विश्ववाद की आधार-शिला कालान्तर में वेदान्तदर्शन में विकसित हुई।

ऋग्वेद के ब्राह्मण ग्रन्थ—ऐतरेय ब्राह्मण और कौषीतकी (अन्य नाम शांखायन) ब्राह्मण ऋग्वेद से संबंधित हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में ४० अध्याय हैं और कौषीतकी में ३० अध्याय।

कृष्ण यजुर्वेद के ब्राह्मण ग्रन्थ—कृष्ण यजुर्वेद की तीनों संहिताओं में गद्यात्मक अंश हैं जो उनके महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण हैं—

१. **तैत्तिरीय संहिता**—इसके गद्यात्मक अंश इसका प्राचीनतम ब्राह्मण ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त एक स्वतन्त्र तैत्तिरीय ब्राह्मण भी है जिसका परिशिष्ट तैत्तिरीय आरण्यक है। इस आरण्यक के अन्तिम चार खंडों में दो उपनिषद् ग्रन्थ, तैत्तिरीय और महानारायण (अन्य नाम याज्ञिकी) आ जाते हैं। प्रतिपाद्य विषय में, तैत्तिरीय ब्राह्मण अपनी संहिता के अनुरूप है; मानो तीन भागों में यह उसी का विस्तार है।

२. **काठक संहिता**—इसका कोई स्वतन्त्र ब्राह्मण प्राप्य नहीं है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अन्तःसाक्ष्य से प्रतीत होता है कि तृतीय भाग के अन्तिम तीन खण्ड और तैत्तिरीय उपनिषद् के प्रथम दो खंड काठक शाखा के अन्तर्गत थे। इन खंडों में नचिकेतस् उपाख्यान है जो बाद में काठक उपनिषद् का आधार बना। इसके अतिरिक्त, इन खंडों में य् और व् का परिवर्तन ब्राह्मण के शेष भाग की भाँति इय् और उव् में नहीं हुआ।

३. मैत्रायणी संहिता—इसका भी कोई स्वतन्त्र ब्राह्मण ग्रन्थ नहीं है। इसका चतुर्थ काण्ड प्रथम तीन काण्डों की व्याख्या और परिशिष्ट के रूप में है और इसके विशिष्ट ब्राह्मण का कार्य करता है। इस संहिता का एक उपनिषद् अवश्य है जिसका नाम मैत्रायणी उपनिषद् है।

शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मण—वाजसनेयी संहिता का प्रसिद्ध ब्राह्मण 'शतपथ' है जो माध्यन्दिन और काण्व, इन दो संस्करणों में प्राप्य है। जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, इसके १०० अध्याय हैं। माध्यन्दिन संस्करण में १४ भाग हैं और दूसरे में १७। इसका अपना आरण्यक है। उसका अन्तिम भाग बृहदारण्यक-उपनिषद् कहा जाता है।

माहात्म्य की दृष्टि से—शतपथ ब्राह्मण बस ऋग्वेद के बाद है। महत्त्वपूर्ण भौगोलिक विवरणों तथा उल्लेखनीय कथानकों का यह सागर है। पुरुरवस् उर्वशी का कथानक ऋग्वेद के संकेत की अपेक्षा इसमें काफ़ी विस्तार से दिया गया है। शकुन्तला का कथानक भी पाया जाता है। पश्चिमीय विद्वानों के अनुसार, एक और कथानक में तीन क्रमों में आर्यों की विकासात्मक प्रगति का संकेत है। मनु और प्रलय का कथानक भी बड़ा रोचक और महत्त्वपूर्ण है।

काल—शतपथ ब्राह्मण की भाषा और शैली से पता चलता है कि यह ब्राह्मणयुग की उत्तरकालीन श्रेणी में रखा जाना चाहिए। धार्मिक दृष्टिकोण से भी इसमें सृष्टि संबंधी विचारधारा का स्पष्ट विकास दीख पड़ता है। इसका विषय-प्रतिपादन आदि से अन्त तक विस्तृत और योजनाबद्ध है। शतपथ ब्राह्मण ऐसे संकेत मिलते हैं कि इसकी रचना बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव से पूर्व हुई।

सामवेद के ब्राह्मण—कौथुम शाखा का कोई ब्राह्मण प्राप्य नहीं है, परन्तु ताण्डिन् और तलवकार शाखाओं के ब्राह्मण मिलते हैं। पंचविंश ब्राह्मण (अन्य नाम ताण्ड्य ब्राह्मण, प्रौढ़ ब्राह्मण) और षड्विंश ब्राह्मण ताण्ड्य शाखा के हैं और तलवकार ब्राह्मण तलवकार शाखा का। षड्विंश ब्राह्मण के अन्तिम छः अध्याय अद्भुत ब्राह्मण

कहलाते हैं। इसमें विशेष अवसरों पर दुष्परिणामों के निवारण के लिए यज्ञिय विधान दिये गए हैं। छान्दोग्य ब्राह्मण भी ताण्ड्य शाखा का ही है, परन्तु इसमें ब्राह्मण वाली कोई विशेषता नहीं। प्रारंभ को छोड़कर शेष सारा यह छान्दोग्य उपनिषद् ही है। तलवकार ब्राह्मण के पांच अध्याय हैं। इसका चतुर्थ अध्याय उपनिषद् ब्राह्मण कहलाता है जिसमें सामवेद परम्परा के अध्येताओं की दो सूचियां और केनोपनिषद् हैं। इसका पंचम अध्याय आर्षेय ब्राह्मण कहलाता है, जिसमें सामवेद के ऋषियों की सूची है। इस शाखा के तीन ब्राह्मण और भी हैं, परन्तु वे केवल नाम के ही ब्राह्मण हैं। वंश ब्राह्मण में सामवेद के अध्येताओं की सूची है; सामविधान ब्राह्मण सूक्तों के गायन के विषय में है और तीसरा देवताध्याय ब्राह्मण है जिसमें सामवेद के देवताओं का वर्णन है।

अथर्ववेद के ब्राह्मण—अथर्ववेद का ब्राह्मण गोपथ ब्राह्मण है। इसमें दो काण्ड हैं। पहले काण्ड में पांच प्रपाठक हैं और दूसरे में छः। इसके कुछ भाग शतपथ० से और कुछ ताण्ड्य ब्राह्मण से उद्धृत हैं।

आरण्यक

ब्राह्मण-ग्रन्थों के अन्तिम भाग आरण्यक हैं। अरण्ये भवम् इति आरण्यकम् (अरण्य + वुञ्) इनकी रचना वनों में होती थी और वहीं पर इनका अध्ययन भी होता था। भारतीय परम्परा के अनुसार, वेद, ब्राह्मण और आरण्यक मिलकर कर्मकाण्ड को प्रस्तुत करते हैं। ये मन्त्र, विधि और अर्थवाद के अनुरूप हैं। पहले में यज्ञ के अवसर पर उच्चारण किये जाने वाले मन्त्र हैं, दूसरे में यज्ञ के अनुष्ठान का विधान और तीसरे में विधि की व्याख्या और समाधान। ब्राह्मण-ग्रन्थों में ऐसे कर्तव्यों का वर्णन है जो एक सद्गृहस्थ के द्वारा पालन किये जाने चाहियें। आरण्यक में ऐसे कर्तव्यों का वर्णन है जो एक वानप्रस्थ के द्वारा पालन किये जाने चाहियें। इनमें कर्मयोग और ज्ञानयोग का सुन्दर

समन्वय है। इन्होंने उपनिषदों की विचारधारा की नींव रखी जिन्होंने पराविद्या ब्रह्मविद्या का प्रचार किया।

ऋग्वेद के आरण्यक—ऋग्वेद के आरण्यक एतरेयारण्यक और कौषीतकारण्यक हैं। ऐतरेयारण्यक में १८ अध्याय हैं, यह आश्वलायन का बताया जाता है। कौषीतक में केवल १५ अध्याय हैं। दोनों के शंकर और सायण भाष्य प्राप्य हैं।

यजुर्वेद के आरण्यक—कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का आरण्यक तैत्तिरीयारण्यक है। यह तैत्तिरीय ब्राह्मण का ही विस्तार है। यह स्वरयुक्त है। इसके भाष्यकारों में सायण, भास्कर मिश्र और वरदराज के नाम उल्लेखनीय हैं।

शतपथ ब्राह्मण के १४ वें भाग का प्रथम तृतीयांश शुक्ल यजुर्वेद का आरण्यक है।

सामवेद के आरण्यक—सामवेद की ताण्ड्य शाखा का आरण्यक छान्दोग्यारण्यक है। यह छान्दोग्योपनिषद् का पूर्व भाग है।

सामवेद की तलवकार शाखा से सम्बन्धित उपनिषद्-ब्राह्मण वास्तव में उस शाखा का आरण्यक है। उपनिषद्-ब्राह्मण का नाम ही संकेतित करता है कि यह ब्राह्मणों और उपनिषदों के सन्धि काल का साहित्य है। आरण्यक की साहित्य में वास्तविक स्थिति भी यही है।

अथर्ववेद का कोई आरण्यक नहीं है।

उपनिषद्

उपनिषद् प्रायः वेदों के ही ब्राह्मण और आरण्यक भागों का विस्तार हैं। जब कि वेद और ब्राह्मण ग्रन्थ कर्मकाण्ड पर बल देते हैं, उपनिषद् ज्ञानकाण्ड पर बल देते हैं जो कि मानव जीवन के चतुर्थ आश्रम संन्यास के अनुरूप है। यह रहस्यमयी पराविद्या गुरुओं के द्वारा निकट बैठा कर ऐसे अधिकारी शिष्यों को सिखाई जाती थी जो वर्षों तक उनकी निस्स्वार्थ सेवा में लीन रहते थे, अतः यह गुह्य विद्या उपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध हुई—[उप = निकट, नि = रहस्य में, सद् = बैठना]।

उपनिषदों में वेदों के सर्वोत्कृष्ट धर्म और दर्शन के तत्त्व दिये गए हैं। भारतीय ऐसा कोई भी दर्शन नहीं है (बौद्ध और जैनमत को मिलाकर) जिसका मूल उपनिषदों में न हो। ऋग्वेद के अनन्तर, उपनिषद् प्राचीन भारत की नितान्त महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृतियां हैं।।

ब्राह्मणों और आरण्यकों की भांति उपनिषद् भी किसी न किसी वेद से सम्बद्ध हैं। ऋग्वेद के १० उपनिषद् हैं, शुक्ल यजुर्वेद के १९, कृष्ण यजुर्वेद के ३२, सामवेद के १६ और अथर्ववेद के ३१ उपनिषद् हैं। विषय की दृष्टि से, ये १०८ उपनिषद् निम्न छः वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं :—

१—वेदान्त विषयक २४ उपनिषद्
२—सांख्य अथवा संन्यास विषयक १७
३—योग विषयक २०
४—वैष्णव १४
५—शैव १५
६—शाक्त और अन्य १८

इन १०८ उपनिषदों में से १४ उल्लेखनीय हैं :—

१. ऐतरेय, २. कौषीतकी, ३. बृहदारण्यक, ४. तैत्तिरीय, ५. महानारायण (अन्य नाम याज्ञिकी), ६. कठ, ७. श्वेताश्वतर, ८. मैत्रायणीय, ९. ईश, १० छान्दोग्य, ११. केन, १२, मुण्डक, १३. प्रश्न, १४. माण्डूक्य।

संख्या १, २ एतरेय और कौषीतकी ऋग्वेद के हैं। संख्या ३ बृहदारण्यक शुक्ल यजुर्वेद का है। इसमें याज्ञवल्क्य और जनक आदि में आत्मानुभूति विषयक रोचक संवाद हैं। संख्या ४ तैत्तिरीय कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का है। 'ब्रह्म क्या है?' इस विषय पर इसमें वरुण और उसके पुत्र भृगु में बड़ा रोचक संवाद है। संख्या ५, ६ और ७ भी तैत्तिरीय शाखा के हैं। कठोपनिषद् में तीन-तीन अध्यायों के दो भाग हैं। 'मृत्यु को हम कैसे जीत सकते हैं?' इस विषय पर इसमें

यम और नचिकेतस् का महत्त्वपूर्ण कथानक है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में श्वेताश्वतर ऋषि का सांख्य, योग और वेदान्त के समन्वय पर अपने शिष्यों को दिया गया उपदेश है।

सं० ८ मैत्रायणीय उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणीय संहिता का है।

सं० ९ ईशोपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद (वाजसनेयी संहिता) का ४० वां अध्याय है। यह 'ईशा' शब्द से आरंभ होता है। इसमें इस सिद्धान्त पर बल दिया है कि ईश (परब्रह्म) एक है; सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसी से परिपूर्ण है। जगत् परिवर्तनशील है परन्तु 'ईश' में कभी कोई विकार नहीं आता। 'आत्मानुभूति' के चरम उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मानव को निष्काम और निस्स्वार्थ कर्म करने चाहियें और पूर्ण शरणागति का जीवन व्यतीत करना चाहिये।

सं० १० छान्दोग्य सामवेद की ताण्ड्य शाखा का है। इसमें ऋषि उद्दालक और उसके पुत्र श्वेतकेतु में रोचक संवाद पाए जाते हैं।

सं० ११ केन० सामवेद की तलवकार शाखा से सम्बद्ध है। यह 'केन' शब्द से प्रारंभ होता है। इसमें बताया गया है कि ब्रह्म सभी ज्ञात और अज्ञात वस्तुओं से सर्वथा भिन्न है। वह संसार की सभी चर अथवा अचर शक्तियों का आदि स्रोत है।

सं० १२-१४ ये तीनों उपनिषद् अथर्ववेद के हैं। मुंडक में बताया गया है कि ज्ञान दो प्रकार का है, पर और अवर। परज्ञान का विषय 'ब्रह्म की प्राप्ति' है और अवरज्ञान का 'वेदों की शिक्षा'। प्रश्न० प्रश्नों और उत्तरों के रूप में है। इसमें पिप्पलाद ऋषि अध्यात्म-विषयक तथा जगत् की सृष्टि, और जागृति, स्वप्न, निद्रा, सुषुप्ति तथा समाधि आदि अवस्थाओं के संबंध में नाना प्रश्नों के उत्तर अपने छः शिष्यों को देता है।

माण्डूक्य में 'ब्रह्म' को अनादि, अनन्त और असीम परा शक्ति बताया गया है।

यद्यपि ये उपनिषद् अलग-अलग वेदों से संबद्ध हैं किन्तु उनका विषय समान है। इन सभी का विश्वास आत्मा के आवागमन और कर्मफल की अपरिहार्यता[1] में है। सभी उपनिषदों का मुख्य उद्देश्य ब्रह्म की अनुभूति और मोक्ष की प्राप्ति है। प्रो० ड्यूसन (Deussen) के मतानुसार, उपनिषदों की उत्कृष्ट विचारधारा की तुलना न ही भारत की कोई अन्य विचारधारा कर सकती है, न संसार की ही कोई और विचारधारा। उनके स्थायी माहात्म्य और विशेष आदर का कारण यही है कि उन्होंने मानव मन को परम सत्य की सच्ची खोज में सदा के लिए प्रवृत्त कर दिया।

बाह्याकार—सं० ५, ६, ७, ६ और १२ अर्थात् महानारायण, कठ, श्वेताश्वतर, ईश और मुण्डक पद्यात्मक हैं।

सं० ११ और १३ (अर्थात् केन० और प्रश्न०) कुछ पद्यात्मक हैं और कुछ गद्यात्मक। शेष ७ गद्यात्मक हैं।

सं० ४ और ५ (अर्थात् तैत्तिरीय और महानारायण) स्वरयुक्त हैं।

भाषा के विकास तथा विषय-प्रतिपादन के आधार पर यह प्रतीत होता है कि सं० १-४ और १०, ११ अर्थात् ऐतरेय, कौषीतकी, बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और केन० विकास की पूर्वकालीन अवस्था को प्रस्तुत करते हैं, और प्रश्न, मैत्रायणीय तथा माण्डूक्य उत्तरकालीन अवस्था को।

पश्चिम के प्रति यात्रा—दाराशिकोह ने कई उपनिषदों को फ़ारसी भाषा में अनूदित कराया। उपनिषद् शब्द का फ़ारसी उच्चारण औपनेखत (Oupnekhat) है। ऐनक्वेतिल दू पैरन (Anquetil Du Perron) नामक एक फ्रांसीसी ने १७७५ ई० में दाराशिकोह द्वारा कराये गए फ़ारसी अनुवाद का लातीनी में अनुवाद किया जो कि बहुत प्रभावशाली सिद्ध हुआ। इस अनुवाद के भी अनुवाद द्वारा

---

१. करम गति टारे नाहिं टरै।

शोपनहॉर (Schopenhauer) को उपनिषदों की विचार-धारा का ज्ञान हुआ। उसने इस अनुवाद की प्रशंसा में लिखा, 'इससे मुझे जीवन में शान्ति मिली है और इससे मुझे मरने के पश्चात् भी शान्ति मिलेगी।' क्योंकि उपनिषदों में 'एकता के सिद्धान्त' को प्रतिपादित किया गया है, अत: उसके विचार में उपनिषद् 'विश्व के गहनतम चिन्तन का परिणाम' हैं। उसका यह मत था कि 'एक दिन ऐसा आएगा जब कि भारत की यह विचार धारा सारे संसार में फैल कर रहेगी।'

सूत्रग्रन्थ

सूत्रग्रन्थ अतीव संक्षिप्त ग्रन्थ हैं जो कि गद्यमय नितान्त संक्षिप्त शैली में रचे गए हैं। इनका विषय एक ओर यज्ञिय विधान और दूसरी ओर व्यावहारिक धर्म है।

सूत्रों का मुख्य उद्देश्य विकीर्ण विस्तृत विवरणों का नितान्त संक्षिप्त सार प्रस्तुत करना है। यज्ञिय विधान अथवा व्यावहारिक धर्म के अर्थ-बोध से इनका कुछ संबंध नहीं, इनका उद्देश्य एक मात्र उन विधानों और व्यवहारों का एक सरल क्रमिक सार दे देना है। ब्राह्मण-ग्रन्थों की शैली अत्यन्त विस्तार-पूर्ण और पुनरुक्तियुक्त थी, इनकी नितान्त संक्षिप्त और सारगर्भित। साहित्यिक दृष्टि से इनकी शैली नितान्त अपनी है। भाष्यकारों की विस्तृत व्याख्याओं के बिना ये दुर्बोध्य हैं। सूत्र शब्द की निरुक्ति सिव् (सीना) धातु से है, जो इसकी नितान्त संक्षेप की विशेषता की परिचिति कराता है। इनकी भाषा इतनी संक्षिप्त और सारगर्भित होती है कि उनके मुक़ाबले पर नितान्त संक्षिप्त तारें भी विस्तारपूर्ण प्रतीत होती हैं। बीजगणित के सूत्र भी इतने संक्षिप्त नहीं होते जितने ये हैं।

रचनाकाल—अनुसंधान से अभी यह पता नहीं चल सका है कि सूत्रों का रचनाकाल निश्चितरूपेण क्या है। भाषात्मक विकास की छान बीन से पता चला है कि सूत्रग्रन्थों के रचनाकाल का निकट का

संबंध वैयाकरण पाणिनि से है। अनेक सूत्रग्रन्थ उससे बहुत पहले के हैं। मैक्डानल ने इनका रचनाकाल ५०० और २०० ई० पू० के मध्य अनुमानित किया है। जितनी ही कोई रचना अधिक संक्षिप्त और सारगर्भित है, उतना ही उसका काल बाद का मानना चाहिये क्योंकि शैली का विकास संक्षिप्तता की ओर है।

छः वेदाङ्ग—सूत्र साहित्य में छः वेदांगों का स्थान प्रमुख है। वेदाङ्ग का तात्पर्य विशिष्ट रचना नहीं, अपितु विशिष्ट विषय है। वेद के सम्यक्-ज्ञान के लिये इन छः वेदांगों (अर्थात् छः विषयों) का जानना अत्यन्त आवश्यक है—

शिक्षा व्याकरणं छन्दो निरुक्तं ज्योतिषं तथा।
कल्पश्चेति षडंगानि वेदस्याहुर्मनीषिणः॥

१. शिक्षा—यह वेदांग वेद संहिताओं के शुद्ध उच्चारण और शुद्ध स्वर लगाने के संबंध में शिक्षा देता है। इस वेदांग के ग्रन्थों को प्रातिशाख्य कहते हैं। वैदिक शब्दों का वाक्यों के अन्दर प्रयुक्त होने से सन्धि आदि के कारण उनमें किस प्रकार क्या-क्या उच्चारण-भेद आ जाते हैं और स्वर लगाने में क्या-क्या बात ध्यान देने योग्य है, इस विषय पर इन ग्रन्थों में सूक्ष्म विचार दिये गए हैं—

गुरुत्वं लघुता साम्यं ह्रस्वदीर्घप्लुतानि च।
लोपागमविकाराश्च प्रकृतिर्विकृतिः क्रमः॥
स्वरितोदात्तनीचत्वं श्वासो नादस्तथोभयम्।
एतत् सर्वञ्च विज्ञेयं 'छन्दो भाषामधीयता'॥

छन्दोभाषा से तात्पर्य यहां पर वैदिक भाषा से है। वैदिक भाषा के विद्यार्थी के लिए शिक्षा-वेदांग के अन्तर्गत आने वाले इन सभी नियमों-उपनियमों का ज्ञान परमावश्यक है। अतः वैदिक भाषा विज्ञान के लिए भी शिक्षा वेदांग नितान्त उपयोगी है। तैत्तिरीय आरण्यक के बाद इनका इस विषय में बड़ा महत्त्व है। इनसे यह भी पता चलता

है कि स्वर सुरीला था। जैसा कि 'प्रातिशाख्य' शब्द से प्रतीत होता है, वेद की प्रति शाखा का अपना-अपना प्रातिशाख्य है।

ऋग्वेद (शाकल शाखा) के प्रातिशाख्य ऋग्वेद प्रातिशाख्य कहलाता है, यह शौनक द्वारा रचित है।

शुक्ल यजुर्वेद (माध्यन्दिन शाखा) के प्रातिशाख्य का नाम वाज-सनेयी प्रातिशाख्य सूत्र है। यह कात्यायन द्वारा रचित है।

कृष्ण यजुर्वेद (तैत्तिरीय शाखा) के प्रातिशाख्य का नाम तैत्तिरीय प्रातिशाख्य सूत्र है।

सामवेद के तीन प्रातिशाख्य उल्लेखनीय हैं—साम प्रातिशाख्य, पुष्प सूत्र और पंचविध सूत्र।

अथर्ववेद के प्रातिशाख्य का नाम अथर्ववेद-प्रातिशाख्य सूत्र है। यह चातुरध्यायिका के नाम से भी प्रसिद्ध है।

तदनन्तर पाणिनि शिक्षा, नारद शिक्षा और व्यास शिक्षा आदि आर्ष ग्रन्थों की रचना हुई, ये क्रमशः भारद्वाज, याज्ञवल्क्य और वसिष्ठ आदि ऋषियों के बताए जाते हैं।

२. व्याकरण—इस विषय में भारतीय प्रतिभा पराकाष्ठा को पहुँच गई। मैक्डानल के मतानुसार "भारत के संस्कृत वैयाकरणों ने ही सर्व-प्रथम शब्दों का विभाजन किया, धातुओं और प्रत्ययों में भेद बताया, प्रत्ययों के नाना कार्यों को निर्धारित किया, और एक नितान्त शुद्ध और सर्वांग पूर्ण ऐसा व्याकरण प्रस्तुत किया जिसकी तुलना विश्व के किसी भी साहित्य में नहीं मिल सकती।"

संस्कृत व्याकरण पर सब से प्राचीन ग्रन्थ जो प्राप्य है वह अष्टाध्यायी (पाणिनि कृत) है। उसमें शाकटायन, सेनक और शाकल्यादि अनेक पूर्वजों का उल्लेख है परन्तु उन का कुछ शेष नहीं है क्योंकि वे पाणिनि द्वारा हतप्रभ हो गए। इसका विषय संस्कृत व्याकरण है (वैदिक नहीं), अतः यह प्राचीनतम वेदांग नहीं है। उणादि और फिट् सूत्र उस से बहुत पहले के हैं।

३. छन्दस्—इसमें उन नियमों की व्याख्या की गई है, जो वैदिक मन्त्रों के छन्दों पर लागू होते हैं। पिंगल की कृति, जो कि छन्दस् पर एक महत्त्वपूर्ण प्राचीन पुस्तक है, प्राचीनतम नहीं हो सकती, क्योंकि इस में वैदिक और संस्कृत छन्दों को समान दृष्टि से देखा गया है। निदान सूत्र में वैदिक छन्दों की प्रकृति और संज्ञाओं की व्याख्या है और अन्त में वैदिक छन्दों की अनुक्रमणी। इस के दस खण्ड हैं।

४. निरुक्त—यास्क द्वारा प्रणीत निरुक्तम् (८०० ई. पू. से पहले) इस विषय का प्राचीनतम प्राप्य ग्रन्थ है। उसने अपने से पूर्व शाकपूणि सहित १७ पूर्वजों के नामों का वर्णन किया है। इस के तीन खण्ड हैं—

(क) नैघंटुक काण्ड—इस में समानार्थक शब्दों का वर्णन है।

(ख) नैगम काण्ड—(अन्य नाम ऐकपदिक) इस में दुर्बोध और संदिग्ध शब्द दिये गए हैं।

(ग) दैवत काण्ड—इसमें पृथ्वी, द्यौ और अन्तरिक्ष के नाना देवताओं का वर्णन है। अन्य वेदांगों की भाँति, वेदार्थबोध के लिए इस का भी सम्यक्-ज्ञान परमावश्यक है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस सरणि पर विशेष बल दिया है।

५. ज्योतिष—यज्ञों का अनुष्ठान शुभ मास में, शुभ तिथि में, शुभ नक्षत्र में, शुभ लग्न में विशेष फलदायक होता है, अतः ज्योतिष के सम्यक् ज्ञान की आवश्यकता पड़ी। इस में सूर्य-चन्द्र आदि नव ग्रहों की, मेष-वृष आदि १२ राशियों और अश्विनी-भरणी आदि २७ नक्षत्रों में सूक्ष्म गति की गणना बड़ी चातुरी से वैज्ञानिक ढंग से प्रतिभापूर्वक की गई है। सौर दिवसों की अपेक्षा चान्द्र तिथियों को अधिक महत्ता दी जाती है। ज्योतिष–वेदांग प्राचीनतम प्राप्य ग्रन्थ है। इसके रचयिता के सबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता। न ही इस के रचनाकाल का कुछ अनुमान हो सकता है। इस में ३६ मन्त्र ऋग्वेद के और ४३ मन्त्र यजुर्वेद के पाये जाते हैं।

६. कल्पसूत्र—वैदिक साहित्य के इतिहास में कल्पसूत्रों का विशेष महत्त्व है क्योंकि इन से साहित्य का एक नया युग आरंभ होता है। शनैः शनैः इन्होंने ही नाना ब्राह्मण-ग्रन्थों का स्थान ग्रहण कर लिया। इन का स्रोत वेदों के ब्राह्मण-भाग में मिलता है। इन को कल्पसूत्र इस लिये कहते हैं कि ये यज्ञों के अनुष्ठान का निर्धारण करते हैं,

'कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र इति व्युत्पत्तिः' (सायण)

ये स्पष्ट, लघु और पूर्ण हैं। इनको निम्न प्रकार से श्रेणीबद्ध किया जा सकता है—

(क) श्रौत सूत्र—ये श्रुति पर निर्भर हैं। ये बड़े-बड़े महत्त्वपूर्ण यज्ञों के विधान का वर्णन करते हैं (यथा—दर्शपूर्णमास और सोम-यज्ञ इत्यादि) जिस में तीनों (दक्षिण, आहवनीय और गार्हपत्य) होमाग्नियों की, और चारों (होतृ, अध्वर्यु, उद्गातृ और ब्रह्मन्) पुरोहितों की आवश्यकता पड़ती है। प्रत्येक वेद के अपने सूत्र हैं:—

ऋग्वेद—आश्वलायन और शांखायन कल्पसूत्र (होतृ पुरोहित के उपयोग के लिए)

कृष्ण यजुर्वेद—बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशि, मानव, भारद्वाज कल्पसूत्र (अध्वर्यु पुरोहित के उपयोग के लिए)

शुक्ल यजुर्वेद—कात्यायन कल्पसूत्र (अध्वर्यु पुरोहित के उपयोग के लिए)

सामवेद—मासक, लाट्यायन, और द्राह्यायण कल्पसूत्र (उद्गातृ पुरोहित के उपयोग के लिए)

अथर्ववेद—कौशिक और वैतान कल्पसूत्र (ब्रह्मन् पुरोहित के उपयोग के लिए)

(ख) गृह्य सूत्र—ये स्मृति पर निर्भर हैं। ये सोलह संस्कारों[1]

---

१. यथा चौलकर्म, नामकरण, उपनयन, समावर्तन, विवाह इत्यादि।

(गर्भ स्थिति से मृत्यु पर्यन्त समय-समय पर होने वाले) और घरेलू जीवन में नित्य प्रति होने वाले हवन यज्ञों आदि का वर्णन करते हैं। इन का उच्चारण गृहस्थ के द्वारा स्वयं किया जाता है। श्रौत सूत्रों के पूर्व-ज्ञान को ये स्वीकृत करते हैं ; परन्तु ये उनके साथ परस्पर अपेक्षित नहीं हैं। इन का उद्देश्य मानव की धार्मिकता को जागरूक रखना और उसके सुख-दुःख को प्रभु-आश्रित करके उसके जीवन को सन्तोषी बनाना है। प्रत्येक वेद के अपने-अपने गृह्य सूत्र इस प्रकार हैं—

ऋग्वेद—आश्वलायन और शांखायन गृह्य सूत्र।
कृष्ण यजुर्वेद—आपस्तम्ब और मानव गृह्य सूत्र।
शुक्ल ,, (माध्यन्दिन शाखा)—पारस्कर गृह्य सूत्र।
सामवेद—गोभिल गृह्य सूत्र।
अथर्ववेद—कौशिक गृह्य सूत्र।

(ग) **धर्मसूत्र**—ये प्रायः भारतीय न्याय शास्त्र के प्राचीनतम स्रोत हैं। चारों वर्णों और चारों आश्रमों के परम कर्तव्यों का भी ये वर्णन करते हैं। जैसा कि धर्म शब्द से स्पष्ट है, इन का जीवन के प्रति दृष्टिकोण धार्मिक है। वेदों की स्वतः प्रामाण्यता को ये स्वीकार करते हैं और उन्हीं के आधार पर इनकी रचना हुई है। प्राचीन धर्मसूत्रों में आपस्तम्ब, गौतम, वासिष्ठ, बौधायन और विष्णु धर्मसूत्र का नाम उल्लेखनीय है। उत्तरकालीन धर्मसूत्रों में मनु, याज्ञवल्क्य और नारद के नाम प्रसिद्ध हैं। इन्हें प्रायः स्मृति कहते हैं।

(घ) **शुल्व सूत्र**—शुल्व सूत्रों में यज्ञ की वेदी को मापने और उस के निर्माण के लिए नियम दिये गए हैं। भारतीय रेखा गणित के बीज इनमें विद्यमान हैं।

वेदार्थ बोध के लिए छः वेदांगों का तुलनात्मक महत्व निम्न श्लोकों से अनुमानित किया जा सकता है—

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।
तस्मात् सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥[1]

अनुक्रमणियां

वेदों के मूलपाठ को विनाश अथवा परिवर्तन से बचाने के लिए अनुक्रमणियों ने महत्त्वपूर्ण काम किया है। ये प्रत्येक सूक्त के प्रथम शब्द का, उसके देवता का, उसके छन्द का, उसकी मन्त्र संख्या का तथा उसके कुल अक्षरों की संख्या का वर्णन करती हैं। उनके अध्ययन से पता चलता है कि ऋग्वेद में १०१७ सूक्त, १०,५८०½ मन्त्र, १५३,८२६ शब्द और ४३२,००० अक्षर हैं। प्रत्येक वेद की अलग-अलग अनुक्रमणियाँ हैं।

(क) ऋग्वेद—आर्षानुक्रमणी (ऋषियों की सूची), छन्दोऽनुक्रमणी (छन्दों की सूची), देवतानुक्रमणी (देवताओं की सूची), सूक्तानुक्रमणी (सूक्तों की सूची), पदानुक्रमणी (पदों की सूची), अनुवाकानुक्रमणी (अनुवाकों की सूची), बृहद् देवता (देवताओं की सूची, संबंधित उद्देश्यों सहित), ऋग्विधान (विशेष ऋचाओं की सद्यः फल प्राप्ति के लिए प्रयोग-विधि)—ये आठों ऋषि शौनक द्वारा रचित हैं। सर्वानुक्रमणी में यह आठों अनुक्रमणियां आ गई हैं। यह शौनक के शिष्य कात्यायन ऋषि द्वारा रचित है।

(ख) कृष्ण यजुर्वेद (तैत्तिरीय संहिता)—आत्रेय शिक्षा, और चारायणीय (अन्य नाम मन्त्र रहस्याध्याय)

(ग) शुक्ल यजुर्वेद (वाजसनेयी संहिता—माध्यंदिन शाखा) यजुर्वेदानुक्रणी (कात्यायन रचित)

---

१. पाणिनीय शिक्षा ४१. २.

(घ) सामवेद—आर्षेय ब्राह्मण, यद्यपि इस का नाम ब्राह्मण है, परन्तु वास्तव में यह अनुक्रमणी ही है।

(ङ) अथर्ववेद—बृहत् सर्वानुक्रमणी।

परिशिष्ट

सूत्रों की अपेक्षा परिशिष्टों की शैली कम संक्षिप्त है। उदाहरण चरण व्यूह (शौनक कृत) उल्लेखनीय है। इन में अनुष्टुभ् छन्द का प्राधान्य है। ये संख्या में प्रायः २० हैं और सभी सामवेद से संबंधित हैं।

परिशिष्ट २

पाश्चात्य जगत् में संस्कृत का प्रचार कैसे हुआ ?

(१) यद्यपि पञ्चतन्त्र की कथाएँ तथा आर्यों की विद्वत्ता के विषय में प्रसिद्ध कहानियाँ यूरोप में 'मध्यकाल'[1] में ही पहुँच चुकी थीं, तथापि इसे आर्यों की भाषा या संस्कृत के विशाल साहित्य का कुछ पता नहीं था। कुछ यूरोपियन प्रचारकों ने संस्कृत सीखी और अब्राहम रोजर (Abraham Roger) ने १६५१ ई० में भर्तृहरि के शतकों का डच भाषा में अनुवाद किया, परन्तु यूरोपियन लोग संस्कृत से तब भी पूर्ण अपरिचित रहे। किसी यहूदी प्रचारक ने १७ वीं शताब्दी में यजुर्वेद की एक बनावटी प्रति तैयार की। १८ वीं शताब्दी के मध्य में मिस्टर वाल्टेयर ने इसे ही असली यजुर्वेद समझ कर इसका बड़ा स्वागत किया। जब इस जालसाज़ी का पता लगा तब यूरोपियन विद्वान् लोग समझने लगे कि संस्कृत साहित्य ही नहीं, संस्कृत भाषा भी केवल एक बनावटी भाषा है जिसे सिकन्दर के आक्रमण के बाद ग्रीक भाषा की नक़ल पर ब्राह्मणों ने गढ़ लिया था। इस धारणा का समर्थन १९ वीं शताब्दी की चौथी दशाब्दी में डब्लिन के एक प्रोफ़ैसर ने बड़ी योग्यता के साथ किया था।

(२) संस्कृत साहित्य के महत्त्व को अनुभव करने वाला और भारतीयों के ऊपर उनके ही रीति-रिवाजों के अनुसार शासन करने की आवश्यकता को समझने वाला पहला अँग्रेज़ वारन हेस्टिंग्ज़ था। अपने विचारों को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए उसने प्रयत्न भी किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि १७७६ ई० में फ़ारसी-अनुवाद के

---

१. १००० से १४०० ई० तक, या अधिक विस्तृत अर्थ में ६०० से १५०० तक।

माध्यम द्वारा संस्कृत की क़ानूनी किताबों का एक सार-संग्रह अँग्रेज़ी भाषा में तैयार किया गया।

(३) वारन हेस्टिंग्ज़ की प्रेरणा से चार्ल्स विल्किंस ने संस्कृत पढ़कर १७८५ ई० में भगवद्गीता का और १७८७ ई० में हितोपदेश का इंग्लिश अनुवाद किया।

(४) विल्किंस के अनन्तर संस्कृत के अध्ययन में भारी अभिरुचि दिखाने वाला सर विलियम जोन्स (१७४६–९४ ई०) था। इसने १७८४ ई० में एशियाटिक सोसायटी आव् बंगाल की नींव डाली, १७८९ ई० में शकुन्तला नाटक का और थोड़े ही दिन बाद मनुस्मृति का इंग्लिश अनुवाद प्रकाशित किया। १७९२ ई० में इसने ऋतुसंहार का मूल संस्कृत पाठ प्रकाशित किया।

(५) इसके अनन्तर संस्कृत का प्रसिद्ध विद्वान् हेनरी टॉमस कोल्ब्रुक (१७६५–१८३७ ई०) हुआ। इसी ने सब से पहले संस्कृत भाषा और संस्कृत साहित्य के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग प्रारम्भ किया। इसने कतिपय महत्त्वशाली ग्रन्थों का मूलपाठ और अनुवाद प्रकाशित किया तथा संस्कृत साहित्य के विविध विषयों पर कुछ निबन्ध भी लिखे। बाद के विद्वानों के लिए इसकी प्रस्तुत की हुई सामग्री बड़ी उपकारिणी सिद्ध हुई।

(६) यूरोप में संस्कृत के प्रवेश की कहानी बड़ी कौतूहलजनक है। अलैग्ज़ांडर हैमिल्टन (१७६५–१८२४ ई०) ने भारत में संस्कृत पढ़ी। सन् १८०२ ई० में जब वह अपने घर जाता हुआ फ्रांस से गुज़र रहा था, इंग्लैण्ड और फ्रांस में फिर नए सिरे से लड़ाई छिड़ गई और वह बन्दी बना लिया गया। इस प्रकार बन्दी की दशा में पेरिस में रहते हुए उसने कुछ फ्रैंच विद्यार्थियों को तथा प्रसिद्ध जर्मन कवि फ्रैडरक श्लैगल (Friedrich Schlegel) को संस्कृत पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। यह कार्य युग-प्रवर्तक सिद्ध हुआ। १८०८ ई० में श्लैगल ने "ऑन् दि लैंग्वेज ऐंड विज़डम ऑव् इंडियन्ज़" (भारतीयों की भाषा

और विद्वत्ता) नामक अपना एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किया जिससे यूरोप में संस्कृत-विद्या के अध्ययन में एक क्रान्ति पैदा हो गई। इसी से धीरे-धीरे भाषा की विद्या के अध्ययन में तुलनात्मक रीति का प्रवेश हो गया। श्लैगल के ग्रन्थ से उत्साहित होकर जर्मन जिज्ञासुओं ने संस्कृत भाषा और इसके साहित्य के अध्ययन में बड़ी अभिरुचि दिखलानी शुरू कर दी। इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं कि यूरोप में संस्कृत सम्बन्धी जितना कार्य हुआ है उसका अधिक हेतु जर्मनों की विद्या-प्रियता है।

(७) १८१६ ई० में ऐफ़ बॉप (F. Bopp) ने ग्रीक, लैटिन, जर्मन और फ़ारसी सन्धिप्रकरण के साथ तुलना करते हुए संस्कृत के सन्धि-प्रकरण पर एक पुस्तक लिखी। इससे वहाँ तुलनात्मक भाषाविज्ञान की नींव पड़ गई।

(८) अब तक यूरोपियनों का संस्कृताध्ययन श्रेण्य (Classical) संस्कृत तक ही सीमित था। १८०५ ई० में कोल्ब्रुक का 'वेद' नामक निबन्ध प्रकाशित हो चुका था, अब जर्मन अधिक गम्भीरता से वैदिक ग्रन्थों का अध्ययन करने में लग गए। ईस्ट इण्डिया हाउस में वैदिक ग्रन्थ पर्याप्त संख्या में विद्यमान थे ही, बस ऐफ़ रोज़न (F. Rosen) नाक विद्वान् ने १८३० ई० के लगभग उन पर काम करना प्रारम्भ कर दिया। उसकी अकाल मृत्यु के थोड़े ही समय पश्चात् १८३८ ई० में उसका सम्पादित 'ऋग्वेद का प्रथम अष्टक' प्रकाशित किया गया।

(९) १८४६ ई० में प्रकाशित आर० रॉथ (R. Roth) के "वैदिक साहित्य और इतिहास" नामक ग्रन्थ ने यूरोप में वैदिक साहित्य के अनुशीलन को तेज करने में और अधिक सहायता प्रदान की। आर, रॉथ (१८२१–९५) स्वयं वैदिक भाषा-विज्ञान (Philology) की नींव डालने वाला था। उसका उदाहरण अन्य अनेक सरस्वती-सेवियों के मन में उत्साह की उमंगें पैदा करने वाला सिद्ध हुआ। वीऐना (Vienna) के प्रो० बूह्लर (Buhler) ने नाना देशों के लगभग तीस विद्या-विशारदों की सहायता के बल पर समग्र वैदिक और श्रेण्य संस्कृत-साहित्य का एक विशाल विश्वकोष प्रकाशित करने का बीड़ा

उठाया। १८८७ ई० में उसका परलोकवास हो जाने पर गोटिंजन (Gottingen) के प्रोफ़ेसर कीलहार्न (Kielhorn) ने इस परम वृहदाकार ग्रन्थ को पूर्ण करने का निश्चय किया।

(१०) ए० कुह्न (A. Kuhn) और मैक्समूलर (Max Muller) ने बड़े उत्साह और श्रम के साथ अपने अध्ययन का विषय वैदिक धर्म को बनाया। उनके अनुसन्धानों से तुलनात्मक पुराणविद्या (Mythology) के अनुशीलन की आधार-शिला का आरोपण हुआ।

(११) वर्तमान शताब्दी का प्रारम्भ होने तक यूरोपियन पण्डितों ने प्रायः सभी वैदिक और संस्कृत ग्रन्थों का सम्पादन तथा अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का अनुवाद कर डाला था। अब अगले अनुसन्धान के लिए क्षेत्र तैयार हो चुका था। तब से बहुत बड़ी संख्या में यूरोपियन विद्वान् बड़े परिश्रम के साथ भारतीय आर्यों के प्राचीन साहित्य आदि के अनुसन्धान में लगे हुए हैं। इन ख्यातनामा लेखकों[1] के लेखों का उल्लेख जहाँ-जहाँ उचित समझा गया है, इस पुस्तक में किया गया है। डेढ़ सौ वर्ष के अन्दर-अन्दर सम्पूर्ण वैदिक और लौकिक संस्कृत-साहित्य की, जो परिणाम में ग्रीक और लैटिन के संयुक्त साहित्य से बहुत अधिक है, छान-बीन कर डाली गई है। यद्यपि इतना घना काम हो चुका है तथापि अभी अनुसन्धान-कार्य के लिए बहुत विस्तृत क्षेत्र बाकी पड़ा है। भारतीय और यूरोपियन सरस्वती-सदनों में अभी अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की हज़ारों हस्तलिखित प्रतियाँ रक्खी हैं जिन पर बहुत सा मौलिक कार्य हो सकता है।

---

१. इनमें से कुछ प्रसिद्ध के नाम हैं—मैक्डॉनल (Macdonell), हॉप्किंस (Hopkins), हार्रविट्ज (Horrwitz), विंटर्निट्ज (Winternitz), पार्जिटर (Pargiter), ओल्डनबर्ग (Oldenburg), पीटर्सन (Peterson), हर्टल (Hertel), ऐजर्टन (Edgerton), रिजवे (Ridgeway), कीथ (Keith)।

परिशिष्ट ३

भारतीय वर्ण-माला का उद्भव

कई यूरोपियन विद्वान् मानते हैं कि प्रारम्भ में आर्य लोग लिखने की कला नहीं जानते थे, यह कला उन्होंने विदेशियों से सीखी थी। यूरोप में संस्कृताध्ययन के प्रारम्भिक युगों में यह धारणा जैसा कि बुह्लर ने कहा भी है, "अननुकूल परिस्थिति के दबाव से उपेक्षित भारतीय शिलालेखादि के विशेष अध्ययन पर इतनी अवलम्बित नहीं थी, जितनी एक तो इस सामान्य विचार पर कि भारतीय लिपि के कुछ वर्ण सैमाइट-वर्ग की लिपियों के वर्णों से अत्यन्त मिलते-जुलते हैं, दूसरे इस विश्वास पर, किसी किसी दशा में जिसका समर्थन स्पष्टतम साक्ष्यों से होता है, कि भारतीय आर्यों की सभ्यता का निर्माण अनेक और विविध-विध उपादानों से हुआ है जो सैमाइटवर्गीय, ईरानी और यूनानी इन तीन पश्चिमीय जातियों में से लिए गए हैं"। यह लेना किस प्रकार हुआ इस बात को स्पष्ट करने के लिए कई युक्तियाँ कल्पित की गई हैं[१]। इनमें सब से अधिक प्रसिद्ध युक्ति बुह्लर की है।

---

१. कुछ युक्तियाँ नीचे दी जाती हैः—

(१) प्रो० वेबर (Weber) के मत से भारतीय वर्णमाला सीधी प्राचीनतम फीनिशिया की वर्णमाला से ली गई है।

(२) डा० डीक (Deecke) का विचार है कि इसका जन्म असीरिया के फणाकार (Cuneiform) वर्णों से निकले हुए प्राचीन दक्षिणी सैमाइट वर्ण ही हिम्यैराइट (Himyarite) वर्णों के जन्म दाता हैं।

(३) डा० आइजक टेलर (Isaac Taylor) की सम्मति में

बुह्लर (Buhler) को युक्ति—बुह्लर की नजर से भारतीय वर्णमाला का जन्म उत्तरी सैमाइट वर्णमाला से अर्थात् फ़ीनिशियन वर्णमाला से हुआ था और इसका व्युत्पादन हुआ था उत्तर पूर्वी सैमाइट वर्णमाला के ऊर्ध्वकालीन नमूनों के किसी एक नमूने में से। बुह्लर के अनुमान का आधार वक्ष्यमाण धाराएँ हैं :—

(१) एक वर्णमाला की उत्पत्ति मिस्र देश की चित्राकार लिपि (Heiroglyphics) से हुई थी, और

(२) ब्राह्मी लिपि प्रारम्भ में दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखी जाती थी। एरन (Eran) के सिक्के से सिद्ध होती है।

इन धारणाओं के समर्थन के लिये उसने निम्नलिखित साक्ष्य ढूँढ़े हैं—

(१) जातकों और महावग्ग इत्यादि में आए हुए 'लिखने के' उल्लेख,

(२) अशोक के शासनों में आए हुए प्राचीन लेख सम्बन्धी तथ्य;

(३) ईरानी मुद्राओं पर भारतीय वर्ण,

इसकी जननी दक्षिणी अरब देश की एक वर्णमाला है जो हिम्यैराइट वर्णमाला की भी जननी है।

(४) एम० जे० हैलेवि (M. J. Halevy) का कथन है कि यह वर्णमाला वर्णसङ्कर है अर्थात् कुछ वर्ण ई० पू० चौथी शताब्दी की उत्तरी सैमाइटवर्ग की वर्णमाला के हैं, कुछ खरोष्ठी के और कुछ यूनानी के। कहा जाता है कि यह खिचड़ी ५२५ ई० पू० के आसपास पक कर तैयार हुई थी।

दूसरी ओर सर ए० कनिंघम (Sir A. Cunningham) कहते हैं कि भारतीय (जिसे पाली और ब्राह्मी भी कहते हैं) वर्णमाला भारतीयों की उपज्ञा है और इसका आधार स्वदेशीय चित्राकार लिपि विज्ञान (Heiroglyphics) है।

(४) एरन (Eran) सिक्के के बारे में प्रचलित उपाख्यान, और
(५) भट्टिप्रोलु (Bhattiprolu) का शिलालेख।

इन सब बातों से डा० बुह्लर ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि भारतीय वर्णमाला का मूल-जन्म होना ई० पू० चौथी शताब्दी से पूर्व ही प्रारम्भ हुआ (यही अनुमान इससे पूर्व मैक्समूलर द्वारा प्रकट किया जा चुका था); सम्भवतया ई० पू० का यह काल छठी शताब्दी (ई० पू०) था और भारतीय वर्णमाला का अभिप्राय ब्राह्मी वर्णमाला है।

फ़ीनिशिया की वर्णमाला ८५० ई० पू० से पहले भी विद्यमान थी यह बात सिंजिरली (Sinjirli) के शिलालेख से और असीरिया के बाटों (weights) पर खुदे हुए अक्षरों से अच्छी तरह प्रमाणित होता है। उक्त महोदय ने फ़ीनिशियन और ब्राह्मी दोनों वर्णमालाओं की तुलना करके मालूम किया है कि ब्राह्मी वर्णमाला फ़ीनिशियन (Phoenician) वर्णमाला से निकाली गई है[१]। वर्णों का रूप बदलने में जिन विधियों से काम लिया गया है बुह्लर ने उन्हें भी निश्चित करने का प्रयत्न किया है, उदाहरणार्थ वर्णों के सिर पैरों की ओर कर दिये गये हैं, दाईं ओर से बाईं ओर को लिखने की रीति को उलट कर बाईं ओर से दाईं ओर को लिखने की रीति चलाई गई है, वर्णों के सिर पर की अङ्ग-विस्तृति को मिटा दिया गया है।

पहले पहल तो बुह्लर का मत बिल्कुल सम्भव जान पड़ा और

---

१. बुह्लर का प्रयत्न यह सिद्ध करने के लिए नहीं है कि ब्राह्मी वर्णमाला अवश्य विदेशी चीज है या भारतीय विद्वानों की प्रतिभा से इसकी उत्पत्ति होने की सम्भावना ही नहीं हो सकती है। यह अंगीकार करके कि इस वर्णमाला का जन्म विदेशी तत्त्वों से भी होना सम्भव है, उसने केवल उस विधि को समझाने की चेष्टा की है जिसके द्वारा इसका जन्म शायद हुआ हो।

विद्वान् लोग इसकी ओर आकृष्ट भी होने लगे; परन्तु शीघ्र ही ऊर्ध्व-कालीन अनुसन्धानों ने इसे अग्राह्य बना दिया।

बुह्लर के मत से विप्रतिपत्तियाँ—(क) जिन धारणाओं पर बुह्लर ने अपने मत को खड़ा किया था, अब उन धारणाओं का ही विरोध किया जाने लगा है। अब फ्लिंडर्स पैट्री (Flinders Petrie) ने अपने "वर्णमाला का निर्माण" नामक ग्रन्थ में दिखलाया है कि वर्ण-माला की मूलोत्पत्ति चित्राकार (Heiroglyphics) लिपि के रूप में नहीं, बल्कि प्रतीक चिह्नों (Symbols) के रूप में जाननी चाहिए। हमारे लिए यह मानना कठिन है कि प्रारम्भिक मनुष्य में इतनी बुद्धि और निपुणता थी कि वह अपने विचारों को चित्र खींच कर प्रकाशित कर सकता था (यह बात तो उन्नत सामाजिक अवस्था में ही सम्भव है)। प्रारम्भिक मनुष्य के बारे में हम केवल इतना ही मान सकते हैं कि वह पतित, उत्थित, ऋजु, वक्र इत्यादि रेखाएँ खींचकर इन संकेतों से ही अपने मन के भाव प्रकट कर सकता होगा।

(ख) अब लीजिए दूसरी धारणा। किसी एक सिक्के का मिल जाना इस बात का पर्याप्त साधक प्रमाण नहीं है कि प्रारम्भ में यह लिपि दाईं से बाईं ओर को लिखी जाती थी। ऐसा ही उन्नीसवीं शताब्दी के होल्कर के तथा इसके बाद के आन्ध्रवंश के शिला-लेख की प्राप्ति[1] से अब पता लगता है कि वे सिक्के जिन पर ब्राह्मी लिपि दाईं से बाईं ओर को लिखी हुई है, सिक्के नहीं, शिलालेखों को अङ्कित करने के

---

१. इन्दौर के एक सिक्के पर, जिस पर विक्रम संवत् १९४३ दिया है, "एक पाव आना इन्दौर" ये शब्द उल्टे खुदे हुए हैं। एक और पुरानी मुद्रा पर "श्री स्सपकुल" इन शब्दों में "श्री" तथा "प" उल्टे खुदे हुए हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य मुद्राओं पर भी उल्टे खुदे हुए वर्ण देखने में आए हैं।

लिए वस्तुतः मुद्रा (Stamps) हैं, अतः उनके ऊपर वर्णों का विपर्यस्त दिशा में खुदा होना स्वाभाविक ही है।

(ग) यह बात भी याद रखने योग्य है कि एरण (Eran) वाले सिक्के से भी प्राचीनतर भट्टिप्रोलु के लेखों में लिपि की दिशा बाईं से दाईं ओर को है।

(घ) डा० बुह्लर की पूर्वोक्त धारणाओं[1] को जैसे चाहे वैसे लगा सकते हैं। ये धारणाएं पूर्वोक्त वर्णमालाओं में न तो अत्यन्त साम्य ही

---

१. डा० बुह्लर ने भट्टिप्रोलु के लेख में एरण (Eran) के सिक्के पर और अशोक के शासनों में पाए जाने वाले—प्राचीनतम—भारतीय लिपि के अक्षरों की तुलना प्राचीनतम सैमिटिक उत्कीर्ण लेखों में तथा असीरियन बाटों (Weights) में उपलब्ध चिह्नों के साथ की है। इस तुलना के बाद उसने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि प्राचीन ब्राह्मी लिपि के चवालीस अक्षर सैमिटिक चिह्नों के अन्दर मिल सकते हैं और सैमिटिक के सम्पूर्ण बाइस अक्षरों के प्रतिनिधि या अग्रज इस लिपि में मौजूद हैं। इस लिपि के निकालने वालों ने अपने निर्माण का एक नियम निश्चित करके, सीधी चलनेवाली रेखा के अनुकूल चिह्न कल्पित करने की इच्छा से विवश होकर और सब महाशिरस्क अक्षरों से कुछ ग्लानि होने के कारण कुछ सैमिटिक अक्षरों को उल्टा कर दिया या उन्हें करवट के बल लिटा दिया और सिर के त्रिकोणों या द्विकोणों को बिलकुल हटा दिया। ब्राह्मी लिपि की असली दिशा दाईं से बाईं ओर को थी, जैसा कि डा० बुह्लर ने एरण (Eran) के सिक्के की सहायता से सिद्ध करना चाहा है, बाद में जब दिशा बदली गई तब अक्षर भी दाईं से बाईं ओर को बदल दिये गए। व्युत्पादन के ये नियम निश्चित करके उक्त डाक्टर महोदय ने एक-एक सैमिटिक अक्षर लिया है, इससे समानता रखने वाले ब्राह्मी अक्षर के साथ इसकी तुलना की है और तब यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार असली

सिद्ध करती हैं और न अन्योन्य अभेद (Mutual identity)। वह स्वयं भी अपने ही माने हुए सिद्धान्तों पर सब अवस्थाओं में दृढ़ नहीं रहता। जैसा कि एक बहुश्रुत लेखक ने इंग्लिश विश्वकोष में लिखा

अक्षर मे हेर-फेर करके नकली अक्षरों का रूप-रंग चमकाया गया है। कुछ उदाहरण लीजिए :—

(१) सैमिटिक 'त्सदे' (Tsade) को पहले उलटा कर दिया, दाहिनी ओर की छोटी रेखा को सीधी खड़ी रेखा की ओर मुँह करके घुमा दिया। बाद में, इस सीधी खड़ी रेखा को बाईं ओर घुमा दिया और दिशा भी बदल दी। बस 'व' बन गया, यही 'व' भट्टिप्रोलु के लेख मे 'च' पढ़ा जाता है। अर्थात् भट्टिप्रोलु में 'च' का यही रूप है।

(२) सैमिटिक 'नन्' (nun) को पहले उलटा किया। बाद में, अक्षर को जल्दी मे लिखने के प्रयोजन से सीधी खड़ी रेखा के पैर के नीचे दोनों ओर को जाती हुई पतित रेखा खींच दी। इस प्रकार ⊥ (=ब्राह्मी 'न') बन गया।

इस रीति से डाक्टर बुह्लर ने पहले तो सब बाईस सैमिटिक अक्षरों के प्रतिनिधिभूत बाईस ब्राह्मी अक्षर खोज निकाले हैं, फिर इन बाईस में से किसी को स्थानान्तरित करके, किसी को छेत-पीट कर, या किसी में वक्र, किसी में अपूर्ण वृत्ताकार रेखाएँ जोड़कर बनाए हुए 'व्युत्पादित' अक्षरों के विकास को समझाया है। तात्पर्य यह है कि उसने ब्राह्मी के चवालीस के चवालीस अक्षरों का सम्बन्ध सैमिटिक के आदर्शभूत बाईस अक्षरों से यथा कथंचित् जोड़ दिया है।

अब रही बात कि भारतीयों ने यह काम किया कब ? सैमिटिक उत्कीर्ण लेखों, मैसा (Messa) के पत्थर तथा असीरियन (Assyrian) बाटों (weights) के समय को देखते हैं तो भारतीयों के इस काम का काल ८९० ई० पू० और ७५० ई० पू० के बीच मालूम होता है, सम्भवतया "७५० ई० पू० की ओर ही अधिक हो।" इसके बाद उक्त डाक्टर महोदय ने उस पुराने काल का निश्चय करने का यत्न किया है

है, उसके सिद्धान्तों के अनुसार तो किसी भी वर्णमाला से किसी भी वर्णमाला का व्युत्पादन किया जा सकता है। फिर डा० बुह्लर के व्युत्पादन की रीति में कई बातें असमाहित रह जाती हैं। उनमें से कुछ एक यहाँ दी जाती हैं :—

(१) ग 'ꓵ', ज 'ᕮ' और क '+' के सिर पर की विशालता।

(२) ब्राह्मी के क '+' का सैमिटिक ता (Taw) '+' के साथ अभेद। यदि सैमिटिक वर्णमाला का 'λ' यह अक्षर भारतीय लोग 'क' के रूप में ले सकते थे तो उन्होंने सैमिटिक ता (Taw) '+' को अपनी (ब्राह्मी) लिपि में 'λ' इस रूप में विकृत क्यों किया? ब्राह्मी के '+' इस अक्षर को ही सैमिटिक ता (Taw) '+' का स्थानापन्न क्यों न रहने दिया और सैमिटिक के एक और 'λ' इस अक्षर को ब्राह्मी का 'क' क्यों न बनाया गया, इत्यादि[१]।

जिसमें भारतीय लोग व्यापार करने के लिए समुद्र के मार्ग से फ़ारिस की खाड़ी तक जाया करते थे; क्योंकि डाक्टर महोदय का विचार है कि सैमिटिक लिपि भारत में (Messopotamia) के मार्ग से पहुँची होगी। आगे चलकर वे कहते हैं कि महत्त्वपूर्ण अक्षर असली या बहुत कम परिवर्तित रूप में व्यापारियों ने अपने हाथ मे ही गुप्त रक्खे। बाद में वे ब्राह्मणों को सिखा दिये गये और ब्राह्मणों ने उनको विकसित करके ब्राह्मी लिपि का आविष्कार कर डाला। परन्तु अक्षरों को विकसित रूप देने में कुछ समय लगा होगा। भट्टिप्रोलु के लेख से अनुमान होता है कि कई अक्षरों के रूपों मे कई बार परिवर्तन हुआ है। सारा विकास अवश्य एक क्रम से हुआ होगा जिसके लिए हम काफी समय मान लेते हैं। इस तरह इस लिपि के विकास की समाप्ति ५०० ई० पू० में हो चुकी होगी।

१. ब्राह्मी की उत्पत्ति सैमिटिक वर्णमाला से नहीं हुई, इस विचार की पोषक कुछ और युक्तियाँ ये हैं :—

(३) इस सिद्धान्त में यह बात भी स्पष्ट नहीं की गई कि प्रारम्भ में नहीं, तो बाद में लिखने की दिशा क्यों बदली गई। वर्णमाला के स्वभाव में यह बात देखी जाती है कि यह जिधर से जिधर को आविष्कार के काल में लिखी जाती थी बाद में भी उधर से ही उधर को लिखी जाती रही। दिशा बदलना नए आविष्कार से कम कठिन काम नहीं है। उदाहरणार्थ दशम-लव लगाने की रीति भारत में आविष्कृत हुई थी। प्रारम्भ में यह बाईं से दाईं ओर को लगाया जाता था। जब इसे सैमाइट वर्ग के देशों ने ग्रहण कर लिया तब भी इसके लगाने की रीति बाईं से दाईं ओर को ही रही। इसी प्रकार खरोष्ठी के लिखने की रीति भी आज तक नहीं बदली है, [यह दाईं से बाईं ओर को लिखी जाती है]।

(४) बुह्लर ने सन्दिग्ध साध्य को सिद्ध पक्ष मान कर प्रयत्न किया। उसने यह मान लिया था कि ग्रीक लिपि फ़ीनिशियन (Phoenician) लिपि से निकली है। परन्तु आज तो इस सिद्धान्त पर भी संदेह हो रहा है।

(५) यदि यह मानें कि एक जाति ने अपनी वर्णमाला दूसरी जाति की वर्णमाला से निकाली है तो यह मानना पड़ेगा कि उन दोनों जातियों का परस्पर मिलना-जुलना, एक दूसरे के यहां आना-जाना हुआ करता था। परन्तु अभी तक इसका प्रमाण भी नहीं मिल सका है। सम्भवतः इस प्रकार का मेल-जोल कभी हुआ भी होगा तो समुद्र तट-

---

(क) एक ही ध्वनि के व्यंजक वर्ण दोषों वर्ण-लिपियों में परस्पर नहीं मिलते हैं (ख) भिन्न-भिन्न वर्णों की प्रतिनिधिभूत ध्वनियों में परस्पर भेद है। जैसे; ब्राह्मी ग किन्तु सैमिटिक गिमेल (gimel)। (ग) सैमिटिक वर्णमाला में मध्यवर्ती (medial) स्वरों के लिए कोई चिह्न नहीं है और न उसमें ह्रस्व-दीर्घ का ही भेद अंगीकृत है।

वास्तव्य जातियों का हुआ होगा। अतः यदि भारतीय लिपि कभी किसी दूसरी जाति की लिपि से निकाली हुई हो सकती है, तो दक्षिणी सैमिटिक जातियों की लिपि से निकाली हुई हो सकती है, परन्तु डा० बुह्लर ने इसका प्रत्याख्यान किया है।

(६) हैदराबाद राज्य के अन्दर प्रागैतिहासिक टीलों की खुदाई ने वर्णमाला को इतिहास के आश्रय से निकाल कर प्रागैतिहासिक काल में पहुँचा दिया है। वस्तुतः ऐसा ही होना भी चाहिये। कुछ युक्तियों के बल पर विश्वास करना पड़ता है कि वर्णमाला का जन्म प्रारम्भिक मनुष्य के जीवन काल में और अंगोपचय बाद में हुआ होगा इस संबंध में नीचे लिखी कुछ बातें ध्यान देने योग्य हैं :—

(क) हैदराबाद राज्य के टीलों में से निकले हुए मिट्टी के बर्तनों की बनावट ऐसी है जो १५०० ई० पू० से पहली ही होनी चाहिये।

(ख) मद्रास के अजायबघर में रखे हुए मिट्टी के कुछ बर्तन उत्तर पाषाणयुग के हैं जो २००० ई० पू० से पहले ही होनी चाहिएं।

(ग) अनन्तरोक्त बर्तनों पर कुछ चिह्न मध्यवर्ती स्वरों के भी, कम से कम पांच चिह्न, प्राचीनतम ब्राह्मी लिपि के वर्णों से बिलकुल मिलते हैं।

(घ) ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें कुछ चिह्न मध्यवर्ती स्वरों को भी प्रगट करने के लिए मौजूद हैं। उदाहरणार्थ ओ-कार तथा इ-कार के लिए भी चिह्न मिलते हैं।

अतः यदि हम भारत के प्रागैतिहासिक मृण्मय पात्रों पर अङ्कित संकेतों को ब्राह्मी लिपि के अक्षरों का पूर्वरूप मानें तो यह बिल्कुल युक्ति-संगत होगा।

(७) इन बर्तनों पर रचयिता के नाम के प्रारम्भिक वर्ण को प्रकट करने वाले एक एक अक्षर भी देखे जाते हैं। इस प्रकार लिखने की

रीति मिस्र और यूरोप में भी प्रचलित थी और यह भारतीयों को भी अविदित नहीं थी। इस बात से भी ब्राह्मी लिपि इतिहास से पूर्व समय में विद्यमान सिद्ध हो जाती है।

(८) भारतीय अजायबघर (Indian Museum) के प्रागैतिहासिक प्राचीन पदार्थों के संग्रह में उत्तरपाषाण युग के दो पाषाणखण्ड पड़े हैं। उनका उत्तरपाषाणयुगीय होना निर्विवाद है। उन पर एक नहीं अनेक अक्षर अङ्कित हैं। उनमें से एक पाषाणखण्ड पर म्, आ, त् ये तीन अक्षर मिलाकर अङ्कित हैं। दूसरे पाषाणखण्ड पर चार अक्षर हैं। ये अक्षर ब्राह्मी वर्णमाला के वर्णों से पूर्णतया मिलते हैं।

(९) साहित्य के साक्ष्य से भी हमारे सिद्धान्त का समर्थन होता है :—

(क) इकार उकार इत्यादि का वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् में पाया जाता है। यथा; अग्निरिकारः।

(ख) ऐतरेय आरण्यक में शब्दगत सन्धि की विधि वर्णित है।

(ग) शतपथ ब्राह्मण में भिन्न भिन्न वेदों के पदों की सङ्कलित संख्या और काल का लघुतम भाग (एक सेकण्ड का सत्रवां भाग) निरूपित है। यह कार्य लिपिकला के ज्ञान के विना सम्भव नहीं था।

(घ) ऋग्वेद में अष्टकर्णा गौ (वह गौ जिसके कानों पर आठ का अंक अंकित हो) इत्यादि का वर्णन है।

(ङ) आर. रॉथ (R. Roth) ने ठीक ही कहा है कि वेदों की लिखित प्रतियों के बिना कोई भी व्यक्ति प्रातिशाख्यग्रन्थों का निर्माण नहीं कर सकता था।

(च) वैदिक काल में अत्यन्त ऊँची संख्याएँ व्यवहार में लाई जाती थीं, व्याकरणशास्त्र का विकास बहुत प्राचीन काल में ही काफी ज्यादा

हो चुका था, (यह बात लिपिकला के आविष्कार के बाद ही हुई थी पहले नहीं), जुए के पासों तथा पशुओं के ऊपर संख्या के अंक डालने के उल्लेख मिलते हैं। इन सब बातों से प्रमाणित होता है कि भारतीयों को लिपिकला का अभ्यास बहुत प्राचीन समय से था।

मौखिक अध्यापन की रीति से हमारे मत का प्रत्याख्यान नहीं हो सकता, कारण, वैदिक मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण की शिक्षा के लिए ऐसा होना अपरिहार्य था।